रवीन्द्र संगीत

शान्तिदेव घोष

अनुवाद

मदनलाल व्यास

विश्वभारती ग्रन्थन विभाग, कलकत्ता प्रकाशन से बंगला मे
प्रथम संस्करण ७ पौष १३४९ बगाब्द (ई० १९४२)
षष्ठ सस्करण वैशाख १३९४ बंगाब्द-१९०२ (ई० १९८७)

ISBN : 81-7119-451-6

रवीन्द्र संगीत

प्रथम हिन्दी सस्करण 1999

मूल्य · 450.00 रुपए

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
2/38, असारी मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110 002

आवरण-चित्र
नदलाल बसु
आवरण-संयोजन
रा कृ प्र कला विभाग
मुद्रक
एस. एन प्रिटर्स , नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

RAVEENDRA SANGEET
by Shantidev Ghosh

पितृदेव के श्रीचरणों
में
उत्सर्ग

ওঁ শান্তিনিকেতন

কল্যাণীয়েষু শান্তি,

কেবল দুটি উপদেশ আমার আছে। এই আশ্রমেই তুই মানুষ। সিনেমা প্রভৃতির সংস্পর্শে কোনো গুরুতর লোভেও নিজেকে যদি অশুচি করিস তাহলে আমার প্রতি ও আশ্রমের প্রতি অপমানের কলঙ্ক দেওয়া হবে।

দ্বিতীয়, আমার গানের সঞ্চয় তোর কাছে আছে - বিশুদ্ধ ভাবে সে গানের প্রচার করা তোর কর্তব্য হবে। আমি তোর পিতার পিতৃতুল্য, আশা করি আমার উপদেশ মনে রাখবি।

ইতি ২১।১।৪১

শুভার্থী
রবীন্দ্রনাথ

লেখকের কাছে গুরুদেব রবীন্দ্রনাথের একটি চিঠি

लेखक के पास गुरुदेव का पत्र

हिन्दी रूपान्तर

कल्याणीय शान्ति,

मेरे केवल दो उपदेश हैं। इस आश्रम मे तू बडा हुआ है। सिनेमा इत्यादि के सस्पर्श मे कोई गुरुतर लोभ होने पर भी यदि तू अपने को अपवित्र करेगा तो मेरे प्रति और आश्रम के प्रति कलक-कार्य करेगा।

दूसरा—मेरे गानो का सचय तेरे पास है, विशुद्ध भाव से उन गानो का प्रचार करना तेरा कर्त्तव्य है।

मै तेरे पिता के पिता के समान हूँ। आशा करता हूँ, मेरा उपदेश तू स्मरण रखेगा।

इति-२१-१-१९४१

शुभार्थी
रवीन्द्रनाथ

भूमिका

पूजनीय गुरुदेव के गान के विषय मे पुस्तक लिखकर प्रकाशित करने की इच्छा तीन वर्ष पूर्व भी मेरे मन मे एक बार भी जाग्रत नहीं हुई। बाल्यकाल से मै मन की मौज से, आनन्द से गायन ही करता रहा हूँ, किसी दिन मैंने सोचा भी नहीं था कि एक दिन मुझे इस प्रकार का काम करना पडेगा। जब पहली बार गुरुदेव के गान के विषय मे लिखने के लिए कहा गया, तब बडे सकोच के साथ लिखना शुरू किया था। रवीन्द्र-सगीत के सम्बन्ध मे एक सक्षिप्त निबन्ध लिखकर मैंने भारी सकोच के साथ उसे पूजनीय गुरुदेव के समक्ष प्रस्तुत किया था, मेरी इस प्रचेष्टा का परिचय पाकर वे आनन्दित हुए एव मेरा निबन्ध पढकर अपना मतामत लिख दिया। उनका यह मत ही मेरे लेखन के लिए प्रेरणास्पद रहा और इसीलिए आज यह ग्रथ पूर्ण हो सका। किन्तु जिस कार्य का आरम्भ वे देख गए, वही कार्य समाप्त कर उनके सम्मुख रख नही सका, उसी का आज मुझे दु ख है।

एक-एक प्रबन्ध लिखते-लिखते जैसे यह लेखन-कार्य बढने लगा, रवीन्द्र-गोन का वैचित्र्य और वैशिष्ट्य अनुभव कर मैं स्वय भी आश्चर्यचकित होने लगा, क्योकि इस सगीत की गति विविध दिशाओ की ओर है, इन सब विभिन्न दिशाओ, मार्गो का परिचय न होने पर गुरुदेव के गान को सगीतज्ञो की दृष्टि से समझा नहीं जा सकेगा। अब तक हमने उनके सगीत की काव्य की दृष्टि से ही अधिक आलोचना की है। इसीलिए हम यह विचार नही करते कि उनकी गान-रचना से भारतीय सगीत के क्षेत्र मे किस प्रकार का नूतनत्व आया है। भारत मे युग-युग मे राग-रागिनी का रूप-परिवर्तन हुआ है, गुरुदेव के द्वारा भी ऐसा हुआ है। भाषा और 'सुर' (स्वर-समष्टि) का एकत्व बगला-गान का अपना वैशिष्ट्य है, गुरुदेव ने भी स्वभावत उसी पथ का अवलम्बन किया है। किन्तु इन गानो के माध्यम से गुरुदेव ने शब्द (काव्य) के साथ सुर और छन्द के सयोजन से देश को जो दिया है, उसकी व्यापक आलोचना आज तक नहीं हुई है। साधारणत इतना ही ज्ञात है कि गुरुदेव के गानो मे शब्द (काव्य) और 'सुर' (स्वर-समष्टि या धुन) का मिलन अपूर्व हुआ है और उन्होने भारतीय राग-रागिनियो को मुक्ति का मार्ग दिखाया है। किन्तु इस विषय मे विस्तृत धारणा स्पष्ट नहीं है, अत इस विषय को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास मैने किया है। इस प्रसग मे मैने यह बताने की भी चेष्टा की है कि उनकी रचना का नूतनत्व और वैचित्र्य किस प्रकार का है।

मैंने अनुभव किया है कि गुरुदेव के गान की आलोचना करते समय समग्र रूप से भारतीय सगीत के सम्बन्ध मे ज्ञान होना आवश्यक है। भारतवर्ष के उत्तर एव दक्षिण दोनो भागो

के सगीत का परिचय जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार कीर्तन और लोकसगीत का परिचय प्राप्त किए बिना काम चल नहीं सकता। इस सगीत की आलोचना करते समय मैं पहली बार जान सका कि प्राचीन भारतीय सगीत केवल रोदन या वेदना का गान ही नहीं, बल्कि उससे वीर्य का सुर भी सुनाई देता है। ताल के विषय मे विश्लेषण करते समय मैंने अनुभव किया कि जिस प्रकार उत्तरभारतीय और दक्षिणभारतीय सगीत की ताल-पद्धतियो का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार कविता के छन्द के साथ घनिष्ठ परिचय न होने पर मुश्किल हो सकती है। मैने यह भी अनुभव किया कि गुरुदेव भारतीय सगीत के विद्रोही नहीं, बल्कि उसके बडे भक्त थे।

बगाल के सगीत के गाने का ढग कैसा है या किस प्रकार का होना उचित है, इसे लेकर आजकल कई प्रकार की बाते आधुनिक बगला-गान की गायक मण्डली मे सुनी जाती है। इनमे जो बात मुझे अस्वाभाविक लगती है वह यह है कि गान मे माधुर्य या मिठास लाने के लिए मृदु कष्ठ से गाना ही उचित है। वे यह बात नही जानते कि मृदु कण्ठ से गान करना गायकी-रीति की दृष्टि से बडी दुर्बलता है। गुरुदेव के गान गानेवालो मे से कइयो मे वही दुर्बलता प्रबल रूप से सामने आयी है। यहॉ तक कि, कई लोगो की धारणा है कि उनके गान ही मृदु कण्ठ को विशेष प्रश्रय देते हैं। मैं ऐसा मानता हूँ कि इन सब बातो से विचार-विश्लेषण का अभाव ही प्रकट होता है। स्वय गुरुदेव के कण्ठ से उनके गान बाल्यकाल से सुनता आ रहा हूँ। और दिनेन्द्रनाथ के कण्ठ से गुरुदेव के गान शान्तिनिकेतन के किस तत्कालीन छात्र ने नही सुने है! उन दोनो के उच्च उदार कठस्वर का स्मरण होते ही मै यह सोचकर विस्मित हो जाता हूँ कि इस प्रकार का पुरुषोचित कठस्वर आज सुनायी क्यो नहीं देता! फिर यह बात भी कोई नहीं कह सकता कि दोनो के कठ से गान का माधुर्य किसी प्रकार क्षुण हुआ है। गायन मे जनानापन गुरुदेव कभी पसन्द नही करते थे। स्त्रियो के कण्ठ से अपने गान सुनना वे पसन्द करते थे, किन्तु पुरुष-कण्ठ मे पुरुषोचित वीर्य का अभाव जब भी उन्होंने अनुभव किया है, वे अस्थिर हो उठे है। इसके अलावा उनके कई ओजपूर्ण गान हैं, उच्चारण की स्पष्टता, छन्द के वजन और गति की सहायता से उन्हे ठीक ढग से प्रस्फुटित न कर सकने पर गान का प्रकृत रस और रूप प्रकट नही होता।

इस लेखन को पुस्तकाकार मे प्रकाशित करने मे जिन व्यक्तियो का सहयोग मिला है, उनके प्रति आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ और यह भूमिका समाप्त करता हूँ।

पुस्तक के प्रच्छद और रवि-बाउल का चित्र हमारे पूजनीय शिल्पाचार्य श्रीयुत् नन्दलाल बसु ने अकित किया है। शिशुकाल से ही मै उनके स्नेह की छाया मे बडा हुआ हूँ, इन दो चित्रो के द्वारा उन्होने यही आशीर्वाद दिया है कि मेरी यह प्रचेष्टा सफल हो। श्रीयुक्ता इन्दिरादेवी से मैंने गुरुदेव के पुरातन गान के सम्बन्ध मे कई महत्त्वपूर्ण तथ्य सग्रह किए है, इस ग्रन्थ को सर्वांग सुन्दर बनाने के उद्देश्य से उन्होंने बडा परिश्रम कर इसमे सशोधन किया है। श्रीयुत् अमिय चक्रवर्ती और श्रीयुत् धूर्जटिप्रसाद मुखोपाध्याय महाशय से इस लेखन के विषय मे जिस प्रकार आरम्भ से ही मुझे प्रोत्साहन मिला, वह मेरा सौभाग्य

है। हमारे पुरातन प्राध्यापक पण्डित श्रीयुत् निताई विनोद गोस्वामी ने इस लेखन को धैर्य के साथ पढा और विभिन्न दृष्टिकोणो से अपना मतामत व्यक्त कर इसे त्रुटिहीन करने की चेष्टा की। शान्तिनिकेतन ग्रन्थागार के अध्यक्ष श्रीयुत् प्रभातकुमार मुखोपाध्याय और बन्धुवर प्राध्यापक श्रीयुत् निर्मलचन्द्र चट्टोपाध्याय, श्रीयुत् पुलिनबिहारी सेन, श्रीयुत् कानाई सामन्त, श्रीयुत् विनोदबिहारी मुखोपाध्याय और श्रीमती अमलादेवी ने विविध प्रकार से मेरी सहायता की है। मेरे भ्राता श्रीमान् सागरमय घोष के उत्साह एव उपक्रम से ये रचनाएँ शीघ्र लिपिबद्ध की जा सकीं।

विश्वभारती ग्रन्थन विभाग के कर्तृपक्ष ने मेरी इस पुस्तक के प्रकाशन का भार ग्रहण किया, उनके प्रति मै भारी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

पौष १३४९ (ई १९४२)

— शान्तिदेव घोष

द्वितीय सस्करण की विज्ञप्ति

रवीन्द्र-सगीत के द्वितीय सस्करण मे कई परिवर्तन-परिवर्धन किए गए है—कई अध्याय पूर्णतया नये ढ्ग से लिखे गये है। इस कार्य मे मुझे श्रीयुत् व्रजेन्द्रकिशोर, रायचौधुरी, डॉक्टर अभियनाथ सान्याल, श्रीयुत् प्रभातकुमार मुखोपाध्याय, श्रीयुत् खगेन्द्रनाथ मित्र श्रीयुत् धूर्जटिप्रसाद मुखोपाध्याय, श्रीयुत् निताईविनोद गोस्वामी, श्रीयुत् वीरेन्द्रकिशोर रायचौधुरी श्रीयुत् अनादिकुमार दस्तीदार, श्रीयुत् सुधीरचन्द्र कर, श्रीयुत् कानाई सामन्त, श्रीयुत् पुलिनबिहारी सेन प्रभृति ने विभिन्न प्रकार से विशेष सहायता की है। इसके अलावा मुद्रण के विषय मे श्रीयुत् सुधीर राय, श्रीमती इला घोष श्रीयुत् सुशील राय और श्रीयुत् जितेन्द्रनारायण् सेन से भी विविध प्रकार की सहायता मिली है। उन सभी के प्रति मै आन्तरिक कृतज्ञता और धन्यवाद प्रकट करता हूँ।

सुधी पाठको से मेरा यह निवेदन है कि इस ग्रन्थ मे आलोचित किसी भी विषय के सम्बन्ध मे किसी के मन मे किसी प्रकार का सशय या प्रश्न जाग्रत हो, तो वह मुझे लिखे तो मैं अपने को उपकृत समझूँगा।

आश्विन, १३५६ (ई १९४९)

— शान्तिदेव घोष

तृतीय सस्करण की विज्ञप्ति

रवीन्द्र-संगीत के वर्तमान तृतीय सस्करण मे 'बाउल गान' अध्याय निकाल दिया गया है और छ. अध्याय—यथा भारतीय संगीत मे गुरुदेव का स्थान, देशी सगीत का प्रभाव, गान

का विषय—वैवित्र्य और कलिविभाग, ऋतुसगीत, नेपथ्य एव गीतनाट्य का वैचित्र्य सन्निविष्ट हुए तथा पहले के कई अध्यायो को परिवर्धित किया गया है। परिशिष्ट मे छ लेख यथा रवीन्द्र-सगीत मे तान, रवीन्द्र-सगीत की पर्यालोचना, चलचित्र मे रवीन्द्र सगीत, उच्चाग हिन्दी गान का प्रभाव, नृत्यनाट्य का अभिनय और एक गान—सयुक्त किए गए है।

"गान का विषयवैचित्र्य और कलिविभाग" अध्याय मे विविध प्रकार के गानो का उल्लेख कर उनकी पक्तिसख्या के विषय मे प्रथम प्रकाशित (माघ १३४८) ग्रथ के पक्तिविभाग को ग्रहण कर मतामत व्यक्त किया गया है। "नेपथ्य" अध्याय मे व्यवहृत 'अरूपरतन' नाटिका के विषय मे गुरुदेव के वक्तव्य को मेरे भ्राता श्रीमान् शुभमय घोष ने कई वर्ष पूर्व 'ऋतुपत्र' पत्रिका मे प्रकाशित किया था।

पौष १३६५ (ई १९५८)

— शान्तिदेव घोष

चतुर्थ संस्करण की विज्ञप्ति

रवीन्द्र-सगीत के वर्तमान चतुर्थ सस्करण के परिशिष्ट मे दो प्रबन्ध—यथा—रवीन्द्र सगीत मे जाति विचार और सगीत की शिक्षा मे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ—सयुक्त किये गये।

२५ वैशाख, १३६९ (ई १९६२)

— शान्तिदेव घोष

पंचम संस्करण की विज्ञप्ति

'रवीन्द्र-सगीत' ग्रन्थ के विभिन्न सस्करणो मे नए-नए परिच्छेद शामिल किए गए हैं। वर्तमान संस्करण मे विषयवस्तु के पारस्पर्य के अनुसार परिच्छेदो का पुनर्विन्यास किया गया है, छन्द ॥ ताल परिच्छेद मे कुछ नए तथ्य एव परिशिष्ट मे एक नया प्रबन्ध जोडा गया है। ग्रथ के आरम्भ मे गुरुदेव लिखित चिट्ठी का जो ब्लॉक दिया गया है, उसे पाठको की सुविधा के लिए यहॉ मुद्रित किया जा रहा है

"तुम्हारा यह प्रबन्ध पढकर मेरे बीते दिनो का स्मरण हो आया। उस समय मैं मेरी कर्मभूमि के नेपथ्य मे देहलिपाडा मे रहता था। गान-सृष्टि के निरन्तर आनन्द से मेरे दिन-रात जैसे उद्वेलित हो उठते—मेरे अन्य कामो की धारा जैसे धूमिल हो जाती। उस समय इतने छात्रो—छात्राओ और नृत्यगीत आयोजन नहीं था। राखाल जिस प्रकार सुर-सुर पर आनन्द में कर्महीन प्रहर काट लेता है, उसका कोई जोडीदार नहीं होता, न कोई श्रोता होता है, मेरी भी वैसी ही दशा थी। उस समय मेरे गान अवज्ञा, यहाँ तक कि विद्रूप के

विषय थे, किन्तु मेरा जीवन रस से पूर्ण था, तुम्हारे इस लेखन ने उसी बात का स्मरण करा दिया—दीर्घ नि श्वास छोडकर पढना समाप्त किया। रवीन्द्रनाथ २१ ३ ४१"

पौष १३८६ (ई १९७९)

— शान्तिदेव घोष

षष्ठ संस्करण की विज्ञप्ति

'रवीन्द्र सगीत' ग्रथ के वर्तमान सस्करण मे 'गुरुदेव के गान मे उच्चाग हिन्दी ध्रुपद गान का प्रभाव' विषयक एक प्रबन्ध परिशिष्ट मे जोडा गया है। यह प्रबन्ध १३९१ (बगाब्द) की 'देश विनोदन' सख्या मे प्रकाशित हुआ था।

शान्तिनिकेतन, ७३१२३५ (पश्चिम बगाल)

पौष, १३९३ (बगाब्द) (१९८७)

— शान्तिदेव घोष

प्रथम हिन्दी संस्करण

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि पूजनीय गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सगीत विषयक इस ग्रथ—'रवीन्द्र सगीत'—का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो रहा है। गुरुदेव के चरणों मे मेरी शिक्षा-दीक्षा हुई, उनके आश्रम मे ही मै बड़ा हुआ और उनके आन्तरिक आशीर्वाद और प्रोत्साहन से ही मै यह ग्रथ तथा अन्य ग्रथ लिख सका। गुरुदेव का मेरे प्रति स्नेह था और कृपा भी, इसी के फलस्वरूप मैं गान, नृत्य और अभिनय सीख सका। मैं जो भी कार्य करता, पूरे मनोयोग से, मन-प्राण से करता, अत· गुरुदेव मुझ पर प्रसन्न रहते। गान मुझे स्वय गुरुदेव ने सिखाए और इसकी पावनता—विशुद्धता को कायम रखने का उपदेश भी दिया, जिसके प्रमाणस्वरूप गुरुदेव का मूल बगला पत्र तथा मेरे लेखन के विषय मे उनका पत्र इसके पूर्व प्रकाशित किए जा रहे हैं।

गुरुदेव के सगीत का शाश्वत मूल्य है और उसका प्रचार बगाल मे ही नहीं बल्कि भारत के विभिन्न अचलो मे, यहॉ तक कि विश्व के विभिन्न देशो मे है। गुरुदेव की इस नवसृष्टि को सर्वत्र आदर के साथ स्वीकार किया गया है।

सगीतविद्, भाषाविद् एव पत्रकार लेखक श्री मदनलाल व्यास ने बडे मनोयोग एव श्रद्धाभाव से इसका प्राजल हिन्दी भाषा मे अनुवाद किया है, अत मैं उनका आभारी हूँ। सुन्दर एव आकर्षक प्रकाशन के लिए मैं राधाकृष्ण प्रकाशन के श्री अशोक महेश्वरी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। प्रच्छद पर तथा भीतर शुरू में बाउल रूप मे गुरुदेव का रेखाचित्र चित्राचार्य नदलाल बसु का है। विश्वास है, हिन्दी जगत् इस ग्रथ का स्वागत करेगा।

विजयादशमी, १९९१

— शान्तिदेव घोष

विषय-सूची

परिशिष्ट

संगीत साधना

संगीत की धारा चिरकाल से प्रवाहित है। वेद-उपनिषद् युग के ऋषियो ने गभीर ध्यान के माध्यम से यह जानना चाहा कि सगीत का मूल, आदि कारण कहाँ है, वह मन को आकृष्ट क्यों करता है, एवं सगीत एक अनिर्देश्य आवेग से प्राण को पूर्ण कैसे कर देता है और मन उदास क्यो हो उठता है। चिन्तन के गभीर स्तर पर पहुँचकर एक दिन उन्होने अनुभव किया कि "सृष्टि की गहनता मे जो एक प्रकार का विश्वव्यापी प्राण-कम्पन चल रहा है, गान सुनकर हम उसी का वेदनावेग चित्त में अनुभव करते हैं।" उन्होंने यह भी अनुभव किया कि "सम्पूर्ण मानव जीवन अनन्त की रागिनी मे बँधे एक सगीत के अलावा और कुछ नहीं है," एवं सूर्य, चन्द्र, तारा, ओषधि, वनस्पति—सभी ने इस विशाल विश्वसंगीत मे किसी-न-किसी प्रकार के अपने विशेष 'सुर' का योगदान किया है।

विश्व के किसी भी देश ने सगीत की इस प्रकार उपलब्धि नहीं की। अत्यन्त प्राचीन काल से साधना की यह धारा हमारे देश में चली आ रही है, कहीं भी इसमें बाधा अनुभव नहीं की गई। इस युग में इस साधना के श्रेष्ठ साधक हैं गुरुदेव। उनकी साधना का मार्ग था, प्राचीन ब्रह्मवादी संगीत-साधक का पथ, उन्होंने उन साधकों के समान ही सगीत में ही मुक्ति खोजने की चेष्टा की है। इसीलिए एक गान में उन्होंने कहा है

आमार मुक्ति आलोय आलोय एइ आकाशे,
आमार मुक्ति धुलाय धुलाय घासे घासे।
देहमनेर सुदूर पारे हारिये फेलि आपनारे,
गानेर सुरे आमार मुक्ति ऊर्ध्वे भासे।

आजकल हम इस प्रकार की धारणा में विश्वास करना नहीं चाहते। किन्तु प्राचीन युग के इस प्रकार के संस्कारो में विश्वास करनेवालो की बात छोड देने पर भी, इस युग के विज्ञान के भारी प्रभाव के बीच रहते हुए भी, उसकी चिन्तनधारा को पूर्णरूप से अधिगत करते हुए भी गुरुदेव इस धारणा में विश्वास करते थे। हमारे देश में सगीत मूलत वेदना की अभिव्यञ्जना है। उसकी सीमा छोटी हो या बडी। भारत के गॉव-गाँव में हम मनुष्य को मृत्यु की गहन वेदना के समय शब्द को स्वर में बिठाकर रुदन करते हुए देखते हैं। मानवीय प्रेम में जहाँ विरह-वेदना है, वहॉ हमारे गान क्या सर्वाधिक समृद्ध नहीं बन पड़ते ? गुरुदेव का संगीत-जगत् भी मूलत. विचित्र और गहन वेदना का प्रकाश है। वह उच्चस्तर के एक मरमी कवि थे। इसलिए वेदना का प्रकाश उनके गानों का प्रधान विषय

था। सगीत में गुरुदेव इस मार्ग मे सम्पूर्ण रूप से भारतीय थे। भारतीय सगीत के जगत् मे यथार्थ सगीतज्ञ का यही मूल परिचय है। इस पथ का सन्धान प्राप्त न कर सकने तक किसी भी भारतीय की दृष्टि मे उसके लिए सगीत मे बडा स्रष्टा बनना सम्भव नही। इस दृष्टि से जिसकी वेदना जितनी प्रबल होगी, उसकी साधना उतनी ही सार्थक होगी। अत भारतीय सगीत को समझने की जब मैं चेष्टा करूँगा, तब मात्र इतना ही विचार करने से काम नही चलेगा कि स्रष्टा या रचयिता ने गान की सहायता से मनुष्य का किसी प्रकार का उपकार करना चाहा है या नही, या गान के द्वारा रचयिता ने किसी विशेष 'सुर' (स्वर-समष्टि या स्वर-सज्जा) या ढग की परीक्षा कर अपने परवर्ती सगीतज्ञो का कितना उपकार या अपकार किया है। ये सब गौण है। इस गौण तत्त्व को महत्त्व देने से सगीत के क्षेत्र मे गुरुदेव का ठीक मूल्य-निर्धारण सम्भव नही। पुन सुरकार या सगीत-रचयिता के रूप मे उनका परिचय प्राप्त करने का प्रयास करते है, तब भी उनके प्रति सुविचार नहीं हो पाता। यद्यपि उन्होने अपने जीवन के प्राक्काल मे, बडे उस्ताद से सगीत की शिक्षा पाई थी, संगीत का अनुशीलन किया था, फिर भी वे अन्यो के समान सगीत के बडे पडित कभी नहीं हुए। नया कुछ करना होगा, केवल इस उद्देश्य से ही उन्होंने लिखना आरम्भ नही किया। बाह्यजगत की ताकीद के कारण नहीं, आत्म-प्रचार या सम्मान की आकाक्षा के कारण नहीं, बल्कि मात्र सगीत की अन्तर्निहित प्रेरणा एव अन्तर की गहन आनन्दानुभूति से ही उनके इस सगीत का प्रकाश है। इसीलिए मैं उन्हे साधक कहता हूँ। इसीलिए हमे उनके संगीत मे सृष्टि का परिचय मिलता है। उनके अन्तर मे 'सुर' का आवेग कितना गभीर और तीव्र था, इसे उसी ने समझा है, जो इस दृष्टि से किंचित् मात्र भी उनके सस्पर्श मे रहा है। वे अपने-आप को सुर-जगत् मे किस प्रकार भुला देते थे, इसका उदाहरण उनके एक उद्धरण से मिल सकता है

"भैरवी, तोडी, रामकली का मिश्रण कर गुन्-गुन् करते हुए एक प्रभाती रागिनी का सृजन कर मन-ही-मन आलाप कर रहा था, उससे अन्तर में अकस्मात् एक सुतीव्र, किन्तु सुमधुर चाचल्य जाग उठा, ऐसा एक अनिर्वचनीय भाव का आवेग सचरित हुआ, क्षण-भर में ही मेरा वास्तविक जीवन एवं वास्तविक जगत् सम्पूर्ण रूप से ऐसे परिवर्तित स्वरूप मे दिखायी देने लगा, कि अस्तित्व की सभी दुरूह समस्याओं का एक सगीतमय, भावमय किन्तु भाषाहीन, अर्थहीन, अनिर्देश्य उत्तर कानो मे गुजरित होने लगा

एक रचना में है .

आमार आपन गान आमार अगोचरे
आमार मन हरण करे,
निये से जाय भासाये
सकल सीमारइ पारे ॥

और एक लेख में उन्होंने कहा है

"गान लिखने मे मुझे जैसे गहन आनन्द की अनुभूति होती है, वैसी और किसी में

नहीं होती। ऐसा नशा चढता है कि उस समय गुरुतर कार्य का गुरुत्व भी असर नहीं करता, बडे दायित्व का आकर्षण भी अचानक लुप्त हो जाता है, कर्तव्य की मॉग भी मन बिलकुल अस्वीकार कर देता है।" उनके अन्तर मे अनुभूति इतनी गभीर होती है कि वे समय-समय पर अपने को कई तारयुक्त वाद्ययत्र विशेष समझ बैठते, जो स्वत कई प्रकार से बज उठता है। जिस सत्य की खोज के लिए मनुष्य युग-युग मे साधना करता है, गुरुदेव ने गान के माध्यम से उसी सत्य की उपलब्धि की। उनका कहना है, "गान के 'सुर' के प्रकाश मे इसी क्षण मैने सत्य के दर्शन किए। अन्तर मे गान की यह दृष्टि सर्वदा नहीं रहती, इसीलिए उस सत्य को तुच्छ मान लिया जाता है और वह दूर हट जाता है। सुर के वाहन उस पर्दे के पीछे सत्यलोक मे हमे ले जाते हैं, वहॉ पैदल चलकर नहीं जाया जा सकता, रास्ता भी कोई ऑखो से देख नहीं सकता।" इस सत्य की उपलब्धि कर सके, इसीलिए आज वे सगीत के क्षेत्र मे देश मे एक नवीन युग का प्रवर्तन कर सके हैं।

रचना का विचार कर भारतीय सगीत-साधको को तीन दलो मे विभाजित किया जा सकता है—एक दल ऐसे साधको का है जिनकी रचना मे सुर की अपेक्षा शब्द का प्राधान्य अधिक है, उनके लिए सुर आज्ञाकारी भृत्य मात्र है। साधको के द्वितीय दल का मन केवल सुर के आनन्द से आप्लावित है, उन्होने केवल इस दृष्टि से ही वैचित्र्य की सृष्टि की है, उनके लिए शब्द का विशेष स्थान नहीं, क्योंकि सुर के माध्यम से ही वे शब्द के अतीत की अनुभूति करते है। साधको का अन्तिम दल 'सुर' और शब्द के मिलन से सगीत-रचना का पक्षपाती है, इनके लिए दोनो का बराबर प्रयोजन है। बगाल मे इस दल का प्राधान्य परिलक्षित होता है। गुरुदेव इस श्रेणी के अन्तर्गत आते है।

मैंने कई बार देखा है कि गुरुदेव के अन्तर में जब गान-रचना की प्रेरणा जाग्रत होती, तब उसका क्या वेग था, एक के बाद एक गान की रचना करते ही चलते। कभी-कभी उन्होने एक दिन मे ही कई गानो की रचना की। गान का 'सुर' (धुन, स्वर-समष्टि) कायम रखने के लिए उन्हे कभी वाद्य की प्रयोजनीयता अनुभव नही हुई, या रागिनी का रूप कायम रखने के लिए उन्होने कभी राग-रागिनी का अभ्यास नहीं किया। सुर कहॉ से मुक्त होकर अपनी खुशी से किस प्रकार स्वत: आ जाते हैं, उसे कौन जानता है! ऐसा देखा गया कि कम उम्र मे सीखी गई राग-रागिनी पर वह 'सुर' निर्भर है, किन्तु जब वह 'सुर' गान के साथ उन्मुक्त हुआ, तब उसका सम्पूर्ण नया रूप ही दिखाई देता है। शब्द और 'सुर' के मिलन से जिस रूप की सृष्टि हुई, उससे वे प्रसन्न है।

कई बार 'सुर' जिस प्रकार अप्रत्याशित रूप से मन-मस्तिष्क मे उदित होते हैं, उसी प्रकार काम पूरा होने पर वे विलुप्त हो जाते हैं। गान-रचना के समय 'सुर' बिलकुल शास्त्रानुयायी ही उदित होते, ऐसा भी नहीं था। इसके लिए उन्होने लज्जा भी कभी महसूस नही की एव सुधार का प्रयोजन भी अनुभव नहीं किया। कितनी बार आधी रात, निद्रा के बीच एक 'सुर' की ध्वनि ने सहसा उनके अन्तर मे आघात किया है—नींद न जाने कहॉ चली गई। अचानक प्राप्त उस 'सुर' को जब तक वाणी मे, छन्द में निबद्ध न कर सके, तब तक उनके मन को चैन नहीं था। यदि किसी कारण वह 'सुर' दिमाग से निकल

गया, तो उसके लिए अन्तर मे कितनी वेदना अनुभव हुई, कहा नही जा सकता। वर्षा ऋतु के मेघाच्छन्न दिनो मे उनके मन के शिखरदेश पर प्राय 'सुर' का घटाटोप छा जाता। उस समय उनके हृदय मे पंख उठाए मयूर का नाच शुरू हो जाता। प्रात काल की हल्की धूप मे किसी की वेदना मे उनका मन चचल हो उठा है और गान मे वह भाव प्रस्फुटित हो गया है। शरत् के शुभ्र सौन्दर्य मे विश्व प्रकृति की सम्पूर्णता ने उनके प्राणो मे जिस वेदना का सचार किया, उसकी अभिव्यक्ति शरत् के गान मे हुई। शीत के भीतर मृत्यु की जो छाया है, उसने भी उनके चित्त को गान-रचना के लिए आन्दोलित किया। वसन्त के आनन्द से तो वे बिलकुल उन्मत्त हो उठे, उसका कितने प्रकार का प्रकाश हमे आज उनके वसन्त के गीतिगुच्छ मे मिलता है। ग्रीष्म की रुद्र-कठोरता उन्हे वैरागी के गान के समान लगती है। गहन अन्धकार मे, पूर्णिमा की चॉदनी मे, सध्या, प्रत्यूष और अपराह्न मे गुरुदेव ने विश्वसगीत का आनन्द लूटा है। गुरुदेव के प्रतिदिन की जीवनयात्रा का नियम बिलकुल बॅधा हुआ था। उसी मनुष्य ने गान की प्रेरणा से नियम का पूर्ण परित्याग कर दिया।

उन्होने मनुष्य के कोलाहलमय हाट मे कोलाहल मे ही पूजा के गीत सुने है। उनके लिए आकाश के तारो मे भी सगीत है—विराट् सुदूर प्रान्त मे भी उन्होने न जाने कैसा उद्विग्न करनेवाला सगीत सुना है। भारी वर्षा की मूसलधारा के आघात से पुलककम्पित पत्तो की ध्वनि मे उन्होने एक बीनकार का अगुलि-आघात परिलक्षित किया है। वर्षा के प्रचड गर्जन से उनके मन मे बसी का सुर मुखरित होने लगा है। मृत्युपथ के पथिक ने उन्हे पूर्णता के गान, आनन्द के गान गाने के लिए प्रेरित किया है। वन के मर्मर, नदी के कल्लोल, सभी के माध्यम से उन्होने विश्व के विराट् सगीत की अनुभूति प्राप्त की है।

सगीत मे ग्रथित इस वैचित्र्यमय विश्व को इतने दृष्टिकोणों से, इतने सुन्दर और घनिष्ठ रूप से अनुभव कर प्रकाश अभिव्यक्त करते अन्य कोई पूर्ववर्ती साधक नहीं दिखाई देता। शान्तिनिकेतन मे उन्होने अपने प्रिय छात्रो को उपदेश देते हुए कहा था, "जहाँ वीणा केवल वीणा है वह वस्तु मात्र है—किन्तु जहॉ वीणा से सगीत गुजरित होता है, वहाँ वीणा के पीछे मेरे 'उस्ताद' हैं। उन 'उस्ताद' का आनन्द ही गान के माध्यम से हमे आनन्द प्रदान करता है। सृष्टि की वीणा तो 'उस्ताद' बजाते चल रहे हैं, किन्तु हमारे अपने चित्त की वीणा भी यदि सुर मे नहीं बजती, तो हमारी हृदय-वीणा के 'उस्ताद' को हम किस प्रकार पहचानेंगे ? उनका आनन्दरूप किस प्रकार देखेगे ? यदि वह रूप नहीं देखेगे, तो केवल बेसुर, केवल झगडा-विवाद, केवल ईर्ष्या-विद्वेष, केवल, कृपणता-स्वार्थपरता, केवल लोभ एव भोग की लालसा ही रहेगी। हमारे जीवन मे जब सगीत झंकृत होता है, तब मैं अपने को भूल जाता हूँ। हमारे जीवनयंत्र के 'उस्ताद' को देख सकता हूँ। तब दुःख हमे अभिभूत नहीं करता, क्षति हमे दरिद्र नहीं बनाती, तब 'उस्ताद' के आनन्द में हमारे जीवन का शेष अर्थ हम देख सकते हैं। यह देख सकना ही मुक्ति है।"

शिक्षा-व्यवस्था में संगीत

गुरुदेव के जीवन से जो परिचित हैं, वे जानते हैं कि शैशव मे वे कलकत्ता के एक विद्यालय मे कुछ दिनो के लिए गए थे, बाद मे वहाँ जाने की उनकी इच्छा नहीं रही और वे कभी गए भी नहीं। इसका कारण उन्होने यह बताया कि भारत मे इस युग की शिक्षा-पद्धति मे ऐसा एक आनन्दहीन वातावरण एव व्यवस्था निर्मित हुई है कि उसे बिलकुल सहन नहीं किया जा सकता।

परिणत आयु मे जब उन्हे अपने पुत्र की शिक्षा के बारे मे सोचना पडा, तब उपाय की चिन्ता करते हुए उन्होने अनुभव किया कि प्राचीन भारत के तपोवन की शिक्षा का आदर्श ही हमारे देश के बालको एव बालिकाओ के लिए विशेष उपयोगी है। तपोवन की शिक्षा-पद्धति मे है, "एक ओर गुरुगृहवास मे देश की शुद्धतम, उच्चतम सस्कृति, एक ओर अरण्यवास मे देश की उन्मुक्त विश्वप्रकृति।"

अरण्यवास मे शिक्षा का उद्देश्य है, "विराट् एव विचित्र आनन्द की उत्स यह विश्वप्रकृति जैसे निरन्तर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमारे देहमन मे शिक्षा का विस्तार कर रही है, इसीलिए हम देखते है कि हमारे मन को प्रबल शक्ति से परिपूर्ण कर गढने के प्रयास मे जल मे, स्थल पर, आकाश मे क्लास खुली है। इस प्रकार जब भी आत्मा का विकास हुआ है, उसने पूर्णता प्राप्त की है, मानव ने शब्द मे, सुर मे, रेखा मे, वर्ण मे, छन्द मे, मानवसम्बन्ध के माधुर्य मे, अपने आनन्द के साक्ष्य स्वरूप अमर वाणी मे स्वाक्षर अकित करना चाहा है।"

शिक्षा के इस मूल सत्य को इस युग मे हमारे देश की शिक्षा-पद्धति से बिलकुल निकाल दिया गया है। इसीलिए आनन्द के साथ शिक्षा का योग इतना विच्छिन्न है।

जब वे शिलाइदेह की जमींदारी के समय निर्जन स्थल पर विविध प्रकार के विषयकार्यो और अपने काव्य-चिन्तन मे मग्न थे, तब उन्होने अपने पुत्र और कन्या को अपने साथ ले जाकर रखा था। उनकी इच्छा थी कि निर्जन पल्ली-प्रकृति के वातावरण मे उनकी शिक्षा पूर्ण हो। सुना जाता है कि उनके आत्मीयों ने उनके इस उद्देश्य को स्वैरी मन का परिचायक कहा, किन्तु गुरुदेव ने उनकी इस आपत्ति को ग्राह्य नहीं किया।

शिलाइदेह मे जब वे इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति के एक अभिनव पथ के सन्धान मे मग्न थे, तब उनके अन्तर मे अचानक एक विचार उदित हुआ। उन्होने सोचा कि इस महत् कार्य की सीमा क्या केवल उनके अपने परिवार तक ही है ? इस प्रेरणा के फलस्वरूप ही बोलपुर के निर्जन क्षेत्र मे शान्तिनिकेतन का आश्रम प्रस्थापित हुआ।

आत्मा की पूर्णता को ही हम सस्कृति कहते है। सस्कृति का रूप विविधता मे प्रस्फुटित होता है। "उससे मानव-मन का सस्कार साधित होता है, आदिम खनिज-अवस्था की मलिनता से उसके पूर्ण मूल्य का उद्भावन कर लिया जाता है। इस सस्कृति की कई शाखा-प्रशाखाएँ है। मन जहॉ स्वस्थ सबल है, वहॉ मन सस्कृति की इस विविधागी प्रेरणा की स्वय ही चाह करता है।" इसी कारण शान्तिनिकेतन आश्रम मे अन्यान्य विद्यालयो की शिक्षा की सकीर्ण सीमा का परित्याग कर उन्होने साधारण पाठ्यपुस्तकों की शिक्षा के अतिरिक्त सभी प्रकार के शिल्प, नृत्य-गीत-वाद्य, नाट्याभिनय और पल्लीहित साधनो का आयोजन किया।

गुरुदेव स्वय इस सस्कृति की एक परिपूर्ण मूर्ति थे। वैचित्र्यमय विश्व के सुसगत सौन्दर्यमय प्रकाश के जो कारण हैं, उन्होने जैसे गुरुदेव के जीवन मे वह परीक्षा सचालित की है। गुरुदेव की चाह रही कि उनके देश की सन्तान उनके समान ही पूर्णतर मानव रूप मे विकसित हो।

प्राय चालीस वर्ष के पहले भी जब शान्तिनिकेतन की स्थापना हुई, तब भारत मे अन्यत्र कही भी इस प्रकार के विद्यायतन की स्थापना नहीं हुई, जहॉ अभिनय, सगीत और नृत्य को प्रतिदिन की शिक्षा का एक विशेष अग माना गया। उस समय कोई सोच भी नहीं सकता था कि शिक्षार्थी के लिए नृत्य और गीत का कोई स्थान हो सकता है। उनकी दृष्टि मे तपोवन की साधना का कठोर, शुष्क नियम ही प्रधान था, आनन्द और सरसता का दृष्टिकोण उन्हे नहीं सूझा।

यह विचार कर ही विश्वभारती की स्थापना के पूर्व उन्होने कहा था, "सगीत एव ललितकला ही राष्ट्रीय आत्मविकास का श्रेष्ठ उपाय है, इस बात का पुन उल्लेख करना अनावश्यक है। जो जाति इन दो विद्याओं से वचित है, वह चिरमौन रहती है।" उन्होंने और भी कहा है, "शिक्षा की इस प्रकार की संकीर्णता मे हमारा जीवन क्रमश विकलाग हो गया है। इसके पश्चात् इसे प्रश्रय देना किसी प्रकार उचित नही होगा। हम यह जो शिक्षाकेन्द्र की स्थापना का प्रस्ताव रख रहे हैं, वहॉ सगीत और ललितकला को सम्मानपूर्ण स्थान देना होगा।" एव "इस प्रकार हमारे रस-बोध एव अभिरुचि का आदर्श यथार्थ रूप मे गठित होगा। ऐसा होने पर ही हमारा सगीत, शिल्पकला सौन्दर्य एव सम्पद् की दृष्टि से विकसित होगी। उस समय हम विदेशी कला के सम्बन्ध मे सत्य एव सयत भाव से विचार करने की क्षमता प्राप्त करेगे एव तब उससे भाव एव रूप ग्रहण कर लेने पर भी हम परायी सम्पद् के अपहरण के लिए दोषी नहीं ठहराए जाएँगे।"

गुरुदेव ने शान्तिनिकेतन के किसी एक प्राध्यापक को लिखा, "आजकल हमारे विद्यालय मे सगीत-अनुशीलन सम्भवत कम हो गया है। यह ठीक नहीं, उसे जाग्रत रखो। हमारे विद्यालय की साधना का यह नि सन्देह एक प्रधान अग है। शान्तिनिकेतन के बाहर के प्रान्तर की शोभा जिस प्रकार अदृष्ट भाव से बालको का मन तैयार कर देती है, उसी प्रकार गान भी जीवन को सुन्दर बनाने का एक प्रधान उपादान है। .वे सभी गायक होंगे, ऐसा नहीं है; किन्तु उनके आनन्द की शक्ति बढेगी, यह भी मनुष्य के लिए कम लाभ नहीं है।"

शान्तिनिकेतन मे अन्यान्य विषयो के साथ गीत-वाद्य, नृत्यकला के समावेश का यही मूल कारण रहा।

विश्वप्रकृति के नव-नव सौन्दर्य के साथ बडे हुए शान्तिनिकेतन के बालक-बालिका जिस आनन्द का अनुभव कर रहे है, उस निर्मल आनन्द को कायम रखने व उसे क्रमश बढाने के उद्देश्य से ही गुरुदेव ने इस प्रकार के गानो की रचना की, जिसके बारे मे इसके पूर्व भारत मे अन्य किसी ने सोचा भी नहीं था। आश्रम के छात्रो एव छात्राओ को ध्यान मे रखकर उन्होने नाटक, गीतिनाट्य या नृत्यनाट्य की रचना की है।

साधारणत गान और नाच की रचना परिणत वयस्को के मनोभावो का अवलम्बन कर की जाती है, अर्थात् यौवन से वृद्धावस्था तक मनुष्य के मन की विविध मतिगति को ध्यान मे रखकर यह सर्जन होता है। गान और नाच से वयस्को के मन मे रस का जैसा सचार होता है, वैसा शिशुओ के मन मे निश्चय ही नहीं होता। गुरुदेव ने शिशुओ के मन की बात सोचकर भी गान-रचना की है। उन्होने चाहा है कि वे भी नाच, गान और अभिनय की सहायता से विश्वप्रकृति के आनन्द के केन्द्रबिन्दु तक पहुँच सके। ये सब आनन्दलोक मे मन को ले जाने का बडा अवलम्बन है।

सूर्योदय के पूर्व प्रत्यूष मे जब पृथिवी शान्त रहती है, छात्र-छात्री प्रभात की रागिनी मे जागरण के गान से आश्रम की निद्रा भग करते हैं, उस जागरण का क्या आनन्द है, कौन बता सकता है ? दिन के कार्यारम्भ मे गान है, पुन नीरव रात्रि या पूर्णिमा रात्रि के वैतालिक गान सम्पूर्ण दिन के कर्म-कोलाहल की क्लान्ति को एक क्षण मे दूर कर देते है। उत्सव मे, आनन्द-अनुष्ठान मे, ऋतुओ के नव-नव रूपो मे सगीत एव नृत्य से शान्तिनिकेतन मुखरित एव सजीवित हो उठता है। इस गीत-वाद्य-नृत्य के माध्यम से ही यहॉ का विशिष्ट वातावरण इतने सहज भाव से निर्मित हुआ है।

गुरुदेव परिपूर्ण शिक्षा मे विविध प्रकार की कलाओ के प्रयोजन को बहुत बडा मानते थे। इसीलिए विश्वभारती की प्रतिष्ठा की इच्छा जब उन्होने देशवासियो के समक्ष प्रकट की, तब कार्यसूची रखते समय उन्होने कहा, "हमारा यह सकल्प रहे कि यदि विश्वभारती की प्रतिष्ठा होती है तो भारतीय सगीत और चित्रकला की शिक्षा उसका प्रधान अग रहेगा।"

गुरुदेव के इस आदर्श को वास्तविकता मे परिणत करने मे जिन व्यक्तियो ने निष्ठापूर्ण प्रयास किया, इस प्रसग मे उनका उल्लेख करना प्रयोजनीय है।

गान और अभिनय मे गुरुदेव के प्रधान सहायक थे दिनेन्द्रनाथ। गुरुदेव के आदर्श से अनुप्राणित दिनेन्द्रनाथ ने अक्लान्त परिश्रम किया और दोनों कलाओ को आश्रम के अन्तरलोक मे पहुँचा दिया।

शिल्पाचार्य नन्दलाल की प्रतिभा विश्व के चित्ररसिक समाज मे श्रद्धासह स्वीकृत है, किन्तु सृजन की उनकी प्रतिभा कितनी बहुमुखी है, इससे साधारणजन सम्भवत. अनभिज्ञ हैं। उनकी सृजनशक्ति चित्रपट तक ही सीमित नही। शान्तिनिकेतन के अभिनय, उत्सव और विविध अनुष्ठानो की साजसज्जा, रूप और रग ने उनके हाथो से अभिनवत्व प्राप्त किया है, यह हमारे देश के लिए गौरव की बात है। बाहर से लोगो ने इस विषय में शिल्पाचार्य

का कोई प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त नहीं किया। जनसाधारण की नजरो से दूर रहकर वे काम करते रहे हैं। शान्तिनिकेतन के आनन्द के सम्पूर्ण आयोजन मे आज रूपसज्जा की दृष्टि से जिस विशेष रुचि का हमे जो परिचय मिलता है, उसका प्रवर्तन वास्तव मे शिल्पाचार्य नन्दलाल ने किया। उसी के फलस्वरूप केवल शान्तिनिकेतन मे ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण बगाल मे धीरे-धीरे इस दृष्टि से जनसाधारण की अभिरुचि मे परिवर्तन होता दिखाई दे रहा है। शिल्पी श्रीयुत् सुरेन्द्रनाथ कर ने इस धारा का भारी निष्ठा के साथ वहन किया।

छात्राओ मे नृत्यकला के प्रसार मे श्रीयुक्ता प्रतिमा देवी ने सचेष्ट रहकर गुरुदेव की विशेष सहायता की।

यह बात स्मरण रखनी होगी कि यहॉ उस्ताद, कलावन्त तैयार करने का कारखाना स्थापित नहीं हुआ। अंग को देह से छिन्न करने पर जिस प्रकार उसकी जैवक्रिया का अवसान हो जाता है, उसी प्रकार यदि सगीतकला को सास्कृतिक देह से भिन्न कर दिया जाए तो वह भी निष्क्रिय हो जाती है और सस्कृति की अगहानि होती है।

शिल्पी मन और वास्तविक जीवन

गुरुदेव के कर्मबहुल जीवन की धारा विचित्र थी। जिन्होने उनके इस विचित्र कर्मजीवन के बाह्य रूप यानी विविध प्रकार के काम, साहित्य, चित्र, सगीत आदि की सहायता से उन्हे जानना चाहा है, उन्होने उनके ज्ञान, रस, अमृत का पक्ष ही देखा है, किन्तु इसके मूल मे मथन का जो इतिहास है, उसका पता लगाने पर गुरुदेव का वास्तविक स्वरूप समझा जा सकता है। इसके अलावा यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी कि मनुष्य क्षमतातीत असाधारण शक्ति लेकर उन्होंने जन्म ग्रहण किया था। उनके काव्य, साहित्य, गान आदि के माध्यम से उन्हे समझने का प्रयास करने पर कई लोगो के मन मे स्वभावत यह बात ही बार-बार जाग्रत होती है कि वे केवल सुन्दर के उपासक थे, जैसे वास्तविक ससार का नीरस और मलिन वातावरण उन्हें बिलकुल स्पर्श नहीं कर सका—यदि स्पर्श कर भी सका है तो वे अपने को उससे बचाते हुए बढते रहे है,-इसीलिए उनके जीवन मे सुन्दर की आराधना इतनी सफल रही है।

इस पृथिवी पर सानन्द स्वस्थ जीवन बिताने की उत्कट आकाक्षा लिये ही मनुष्य युग-युगान्तर से कई प्रकार के कठोर परिश्रम करता आ रहा है एव उसकी इस विपुल कर्मशक्ति की मूल प्रेरणा भी यहीं है। ठीक इसी के साथ इस कर्मबहुल जीवन की क्लान्ति से मन को कुछ क्षण के लिए अन्य एक रस-लोक मे ले जाकर उसे विश्राम देने, क्लान्ति दूर करने की आकाक्षा भी मनुष्य मे प्रबल रूप से दिखाई दी है। सथाली लोगों के कर्मजीवन की नीरसता के बारे मे अधिक कुछ न कहना ही अच्छा है। किन्तु उस जाति के समान सगीतप्रिय जाति कम ही मिलेगी। उस जाति के लोगो के गानो की भाषा की समालोचना कर मैंने देखा है कि उनके दैनन्दिन जीवन की कठोरता की कोई बात उसमे नहीं है। वहाँ उनके अमार्जित सहज मन से कर्मक्लान्त नीरस मन को सरसता से पूर्ण करने मे उपयोगी गान प्रस्फुटित होते हैं। ग्राम्यजीवन मे खेतिहर, गाडीवान् आदि ग्रामीण जिस गान की रचना करते हैं अथवा गाते हैं, उनमे इसी मनोवृत्ति की अभिव्यजना होती है। इनमें उनके दु ख, दारिद्र्य की बात नहीं रहती। इन लोगो के दुखी जीवन को लेकर शिक्षित कवि या गायक गान लिखते हैं, जिन्हें इनके जीवन का वास्तविक परिचय बिलकुल नहीं है।

मानव मन की इस स्वाभाविक आकाक्षा को गुरुदेव के काव्य, साहित्य, सगीत आदि मे पूर्ण अभिव्यक्ति मिली है। उन्होने मानवजीवन के कर्मक्लान्त चित्त को रसलोक मे ले जाकर और भी उन्नततर मानवसमाज की रचना करना चाहा है। जड से विच्छिन्न कोई भी वृक्ष जीवित नहीं रह सकता, चाहे उसे कितनी ही हवा, पानी, प्रकाश मिले। गुरुदेव

ने चारो ओर की नीरस यथार्थता के बीच रहकर ही प्रकाश का सन्धान देने की चेष्टा की है। मात्र वातावरण की चर्चा करने से इतने बडे विचित्र पल्लवित, वर्धित वृक्ष की सुशीतल छाया मे श्रान्ति दूर करने की सुविधा हमे उपलब्ध नहीं होती।

गुरुदेव के शान्तिनिकेतन की शिक्षा के आदर्श मे भी एक मनोभाव का समर्थन मिलेगा। साधारण देश-प्रचलित शिक्षानीति ने मात्र वृक्ष के साथ मिट्टी के योग को ही ग्रहण किया है। गुरुदेव ने कहा और यह दिखाना चाहा कि शिक्षा क्षेत्र मे मिट्टी के रस का जितना प्रयोजन है, मुक्त आकाश हवा और प्रकाश का भी उतना ही प्रयोजन है। जीवन के लिए कोई भी अप्रयोजनीय नहीं है। इस शिक्षानीति को सामने रखकर उन्होने शान्तिनिकेतन मे छात्रो एव छात्राओ के लिए जिस प्रकार नाच, गान, अभिनय और विविध प्रकार की ललितकलाओ का आयोजन किया, उसी प्रकार उन्होने देश के समक्ष इस पक्ष को रखने की इच्छा से प्रेरित होकर छात्रो एव छात्राओ के विविध अनुष्ठान शान्तिनिकेतन के बाहर विभिन्न स्थानो पर आयोजित करवाए। यद्यपि आरम्भ में हमारे देश के जनसाधारण ने इस शिक्षानीति को पसन्द नही किया, किन्तु बाद मे यह विरुद्ध मनोभाव दूर हो गया। किन्तु लोगो के विरुद्ध मनोभाव के प्रतिवाद मे वे अपनी एक चिट्ठी मे अपना मत स्पष्ट रूप से व्यक्त कर गए है। ई १९२९ मे जब शान्तिनिकेतन मे नृत्य आन्दोलन काफी आगे बढ चुका था, तब उन्होने एक ख्यातिप्राप्त शिक्षाविद् और पडित को लिखा

"प्रकाश ही हमारा स्वधर्म है—प्रकाश की प्रेरणा को अवरुद्ध करना हमारे लिए धर्म-विरुद्ध है। हमारी प्रकृति मे इस प्रकाश की विविध धाराओ का उत्स है—इनमे से किसी को भी अग्राह्य करने पर उससे हम बौने हो जाएँगे। प्रकाश और भोग एक वस्तु नहीं है—प्रकाश की अभिमुखिता बाहर की ओर है, वस्तुत वही अन्त प्रकृति की मुक्ति है, भोग की अभिमुखिता भीतर की ओर है, उसी मे उसका अवरोध है। मेरे नाट्याभिनय के सम्बन्ध मे तुम्हारे मन मे आपत्ति-भाव जाग्रत हुआ है। किन्तु नाटक-रचना मे प्रकाश, अभिव्यक्ति की जो चेष्टा है, अभिनय मे भी वैसी ही बात है। रचना मे यदि कलुष हो तो वह निन्दनीय है, अभिनय मे भी दोष हो तो वह भी निदनीय है—कितु अभिनय मे आत्मलाघवता है, यह मै नहीं मानता। मुझमे सृष्टिमुखी जितना उद्यम है, उसमे से प्रत्येक को स्वीकार करने के लिए मैं बाध्य हूँ। तुम्हारे अभ्यास और सस्कार की बाधा के कारण तुम लोग जिस दोष की कल्पना कर रहे हो, उस कारण मेरे प्रयास को प्रतिरुद्ध करना अपने प्रति गुरुतर अन्याय करना होगा।"

कवि का काव्य, गीतकार का गान, शिल्पी की छवि, नर्तक का नाच, नाटककार का नाटक अतर की प्रेरणा से अभिव्यक्त होता है। किन्तु उनकी आन्तरिक इच्छा यही रहती है कि आनन्द की जैसी अनुभूति के साथ उन्होने इसे अभिव्यक्त, प्रस्तुत किया; वैसा ही आनन्द सभी अनुभव करे। शिल्पी का यही धर्म है। गायक के बिना गान की प्रस्तुति सम्भव नहीं, उसी प्रकार अभिनय और अभिनेता के बिना नाटक का प्रकाश असम्भव है। नृत्याभिनय जनसाधारण के समक्ष रखने के लिए जनसमाज को लेकर ही उसका आयोजन करना होगा। तभी दर्शक उसका पूर्ण रसास्वादन कर सकते है। गुरुदेव ने इस कारण

ही शान्तिनिकेतन के छात्रो और छात्राओ को लेकर नृत्याभिनय का आयोजन किया था। शिल्पी-मन की प्रेरणा से ही उन्होने इस दल को लेकर देश-भ्रमण किया था। अत उनके इस काम का यदि ठीक ढग से आकलन करे तो सम्भवत यह अरुचिकर नहीं भी लग सकता है। उन्होने जिस आनन्द के साथ नृत्याभिनय की रवना की थी, उसे जनसमाज के समक्ष प्रस्तुत करने की आकाक्षा के कारण ही उन्होने इतना अधिक घूमने का आयोजन किया था। यदि उनके अन्तर मे यथार्थ शिल्पी-मन की प्रेरणा नहीं होती, तो वे अनायास भ्रमण की चिन्ता और कई प्रकार के शारीरिक श्रम से मुक्ति पा लेते। वृद्धावस्था मे इसकी उन्हे विशेष आवश्यकता थी। नृत्याभिनय के दल को बगाल के बाहर ले जाने के बाद शिक्षा-क्षेत्र मे उसका सुफल सुस्पष्ट है। कई शिक्षा-प्रतिष्ठानो के प्रयास के फलस्वरूप नृत्य-गीत को जन-समाज मे जो उच्च स्तर का स्थान मिला है, उसका अन्यतम कारण है गुरुदेव की प्रचेष्टा।

इस प्रसग मे सिहल-भ्रमण की बात आज विशेष उल्लेखनीय है। सिहल वासी, विशेषतया वहॉ के शिक्षित एव धनवान् अपने देश की सस्कृति के प्रति अत्यन्त उदासीन थे। वे अपने देश के गान और नाच के प्रति बिलकुल ही ध्यान नहीं देते थे। ई १९३४ मे गुरुदेव ने अपने दल के साथ उस देश का भ्रमण किया, उसके बाद से सिंहलियो मे अपने देश के सगीत और नृत्य के प्रति जो आग्रह बढा, उसे मैंने दीर्घकाल तक अनुभव किया है। सम्प्रति अपने देश के गान और नाच का परिशीलन प्राय प्रत्येक शिक्षायतन मे आवश्यक हो गया है। धनी, निर्धन, शिक्षित, अशिक्षित किसी भी वश के बालक या बालिकाएँ उससे वचित नहीं हैं। वहॉ शान्तिनिकेतन के आदर्श के अनुसार बडे-बडे शिक्षायतन स्थापित हुए हैं। आजकल उस देश मे गुरुदेव के गान के ठीक अनुकरण से उनकी अपनी भाषा मे गान और नाच की रचना का खूब प्रचलन है।

फिर भी हमारे देश मे इस प्रकार के शिक्षामूलक भ्रमण के शुभ पक्ष को सभी ने नि.सकोच ग्रहण नहीं किया, देश मे इस भ्रमण के विरुद्ध आवाज बराबर ही उठती रही। उन्हे इस प्रकार के भ्रमण से विरत होने के लिए कहा जाता था। वृद्धावस्था में गुरुदेव जनसाधारण की इच्छा को मान लेने के लिए बाध्य हो गए थे, किन्तु मैं जानता हूँ कि उनके अन्तर ने इसका समर्थन नहीं किया। धन की दृष्टि से इस भ्रमण की सफलता उल्लेखयोग्य नही है। धन का अभिप्राय न रहते हुए भी उनके समान यथार्थ शिक्षाविद् का मन इस प्रकार का काम किए बिना रह नहीं सकता था। इन सब यात्राओ के समय उनका जीवन बहुत आराम से नहीं बीतता। रातदिन वे अभिनय के विषय मे चिन्तन करते रहते। प्रतिदिन उसमे परिवर्तन होता। वे गान-रचना करते रहते। इसके आलावा गुरुदेव प्रत्येक शहर के जनसाधारण के समक्ष भाषण करते। इस उपलक्ष्य में उन्हे कितने प्रकार के आयोजनो मे उपस्थित रहना पडता, कितने लोगो के साथ मुलाकात करनी पडती, इसका हिसाब नहीं है। मैंने देखा है कि कभी वे किसी शहर मे नियमित धर्मोपदेश दे रहे हैं। सत्तर वर्ष से अधिक की आयु मे भी उनके कर्मजीवन मे अद्भुत परिश्रम एव जटिलता थी। इन सब के बीच भी वे मुक्त थे। असख्य बन्धनो के बीच मुक्ति की अनुभूति की आकाक्षा उन्होने

अपने यौवनकाल मे व्यक्त की थी, उनके कर्मजीवन को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह केवल कविकल्पना नहीं। असख्य कर्म के बन्धन उनकी मुक्ति-साधना मे बाधा उपस्थित नहीं कर सके। उन्होने अपने जीवन के साथ सामजस्य स्थापित कर उसे प्रस्फुटित करना चाहा था, सम्भवत वे सफल भी हुए थे।

भारतीय संगीत की प्रकृति और बंगला गान

एक दिन मनुष्य को 'सुर' (स्वर-समष्टि) की अनुभूति हुई थी—उस समय उसका रूप अत्यन्त साधारण, पक्षियो की पुकार के समान एक-दो स्वरो पर गठित था। उस स्वरूप मे ही वह अपने सागीतिक मनोभाव प्रकट करता था। इसके बाद उसे एक-दो स्वरो की गठन-प्रणाली की सहायता से मत्र-पाठ के सुर से शुरू कर विभिन्न प्रदेशो की विविध रागिनियो का ज्ञान हुआ। उसके बाद उस रागिनी को गाने के विविध ढग, पद्धतियाँ, उसका व्याकरण, शास्त्र, दर्शन आदि का पता चला।

चिन्तन, ज्ञान, कर्म, साहित्य, शिल्प और धन मे भारत की प्राचीन सभ्यता का जो गौरवमय परिचय मिलता है, सगीत मे भी उसका परिचय कम नहीं है। सगीत सचल और प्राणवान् था, उसका एकमात्र उदाहरण है युग-युग मे भारतीय सगीत मे विविध पद्धतियो का उदय। उदाहरणस्वरूप हिन्दुस्थानी सगीत मे ध्रुपद, खयाल, टप्पा, ठुमरी, गजल, तराना आदि एव विविध प्रकार के प्रादेशिक सगीत के विविध ढग का उल्लेख किया जा सकता है। इनमे दक्षिण भारत के कर्नाटक सगीत ने एक विशेष स्थान ग्रहण किया है।

ज्ञान-विज्ञान, विविध कर्म और सम्पत्ति मे यूरोप काफी अग्रसर जाति के रूप मे स्वीकृत है। ठीक इसी परिमाण मे उनका सगीत विकसित हुआ है, ऐसा भी कहा जा सकता है, किन्तु हमे यह देखना होगा कि सगीत मे वे किस मार्ग पर अग्रसर हुए हैं—हमारे साथ उनका मेल क्या है ? हार्मनी सगीत मे वे जितना आगे बढे हैं, एकाकी कण्ठ्य एव वाद्य सगीत मे वैसा दिखाई नहीं देता। कई वाद्यो और बहुसख्यक गायको के समवेत् सगीत की रचना मे वे अभ्यस्त हैं—स्वरसयोग के अलावा एकक गायन या वाद्य सगीत की बात वे आजकल सोच भी नहीं सकते। हम भी एकक वाद्य वादन और गायन के इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि हार्मनी सगीत मे हमारा देश यथार्थ आनन्द अनुभव नहीं करता। यूरोप के प्रभाव से भारत मे वाद्य एवं कण्ठ्य सगीत के क्षेत्र मे समवेत् रचना की जो चेष्टा की गई, उसके रूप मे आज तक मात्र एकक संगीत के सशब्द सस्करण ही प्रकट हुए हैं। उनका ठीक अनुकरण करना भी सम्भव नहीं हुआ और आज तक इस दिशा मे कोई नया आविष्कार भी नहीं हुआ। किन्तु इस दिशा में कुछ नया करने की अभिरुचि देखी है, किन्तु प्रबल आकांक्षा के अभाव मे जो कुछ रचना हुई है, वह 'सृष्टि' की श्रेणी मे रखने के योग्य नहीं है।

सगीतज्ञों के एक दल के अन्तर मे इस प्रकार के मनोभाव ने स्थान बना लिया है कि सगीत के क्षेत्र मे यूरोप ने जो मार्ग अपनाया है, हमे भी उसी पथ पर जाना चाहिए,

किन्तु सगीत-उस्तादो में आज भी वैसा मनोभाव नही है। सम्मेलक सगीत या हार्मनी सगीत हमारे देश मे नहीं है इसलिए हम सगीत मे पिछड गए हैं, ऐसे विचार यदि किसी के मन मे उदित होते हैं तो मै सोचता हूँ कि इस पर ठीक ढग से विचार नहीं किया गया। वे जिस प्रकार हार्मनी सगीत मे कुशल हैं, उसी प्रकार हम एकक कण्ठ्य एव वाद्य सगीत मे आलाप, विस्तार, तानवैचित्र्य-प्रदर्शन मे दक्ष हैं। ठीक इसी प्रकार की प्रस्तुति वे कर सकेंगे, ऐसा नही लगता।

यूरोप मे सगीत को वहाँ के मानव-समाज का गान कहा जाता है, अर्थात् कहा जाता है कि वे सगीत मे मनुष्य के जगत् को रूप देने की चेष्टा कर रहे है। भारतवर्ष ने मनुष्य के कर्ममय जीवन को ठीक ढग से समझकर ही उस जीवन के और एक पक्ष का चिन्तन कर सगीत को उस दृष्टिकोण से सचल किया है। 'निरुद्यम अवकाश' भारत का आदर्श नही था—उसने कर्म मे ही शान्ति प्राप्त करनी चाही। इसीलिए भारत ने कहा है कि अपनी सुख-सुविधा की बात न सोचकर 'कर्म ही जीवन' का आदर्श मानकर कर्म करते रहो। इस आदर्शगत पार्थक्य के कारण ही भारत के सगीत मे निरासक्त कर्मजीवन का 'सुर' मिलता है, इसके अलावा और कुछ नहीं। इसीलिए हम क्या नहीं देखते कि हमारे देश मे मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक एव उसके बाद भी उन्हे लक्ष्य कर गीत गाये जाते है। रुदन और कथोपकथन भी सुर मे होता है। विविध सामाजिक उत्सवो मे सगीत अविभाज्य अग था। गान के 'सुर' मे लोकशिक्षा की व्यवस्था थी। हमारे देश मे गान के माध्यम से साधारण धर्मशिक्षा से शुरू कर अति उच्चस्तरीय ज्ञान की वाणी जिस तरह प्रचलित चली आ रही है, ऐसी प्रणाली अन्य किसी देश मे नही दिखाई देती। इस देश के कई धर्मप्रचारको ने अपने धर्ममत का प्रचार गान के माध्यम से किया है। भिक्षा प्राप्ति के लिए भी गान ही भिक्षुको के लिए प्रधान सम्बल रहा। कृषक, मजदूर, मल्लाह आदि अपने मनमौज से गाते चलते है। इस प्रकार जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध जो गान है, वे भारतीय समाज के लिए नहीं, ऐसा कह सकते है क्या ? इन सब गानो में भारतीय समाज के प्रत्येक स्तर के मन का विकास क्या परिलक्षित नहीं होता ? यूरोप की प्रचलित धारा या आदर्श के साथ इसका मेल नहीं, इस कारण क्या इसे अवास्तविक, बनावटी कहा जा सकता है ?

मेरे मत से भारत के लिए गान गाना ही हुआ उसके सामाजिक जीवन के प्राण का लक्षण। दोनो देशो के लोगो के प्राण सगीत मे मुखरित हुए है, किन्तु भिन्न धारा मे। इसका कारण यह है कि उनका सामाजिक चिन्तन, चारो ओर की विश्व प्रकृति, हमारे सामाजिक चिन्तन और विश्व प्रकृति के समान ठीक एक ही नियम से मन में क्रियाशील नहीं है। इसीलिए उनके द्वारा उपलब्ध सगीत ने जिस रूप में स्वरूप धारण किया है, वह हमारे सगीत से मेल नही खाता।

एक विषय पर ध्यान देने से पता चलेगा कि सगीत का आदर्श और पथ साधारणतया प्रत्येक जाति के ज्ञान या धर्म चिन्तन के विकास के साथ-साथ एक आदर्श रूप में विकसित होता है। यूरोप मे गेटे शिलार के युग में ही बिथोवन के समान सगीत-रचयिता का होना सभव है। यूरोप की धर्मसाधना अकेले की साधना नहीं है, यह सबके एक साथ मिलन

की साधना है। उनके समाज मे विशेष दिन, विशेष समय मे धर्मचिन्तन या परिशीलन या चर्चा निबद्ध है। इस प्रकार वाद्य संगीत एव कण्ठ्य सगीत के बहुजन-सम्मिलन के वे अभ्यस्त हो गए है। बहुजन-समन्वय के बिना वहाँ गान सुनाना असम्भव है। उसके लिए विशेष स्थान की जरूरत होती है।

हमारे देश मे धर्म-चर्चा को अकेले की साधना कहा जाता है। खाने के लिए बैठते, उठते, सोते, भ्रमण करते, विश्राम करते, आनन्द मे, प्रतिदिन के कर्म मे धर्म-चर्चा को इस प्रकार सम्बद्ध कर दिया गया है कि प्रत्येक मनुष्य किसी भी अवस्था मे अकेला ही उसकी साधना के पथ पर अग्रसर हो सकता है। हमारे देश के गान भी ठीक इसी प्रकार व्यक्ति-केन्द्रित है। मनुष्य ने अकेले ही इसके अनुशीलन और साधना मे आनन्द अनुभव किया है।

हम देखते हैं कि इस जगत् मे सगीत की दो मूल धाराएँ है। एक है शब्द रहित 'सुर' का सगीत और दूसरा है शब्द और 'सुर' के सहयोग से रचित गान। भारत के प्राण मे इन दोनो धाराओ ने समान स्थान पाया है एव एक धारा अन्य की पूरक भी है। यूरोप मे भी इन दो धाराओ का क्रमिक विकास दिखाई देता है। एक धारा कभी अन्य को क्षति नहीं पहुँचाती। किसी एक मे प्राणहीनता के लक्षण दिखाई देते ही ऐसा लगने लगता है कि अन्य भी मृतप्राय है।

सगीत का आदिपरिचय देना आज सम्भव नही। मिट्टी का स्तर देखकर भूतत्त्वविद् साहस के साथ कह सके है कि पृथिवी की आयु कितनी है। उनका यह दावा है कि वे यह ठीक-ठीक बता सके है कि प्राणिजगत् का आविर्भाव कब हुआ, मनुष्य की सृष्टि कब हुई। इस दावे के कारण है कुछ बाह्य प्रमाण। किन्तु सगीत के क्षेत्र मे बाह्य प्रमाण भी असम्भव है। उस युग के सगीत के बाह्य प्रमाण मिट्टी के नीचे नहीं दब गए, जिन्हे खनन द्वारा निकाल कर उनके आधार पर इस सम्बन्ध मे कुछ कहा जा सके। किन्तु बुद्धि, विचार और विशुद्ध अनुमान के बल पर कई गुणियो ने आदिम मानव के सुरजगत् के बारे मे निर्णय करने का प्रयास किया और बताया कि मनुष्य को पहले स्वर मिला और बाद मे शब्द। उनका यह भी अनुमान है कि मनुष्य ने जिस दिन से बोलना सीखा, उसी दिन से उसने गाना शुरू किया। शब्द के साथ मिलकर 'सुर' ने अन्य रूप धारण किया, किन्तु उसने अपना निजस्व रूप खोया नहीं। उसका प्रधान नमूना है वाद्य सगीत, हिन्दुस्थानी कण्ठ्य सगीत का आलाप, तान विस्तार मे भी इस बात की सार्थकता प्रमाणित होती है।

केवल 'सुर' की साधना का और एक विशेष एव उल्लेखयोग्य प्रमाण है यूरोप का सम्मेलक वाद्य सगीत, उसकी सहायता से या उसी के परिवेष्टन मे गाया जाने वाला कण्ठ्य सगीत। केवल सुर के जगत् को कितने विचित्र रूप मे रूपायित किया जा सकता है, यूरोप ने इस विषय मे प्रचुर नव-नव उद्भावनशक्ति का परिचय दिया है।

दूसरी ओर शब्द और 'सुर' के मिलन के नमूने के तौर पर विभिन्न भाषाओ के उच्च एव लोकसगीत को लिया जा सकता है। साधारणतया हमारा विश्वास और धारणा है कि हिन्दुस्थानी कण्ठ्य सगीत मे कभी भी गान मे शब्दो को अधिक महत्त्व नही दिया जाता।

उनके लिए 'सुर' ही प्रधान है, शब्द उपलक्ष्य मात्र हैं। रागिनी की रचना के लिए वे कुछ शब्दो का व्यवहारमात्र करते हैं। व्यक्तिगत रूप से मेरी इस मत मे आस्था नहीं है। इसका कारण क्या है, बताता हूँ।

उस्ताद हिन्दुस्थानी गान मे शब्दो को महत्त्व अवश्य नहीं देते, किन्तु शब्दो के अन्तर्निहित भाव को गान मे विशेष रूप से प्रस्फुटित करने मे वे सचेष्ट रहे है, आकाक्षी भी। हिन्दुस्थानी कण्ठ्य सगीत मे आलाप और तराना को छोडकर सब प्रकार की शैलियो मे हमे अर्थपूर्ण छोटी-छोटी चार या आठ पक्तियो का काव्य मिलेगा। ध्यान से अध्ययन करने पर पता चला है कि हिन्दुस्थानी संगीत मे सभी यथार्थ स्रष्टा प्राय स्वय शब्दयुक्त सगीत की रचना कर गए है एवं उन सब गानो के शब्द-चयन में उच्चस्तरीय साहित्यिक प्रतिभा का परिचय भले न मिले, किन्तु वे रस-भाव से परिपूर्ण हैं। साहित्यिक दृष्टि से कविता मे जो अभाव दिखाई दिया है, उसकी पूर्ति रागिनी की सहायता से हुई है। वे सब स्रष्टा 'सुर' के राजा थे, इसीलिए उन्होने साहित्यिक त्रुटि को बहुत बडी त्रुटि नहीं माना।

अमीर खुसरो स्वय ख्यातिप्राप्त कवि थे। उनके गानो की भाषा और भाव उच्चस्तरीय थे। ध्रुपदिया तानसेन रचित गान भी इसी प्रकार भावसम्पद से पूर्ण थे। परवर्ती युग मे खयाल गान के प्रवर्तक सदारग और अदारंग की रचनाओ मे ऐसे कई अच्छे-अच्छे गान मिलते हैं जो कवित्व रस की दृष्टि से समृद्ध है। टप्पा, ठुमरी और गजल में प्रेम, विरह का जो एक मधुर रस व्यक्त होता है, उसका मूल्य क्या कम है ?

कुछ दिन पूर्व मैंने एक महफिल मे उत्तरभारत के एक अन्यतम विख्यात गायक से भैरवी ठुमरी सुनी। उस दिन गाते-गाते अचानक वे बोल उठे कि "लोग कहते हैं कि गायक शब्दो की ओर विशेष ध्यान नहीं देते, किन्तु मेरे मत से यह बात ठीक नहीं है।" उस दिन उन्होंने जो गान पेश किया उसके शब्द ऊपरी दृष्टि से अत्यन्त सामान्य लगेगे, किन्तु इस सामान्य शब्द-विन्यास के माध्यम से नायिका के अन्तर की वेदना प्रकट हो रही थी, वह क्या यथार्थ नहीं है ? वे कह रहे थे कि यदि गायक भैरवी के स्वरो के माध्यम से उस वेदना को प्रकट नहीं कर सकते तो यह गान प्रस्तुत करना वृथा है। उनके समक्ष गान के शब्दो का यहीं मूल्य है। वास्तविक स्रष्टाओं ने हिन्दुस्थानी गान के इस आदर्श के अनुसार ही गान-रचना की है और गाया है। शब्द का व्यवहार उन्होंने कभी अर्थहीन रूप में करना नहीं चाहा। उस्तादों के द्वारा ही यह कार्य किया गया है। उन्होंने शब्दो को उपलक्ष्य बनाया और गायन के क्षेत्र में 'सुर' और छन्द का युद्ध प्रदर्शित किया। सगीत-स्रष्टा और उस्तादों मे यह पार्थक्य सभी को ध्यान मे रखना होगा, एक रूप मे देखने से काम नहीं चलेगा।

हमारे देश में शब्द और 'सुर' के मिश्रण के जो गान हैं, उनका प्राचुर्य और वैचित्र्य वाद्यसगीत की अपेक्षा काफी अधिक है। वाद्यसंगीत ने स्वतत्र रूप से कुछ विशेष उन्नति नहीं की। हमारे देश में गान का इतना अधिक प्राधान्य क्यों है ? इसका उत्तर गुरुदेव की भाषा मे .

"शब्द मनुष्य के ही हैं और गान प्रकृति का। शब्द सुस्पष्ट एवं विशेष प्रयोजन द्वारा सीमाबद्ध हैं, जबकि गान अस्पष्ट एवं सीमाहीनता की व्याकुलता से उत्कंठित है। इसीलिए

शब्द से मनुष्य मानवलोक के साथ एव गान से मनुष्य विश्व प्रकृति के साथ एकरूप होता है। इसीलिए जब मनुष्य शब्द के साथ 'सुर' जोड देता है तब वही शब्द अपने अर्थ को स्वय पार कर व्याप्त हो जाता है—उस 'सुर' मे मनुष्य के सुख-दु ख समस्त आकाश की वस्तु बन जाते है, उसकी वेदना प्रभात-सन्ध्या के दिगन्त मे अपना रग मिला देती है, जगत् के विराट् अव्यक्त के साथ युक्त होकर अपरूपता प्राप्त करती है। इसीलिए अपने प्रतिदिन की भाषा के साथ प्रकृति की चिरदिन की भाषा मिला देने के लिए मनुष्य का मन शुरू से ही प्रयास करता रहा है।"

सगीत की सहायता से मनुष्य अपने आनन्दमय स्वरूप को देख सकता है इसीलिए जो भगवान मे विश्वास करते है, उन्होने कहा है कि इसके द्वारा ही भगवान की पूजा, सान्निध्य सम्भव है। एव उनकी 'नादब्रह्म' रूपी तत्त्वकथा आज हमारे लिए अर्थहीन होते हुए भी उनके लिए यह अति गभीर सत्य थी। पूर्व-पुरुषो की इस बात मे क्या कोई सत्य नहीं था ? उनकी इस चिन्तनधारा को बिना सोचे-समझे उडा देना उचित नही है। इस हेतु जीवन समर्पित कर जो अनुभव हमारे समक्ष वे रख गए हैं, हम इस युग मे बृद्धि से उसे समझने या जानने की चेष्टा करते हैं, इसीलिए इन सब बातो का कोई अर्थ हम खोज नही पा रहे हैं। यदि हम उनके चिन्तन को उनकी जीवनचर्या के माध्यम से नहीं देख सकते तो नैयायिक के समान युक्ति व तर्क से उनका स्वरूप खडा करने का जितना भी प्रयास करना चाहेंगे, उस मर्म तक पहुँचना उतना ही असम्भव हो जाएगा।

यथार्थ स्रष्टा, कवि या शिल्पी ऐसी एक मानसिक अवस्था मे रचना करते है कि उनकी उस अनुभूति के साथ पाठक एव दर्शक अपने जीवन के सुर को जितने परिमाण मे बॉध रख सकेंगे, उतना ही वह शिल्प या कविता उनके समक्ष प्राणवान् हो सकेगी। ससार मे बडे कवियो और शिल्पियो की जीवनचर्या के साथ जीवनादर्श का भेद कभी दिखाई नहीं दिया। सौन्दर्य की अपनी अनुभूति को जीवनचर्या की सहायता से उद्बोधित करने के उदाहरण भी कई हैं।

सगीत के क्षेत्र मे भी ऐसी ही स्थिति है। किसी भी सगीत के रस की उपलब्धि के लिए अपने जीवन को भी सगीत-स्रष्टा की रसानुभूति के सुर मे बॉधने की चेष्टा करनी होगी। ऐसा न कर सकने पर सब कुछ अर्थहीन लगेगा। यह ध्यान मे रखना होगा कि सगीत के जो स्रष्टा हैं उनकी ही बात मैं कह रहा हूँ, जो उस्ताद हैं उनकी बात मैं नही कह रहा हूँ। उस्ताद जिस सीमा तक अपने को स्रष्टा की रसानुभूति की श्रेणी मे उठा सके हैं, उस परिमाण मे ही वे बडे उस्ताद के रूप मे स्वीकृत हुए है।

इसीलिए मेरा कहना है कि भारतीय साधना मे 'नादब्रह्म' तत्त्व या 'सुर' ईश्वरीय शक्ति की लीला है, इस तथ्य पर विश्वास करना हमारे लिए तब तक सम्भव नहीं, जब तक कि हम भारतीय सगीत की इस प्रकार की साधना के साथ अपनी अनुभूति को मिला नहीं लेते। अपनी जीवनचर्या को सगीत के इस 'सुर' मे बॉध न सकने तक भारतीय सगीत का यह मर्मलोक हमे काल्पनिक विलास ही लगेगा। किन्तु आनन्द का विषय यह है कि इस युग मे भी हमे एक-दो ऐसे उस्ताद मिले हैं, जिन्होंने सगीत के इस तत्त्व के बल पर

अपने जीवन को बनाने की विशेष चेष्टा की थी।

एक विख्यात वाद्य सगीतज्ञ को मैं जानता हूँ, जो बहुत दिन पहले इस ससार से विदा हो गए। वृद्धावस्था मे वे अपना वादन श्रोताओ को सुनाने के लिए उत्साही नही थे। वे रोज मध्यरात्रि मे अपने निवास की छत पर बैठकर प्रकृति के निर्जन आवेष्टन मे अपने वाद्य पर राग-रागिनी का आलाप प्रात काल तक बजाते। कोई भी श्रोता वहाँ जाकर उन्हे तग नहीं कर सकता था। जो वह आलाप सुनने के उत्साही थे वे उस्ताद के निवासस्थान के सामने रास्ते पर खडे रहकर सुनते थे। उस्ताद का विश्वास था कि रागिनी-लोक की लीला को विश्वप्रकृति के इस प्रकार के निर्जन आवेष्टन मे ही अनुभव किया जाता है। ऐसा न होने पर इसके आतरिक प्रकृत रस की उपलब्धि नही की जा सकती। उस्ताद की इस बात पर वे ही विश्वास करेगे जो भारतीय सगीत के इस रस की खोज रखते है। इस प्रकार के और उस्तादो के दृष्टान्त दिए जा सकते है, किन्तु उनके बारे मे और न बताकर सगीत की यह लीला गुरुदेव के समक्ष किस प्रकार व्यक्त हुई, वही कहूँगा।

एक चिट्ठी मे उन्होने लिखा

"आज तक मैं किसी भी प्रकार से यह निश्चित नहीं कर सका कि सगीत सुनने पर अन्तर मे जिस अनिर्वचनीय भाव का सचार होता है, उसका ठीक तात्पर्य क्या है। तथापि प्रत्येक बार मन अपने इस भाव का विश्लेषण करने की चेष्टा करता है। मैंने देखा है कि गान का सुर रजक ढग से बज उठते ही नशा ठीक ब्रह्मरन्ध्र को स्पर्श करता है एव उसी क्षण यह जन्ममृत्यु का ससार, यह आवागमन का देश, यह काजकर्म की प्रकाश-अन्धार पृथिवी बहुत दूर, जैसे पद्मानदी के उस पार चली जाती है—वहाँ से समस्त ही एक छवि के समान लगता है। हमारे समक्ष हमारे प्रतिदिन का ससार ठीक सामजस्यमय नहीं है—उसका कोई एक तुच्छ अश बेहद बडा है, क्षुधातृष्णा, झगडाटटा, आरामव्याराम, तुच्छ विषय, छोटी-मोटी आवश्यकताएँ, छोटे-मोटे झगडे—इनमे से प्रत्येक ने वर्तमान मुहूर्त को कटंकित कर दिया है—किन्तु सगीत अपने आन्तरिक सुन्दर सामजस्य के द्वारा क्षणभर मे समस्त ससार को न जाने किस प्रकार के मोहमंत्र से ऐसी एक ससृष्टि मे ले जाता है, जहाँ उसका क्षुद्र क्षणस्थायी असामजस्य नजर नहीं आता—एक समग्र, एक बृहत्, एक नित्य सामजस्य द्वारा समस्त पृथिवी छवि के समान हो गई है, एव मनुष्य की जन्ममृत्यु, हँसना-रोना, भूत, भविष्यत्, वर्तमान की पर्याय एक कविता के सकरुण छन्द के समान कानों मे सुनाई देती है—उसके साथ अपनी-अपनी व्यक्तिगत प्रबलता, तीव्रता का ह्रास हो गया है, हम काफी छोटे हो गए है एव एक सगीतमय विस्तीर्णता मे अत्यन्त सहज भाव से हम आत्मविसर्जन कर देते हैं। क्षुद्र और कृत्रिम सामाजिक बन्धन समाज के लिए विशेष उपयोगी है, तथापि सगीत एव उच्चाग आर्ट मात्र से ही उनकी अकिंचित्करता की क्षणभर मे ही उपलब्धि हो जाती है—इसीलिए अच्छा गान या कविता सुनने पर हमारे चित्त में चाचल्य का संचार होता है—समाज की लौकिकता का बन्धन छिन्न कर नित्य सौन्दर्य की स्वाधीनता के लिए मन मे एक निष्फल सग्राम की सृष्टि हो सकती है—सौन्दर्य मात्र से ही हमारे मन में अनित्य के साथ नित्य का विरोध शुरू होता है, जिससे अकारण वेदना की सृष्टि होती है।"

सक्षेप मे इसका अर्थ यह है कि "हमारा सगीत ही भूमा, विराट् का 'सुर' है, उसका वैराग्य, उसकी शान्ति, उसकी गम्भीरता समस्त सकीर्ण उत्तेजना को नष्ट करने के लिए है।"

सगीत की इस अनुभूति को ही दूसरे शब्दो मे कहते है अहेतुक आनन्द। गुरुदेव ने इस कथन को ही और सुन्दर शब्दो मे कहा है "वैराग्य का आनन्द"। यह कथन उनके ही जीवन की अभिज्ञता से उपलब्ध अनुभूति की बात है, सगीत-रस से अनभिज्ञ लोगो का यह कथन नही कि जिसकी हठात् उपेक्षा की जा सके।

यूरोप के सगीत की बात सोचकर सम्भवत यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या वे इस प्रकार के चिन्तन मे विश्वास करते है ? हाल मे प्रकाशित लेखो से उनके मतामत उद्धृत करता हूँ। अमरीका के चिन्तनशील सगीत शिक्षको का एक वर्ग ग्राम के साधारण विद्यालय के छात्रो और छात्राओ को किस आदर्श पर चलाना चाहता है, उसका निर्देश देते हुए उस वर्ग ने कहा है

"Educators today are pointing out the need for spiritual and cultural emphasis in education as opposed to the strictly material and utilitarian conception They feel the truth of the Master's words that "Man cannot live by bread alone", and that our children, in rural as well as in urban communities, must be taught the fine art of living Both educators and sociologists agree that music possesses outstanding values for child development and makes vital contribution to a richer, fuller life "

अन्य एक सगीतज्ञ ने अपने एक लेख मे लिखा है

"Music is the only one of the arts which cannot corrupt the mind It is this negative quality of music, the ideal of all art, that makes it so well suited to serve as the first and foremost cultural art in the spiritual education of the young."

इन लेखो से स्पष्ट रूप से समझ मे आता है कि वहाँ के एक वर्ग मे सगीत के सम्बन्ध मे भिन्न मत परिलक्षित हुआ है। उस वर्ग ने 'नादब्रह्म' के समान तत्त्व की बात नहीं कही है, ऐसा लगता है कि वे वैराग्य के आनन्द या जागतिक सुख-दु ख के जीवन को भुला देने वाले आनन्द मे आस्था रखते हैं।

अहेतुक या वैराग्य का आनन्द ही सगीत का मूल रस है, इसीलिए समग्र रूप से भारतीय सगीत मे किस प्रकार के शब्दो का विन्यास किया जाए, इस सम्बन्ध मे आलोचना करने पर हम बगाल के गान की गति और प्रकृति को ठीक ढग से समझ सकेगे।

भारतवर्ष के लोकसगीत, उच्च श्रेणी के प्रादेशिक सगीत और हिन्दुस्थानी सगीत की बात पर यदि हम विचार करे तो हमे पता चलेगा कि दो प्रधान विषय लेकर गान के शब्दो

का विन्यास है, उनमें एक है भगवान की वदना और दूसरा है प्रेम। भगवान की पूजावन्दना के गानो की अपेक्षा प्रेम के गानो का प्राधान्य अधिक है। इनमे भगवत्प्रेम, मानविक प्रेम दोनो ही है। ये दो विषय ही लोकसंगीत से शुरू कर सभी प्रकार के भारतीय सगीत के मूल विषय हैं। गान मे मात्र इन दो विषयो को ही विशेष रूप से प्राधान्य क्यो मिला ? इसका कारण यह है कि देवता की वन्दना और प्रेम में चाहे वह ईश्वरीय हो या मानविक, एक आनन्द है। वही है "वैराग्य का आनन्द"। इस आनन्द मे मनुष्य अपनी सत्ता को देवता के उद्देश्य से या प्रेमास्पद के समक्ष पूर्णतया लुप्त करना चाहता है। अपने को पृथक् रूप मे देखने की उसकी इच्छा नहीं होती। पूजा के द्वारा, प्रेम के द्वारा मनुष्य अन्यो के बीच अपने को पूर्णतया विलीन कर देना चाहता है। विलीन कर देने की आकाक्षा की तीव्रता से मन मे एक विशेष वेदना जाग्रत होती है। इस वेदना की गभीरता मे आकाक्षा-पूरण का साक्ष्य मिलता है इसीलिए मनुष्य आनन्द अनुभव करता है। इसीलिए कहा गया है कि गभीर वेदना आनन्द का ही एक रूप है। इस वेदना की अन्य अभिव्यक्ति, प्रकाश है सगीत। बॉसुरी के सुर, वीणा की झकार या किसी भी वाद्य के वादन से हमारा मन क्या इसी प्रकार की एक अकारण वेदना से भर नही उठता ? इस अकारण वेदना को हम बार-बार अनुभव करना चाहते है, इसीलिए हम वाद्य-वादन सुनना इतना पसन्द करते हैं।

अत पूजा या प्रेम-निवेदन के साथ विशुद्ध सगीत का यही मेल मिलता है, इसीलिए मनुष्य इतने सहज भाव से दोनो को एक कर सका है।

सम्भवत कई लोगो का ध्यान इस ओर गया है कि भारतीय सगीत मे साधारणतया अन्य किसी रस के गान को प्राधान्य नहीं मिला है। सगीत के युगान्तरकारी साधक, स्रष्टा कभी हास्यरस या वीररस के गानो की रचना मे उत्साही नहीं रहे। प्राचीन भारतीय उच्च सगीत की किसी भी धारा मे इस प्रकार के गानो की रचना नही हुई। किन्तु ऐसा होते हुए भी कोई यह नहीं मान ले कि भारत मे ओजपूर्ण, सशक्त गानो की रचना नहीं हुई। प्राचीन ध्रुपद-संगीत मे इस प्रकार के गानो का परिचय मिलता है। किन्तु वह आनन्द, उल्लास का ओज है। हास्यरस लोक सगीत मे मिलता है, किन्तु गान के जगत् ने उसे अधिक सम्मान की नजर से कभी नहीं देखा, अन्त्यज के समान ही उसकी अवज्ञा हुई है।

निर्मल प्रेम के गान, कितने ही पुरातन हो, आज भी हमारे अन्तर मे गभीर आनन्द का सचार करते है। बगाल कवियो का प्रदेश है। अत्यन्त प्राचीन काल से साहित्य की अन्यान्य शाखाओ का जितना विकास हुआ है, उससे कहीं अधिक विकास काव्य-साहित्य का दिखाई देता है। ये सब काव्य गान के सुर से ही गाए गए है। बौद्ध युग की चर्यागीति रागरागिनी-तालमानलय युक्त उच्चांग धर्मसगीत था। जयदेव का गीतगोविन्द, चण्डीदास की पदावली और चैतन्यदेव के समय से आरम्भ कर परवर्ती युग की गीत कविता विशाल प्रेम सगीत का जगत् है। उच्चांग (शास्त्रीय) सगीत के सृजन के विषय में बगाल 'सुर' और शैली को लेकर कई अशो मे हिन्दी गान का विशेष ऋणी है। किन्तु किस प्रकार बगाल ने अपनी भाषा के साथ उसका मेल किया है और उसे पृथक् रूप प्रदान किया है, यह आलोचना का विषय है।

कई गुणियो का विश्वास है कि हिन्दुस्थानी उच्चसगीत की शैली और उसकी रागरागिनी के प्रभाव से कीर्तन-गान की शैली और स्वर-समष्टि मे काफी वैचित्र्य आ गया। पडितो ने कहा है कि हिन्दी गान के ध्रुपद, खयाल, टप्पा के अनुकरण से ही 'मनोहर साई', 'गरानहाटि' और 'रेनेटि' नामक तीन शैलियो की सृष्टि हुई है। यहाँ तक कि इन सब गानो के ताल भी ध्रुपद, खयाल, टप्पा गान के तालो से मिलते है। आधुनिक हिन्दी गान और इन शैलियो के गान मे कई स्थलो पर प्रभेद दिखाई देता है। अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचार किए बिना मेल का पता लगाना मुश्किल है।

वृन्दावन के बगाली वैष्णवगुरु नरोत्तम गोस्वामी यह कीर्तन-गान आरम्भ कर गए। उनके प्रयास से इस प्रदेश मे इसका प्रचलन हुआ। षोडश शताब्दी के अन्तिम काल मे नरोत्तम गोस्वामी ने राजशाही आकर कीर्तन-गान का एक विराट् जलसा आयोजित किया। उस जलसे मे योगदान करने के लिए बगाल के तत्कालीन कई गायक और वादक वहाँ एकत्र हुए। इस समय वृन्दावन, मथुरा, दिल्ली, आगरा, ग्वालियर आदि अचल सगीत के बडे केन्द्रो के रूप मे परिचित थे। वह युग तानसेन का युग था। वृन्दावन और मथुरा अचलो मे सगीतसाधक अधिक रहते थे। और दिल्ली-आगरा-ग्वालियर मे बडे-बडे उस्ताद और गुणी रहते थे। नरोत्तम गोस्वामी के साथ यह सगीतधारा राजशाही पहुँची। इन्होंने पश्चिमी अचल की राग-रागिनियो का नए ढग से प्रवर्तन किया।

इसके पूर्व बगाली समाज मे जयदेव एव चण्डीदास के गान प्रचलित थे। इसके अलावा चैतन्यदेव के समय मे भी जिन गानो की रचना हुई थी, उन्हे भी इस प्रदेश के लोग गाते थे। इन सब गानो मे राग-रागिनियो का उल्लेख है, किन्तु गाने का ढग ठीक क्या था, बताना मुश्किल है। ये गान भी नरोत्तम गोस्वामी के पूर्व पश्चिम भारत की रागिनियो से समृद्ध हुए थे। नरोत्तम गोस्वामी ने नव प्रेरणा से कीर्तन को नए ढग से उद्बोधित किया। 'सुर' (स्वर-समष्टि, धुन) को ठीक उसी रूप मे कायम रख सकने की कोई वैज्ञानिक प्रथा पूर्व युग मे न रहने के कारण अलग-अलग लोगो के कण्ठ से ये गान अलग-अलग ढग से सुनाई देते। इसी कारण यह 'सुर' आज परिवर्तित रूप मे हमारे सामने है। कीर्तन मे भावरस और रागिनी का मिलन आदर्शस्वरूप है।

वैष्णव पदावली के कई शताब्दियो पूर्व रचित है 'चर्यागीति'। ये बगाली बौद्धो के गान है। उनमे राग-रागिनियो का उल्लेख है। किन्तु यह कोई भी नहीं कह सकता कि आजकल की रागिनियाँ और उस समय की रागिनियाँ एक हैं। रागिनी के साथ बगला भाषा के मिलन से रचना का परिचय उस प्राचीन युग से ही हमे मिलता रहा है और यह माना जा सकता है कि रागिनी और शब्दो (काव्य) की उनकी मिलन—चेष्टा सार्थक हुई थी। इन गानो का मर्म और पक्ति-विभाग देखकर, सहजिया बौद्धो के गान के रूप मे उनकी परिचिति की बात सोचकर मुझे लगता है कि ये गान बगाल के बाउल-गान के समान ही बौद्ध युग के किसी एक सम्प्रदाय के गान हैं। लगता है कि इन्होने ही युगोपयोगी परिवर्तन के साथ-साथ इस युग मे बाउल नाम से प्रसिद्धि प्राप्त की। शब्द और रागिनी का मिलन बाउल-गान का अपना विशेष वैशिष्ट्य है। यद्यपि वे राग-रागिनी का कोई उल्लेख नही करते, उनके

गानो मे राग-रागिनी का उल्लेख नहीं है और उनके द्वारा लिखित ऐसी कोई पुस्तक भी नहीं मिलती जिसमे ऐसा उल्लेख हो, किन्तु श्रवण-अभिज्ञता से मैने अनुभव किया है कि इन सब गानो मे वे कई प्रकार की रागिनियो का प्रयोग करते है। किन्तु वे स्वय ध्यान नहीं देते या नहीं जानते कि वे किस स्वर-सगति का प्रयोग कर रहे है।

बगालियो की सगीत-साधना का और एक उल्लेखयोग्य युग था रामनिधि गुप्त का युग, अर्थात् निधुबाबू के टप्पा सगीत का युग, जिसका प्रभाव ऊनविश शताब्दी के बगाल के सब प्रकार के सगीत पर पडा था। उनका जन्म ११४८ बगाब्द (ई १७४१) मे हुआ। बिहार के छपरा जिले की नवप्रतिष्ठित कम्पनी के अन्तर्गत सरकारी सेवा मे वे कुछ समय तक रहे, उस काल मे उन्होने एक विख्यात उस्ताद से गायन-वादन की शिक्षा पाई। शिक्षा-समाप्ति के बाद उन्होने स्वय गायन-वादन प्रस्तुत करना शुरू कर दिया। वे १२३५ बगाब्द (ई १८२८) तक जीवित थे। ईसवी अष्टादश शताब्दी के अन्त मे और ईसवी ऊनविश शताब्दी के प्रथमार्ध तक उनके द्वारा रचित टप्पा-गान से कलकत्ता का शिक्षित बगाली समाज मुग्ध हो गया था। इसी की सहायता से उस समय के आखडाई गान के 'सुर' की भी रचना होती थी। उस समय के बगाल के सगीतानुरागी जमीदार उनके विशेष अनुरागी थे। पेशावर बाइजी भी उनके गान के लिए उनकी बडी श्रद्धा करती थीं। पता चला कि नवप्रतिष्ठित ब्राह्मसमाज की उपासना के लिए भी उन्होने ब्रह्मसगीत की रचना की थी। राजा राममोहन राय ने यह ब्रह्मसगीत सुना था। इस प्रकार समाज के विभिन्न स्तरो पर उनके (निधुबाबू के) सगीत का प्रभाव दिखाई दिया था। एव धीरे-धीरे उनके द्वारा रचित टप्पा की शैली का प्रभाव बगाल की यात्रा, कथकता, कविगान, यहॉ तक कि उस समय के कीर्तन गान पर भी पडा था। निधुबाबू की रचना का विषय था प्रेम। उनके टप्पा को शोरी मियॉ के टप्पा का हूबहू अनुकरण कहना भूल होगा। गाने के ढग और अलकार मे उन्होने कई परिवर्तन किए थे।

निधुबाबू के बाद से गुरुदेव के समय तक बगाल मे ऐसा प्रभावशाली बगाली संगीत रचनाकार और नहीं मिलता।

राजा राममोहन राय से आरम्भ कर ब्राह्मसमाज के प्रोत्साहन से बगालियो ने कई ध्रुपद और खयाल की रचना की थी। किन्तु उन सब गानो मे शब्द-विन्यास किसी और का है और स्वर-सयोजन उस्तादों का है। अर्थात् हिन्दी गान के शब्द-विन्यास का छन्द मिलाकर उपासना के उपयोगी शब्द-विन्यासमात्र किया जाता था, अत इस प्रकार की रचना को किसी भी दृष्टि से यथार्थ, असली रचना नहीं कहा जा सकता।

इस युग के ध्रुपद, खयाल, टप्पा गान के आदर्श से रचित बंगला गान की समालोचना करने पर पता चलता है कि बगाली शब्द-विन्यास मे हिन्दी गान का अनुकरण अवश्य नहीं करते थे, किन्तु उन गानो के मूल भाव के प्रति उनकी विशेष श्रद्धा थी। हिन्दी ध्रुपदगान का मूल भाव था भक्ति-पूजा का भाव। बगाल मे इस भाव को पूर्णतया ग्रहण कर ही भक्ति और धर्म के गानों की नवीन ढंग से रचना हुई। खयाल गान के भिन्न ढंग के अनुसार बंगाल मे पूजा और प्रेम के गानो की रचना हुई है। शोरी मियॉ के टप्पा प्रेम के गान

थे, निधुबाबू के प्रेम के गान भी इसी कारण प्रसिद्ध हैं।

गत पचास वर्षो से भी अधिक समय तक गुरुदेव ने जिस प्रकार साहित्य के क्षेत्र मे बगाल का विशेष रूप से परिचालन किया, उसे प्रेरणा प्रदान की है, बगालियो के गान के क्षेत्र मे भी उनका प्रभाव वैसा ही है। उनके धर्मसगीत और प्रेमसगीत दोनो ने समान रूप से देश को प्रभावित किया है। इस प्रकार के गान उनकी रचना की श्रेष्ठ सम्पद हैं। अन्यान्य विषयो के गान भी मिलते हैं, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से इन गानो का स्थान उक्त गानो के बाद है। ऐसा नहीं है कि उन्होने हिन्दुस्थानी ढग के प्रभाव से कुछेक गानो की रचना की, उनके गानो मे ध्रुपद, खयाल, टप्पा के अलावा प्रादेशिक लोकसगीत के विविध रूपो का मिश्रण भी हुआ है। किन्तु ऐसा देखा गया है कि प्रचलित शैली का अनुसरण कर गान रचना करते समय उन्होने भी उन सब गानो के मूल भाव को अपने गानो मे कायम रखा है। भक्ति और पूजा या गम्भीर रस के गान प्राय ध्रुपद और उस युग की खयाल-गायकी मे रचित है। टप्पा का प्रभाव उनके गानो मे, विशेष रूप से उनके प्रेम के विविध गानो मे, प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। बाउल के प्रेम-सगीत के आदर्श से अधिकतर बाउल-सुर का ही सयोजन किया है। गुरुदेव के गानो मे मूलत पूजा या प्रेम ही प्रधान विषयवस्तु है। इसी को उन्होने विविध ढग से, विविध रस मे, विविध उपलक्ष्य से अभिव्यक्त किया है बार-बार।

मैने पहले ही कहा है कि हिन्दी गानो मे भाषा के ऐश्वर्य के अभाव की पूर्ति स्वर-सम्पद से की गई है। बगालियो की भाषा का ऐश्वर्य प्रचुर है। इसीलिए 'सुर' के लिए उन्हे विशेष चिन्ता नही करनी पडी।

राग-रागिनी के व्यवहार की जितनी आवश्यकता है, उसके अनुरूप व्यवहार हुआ है। अर्थात् हिन्दी गान स्वर पर विशेष निर्भर रहते है जबकि बगला गान मे वही स्वर-समष्टि विशेष रूप से शब्द पर निर्भर रहती है। ऐसा होने पर भी यह कहना ठीक नहीं कि शब्द-विन्यास अपनी इच्छा के अनुसार स्वर-समष्टि को रस के क्षेत्र मे परिचालित करता है। बगला गान मे शब्द-विन्यास के साथ मिलाकर रागिनी का प्रतिष्ठापन किया गया है। इसका कारण यह है कि राग-रागिनी मे स्वय भी काव्य के समान रसलोक-सृष्टि की क्षमता है। उसका ठीक ढग से चयन कर काव्य के साथ जोड देना शिल्पी का काम है।

गुरुदेव के समसामयिक और अनुवर्ती रचयिताओ में मैं केवल द्विजेन्द्रलाल, अतुलप्रसाद और नजरुल के नामो का उल्लेख करूगा, क्योकि इनमे से प्रत्येक ने अपने गानो की रचना की है और स्वय स्वर-सयोजन किया है। गुरुदेव के आदर्श के अनुसार ही इन्होने हिन्दी गान के ढग और स्वर-सयोजन के प्रभाव से ही बगला खयाल, ठुमरी और गजल को रूप देने की चेष्टा की थी। काव्य की भाषा और भाव मे गुरुदेव के अनुगामी होते हुए भी उनकी गान-रचना मे कुछ पार्थक्य दिखाई दिया था। द्विजेन्द्रलाल के गानो मे बगाल मे प्रचलित टप्-खयाल अर्थात् टप्पा एव खयालमिश्रित एक प्रकार के गान का प्रभाव अधिक था। इस सम्बन्ध मे उन्हे सुरेन्द्रनाथ मजूमदार से प्रोत्साहन मिला था। सुना जाता है कि टप्-खयाल के वे ही विशेष उत्साही प्रवर्तक थे।

अतुलप्रसाद ने अपने जीवन का अधिक समय लखनऊ शहर मे बिताया। यह नगर ठुमरी का जन्मस्थल है। लखनऊ की ठुमरी से वे विशेष रूप से परिचित थे। इसी कारण ठुमरी ढग के उनके बगला गानो मे नवीनता मिलती है। बगला भाषा ठुमरी को ग्रहण कर लेने पर भी बगला चाल मे काफी अभिनवत्व था।

नजरुल के गजल और राष्ट्रीय भाव-उद्दीपक सगीत के अलावा अन्यान्य गानो को बगालियो का आदर नहीं मिला। इनमे से प्रत्येक ने हिन्दुस्थानी गान के अनुरूप पद्धति के गान के भावो को अपने गानो मे कायम रखने की चेष्टा की है। इनके धर्मसगीत की अपेक्षा प्रेम का सगीत अच्छा है। इनमे से प्रत्येक ने लोकसगीत और कीर्तन के 'सुर' मे गान लिखे हैं। इनमे अतुलप्रसाद के गान ही तुलना की दृष्टि से अधिक रसोत्तीर्ण कहे जा सकते हैं। देशप्रेम-उद्दीपक सगीत मे द्विजेन्द्रलाल राय और नजरुल ने अतुलप्रसाद की अपेक्षा बगाल मे अधिक ख्याति प्राप्त की, किन्तु ये देश के अन्तर पर अपना प्रभाव अकित नही कर सके। इसीलिए देश आज इनके गान भूलता जा रहा है। द्विजेन्द्रलाल के सहास्य आनन्द-उल्लास के गान एक समय विशेष प्रसिद्ध थे, किन्तु आज वे गान सुनाई ही नहीं देते। उन्होने बगला गानो मे विलायती ढग का प्रवर्तन किया था, आज उनके सम्बन्ध मे लोग आलोचना करते है, किन्तु वे गान कैसे थे कम लोग ही जानते हैं। नजरुल का 'के विदेशी' गान एक दिन रास्तो पर, महफिलो मे सभी ने सुना है, किन्तु आज वह कहाँ है? उनके देशप्रेम-गानो मे पहली बार उल्लास का भाव प्रस्फुटित हुआ, इसीलिए साहित्यिको का एक वर्ग उन्हे सम्मान प्रदान करता है, उस गान को भी लोग धीरे-धीरे भूलते जा रहे है।

बगाल मे किसी भी गान के स्थायित्व की ओर ध्यान देने पर पता चलेगा कि स्थायित्व का कारण 'सुर' का चमत्कारी उत्कर्ष ही नहीं, उनके साथ उसी प्रकार के वेदनामिश्रित, गभीर भावसम्पद का घनिष्ठ एव अविच्छेद्य मिलन है। वैष्णव पदावली आज इस कारण ही भक्त समाज मे ही नहीं बल्कि गुणी समाज मे भी जीवित है। किन्तु एक समय निधुबाबू का इतना प्रभाव होते हुए भी आज उनके गान लोग प्राय भूल गए हैं।

गुरुदेव के कई गान काव्यरस की दृष्टि से चिरकालीन हैं, इसीलिए इनके साथ सम्बद्ध जो 'सुर' या रागिनी हमें प्राप्त हुई है, उसके स्थायित्व के सम्बन्ध मे हमे किसी प्रकार का सन्देह नहीं। विज्ञान के युग की विविध सम्पदा से आज हम सम्पन्न हैं। हमें 'सुर' के सरक्षण के कई उपाय मिले हैं। भावी युग मे जब भी गुरुदेव के गान के शब्द अथवा काव्य पाठको के मन को आकृष्ट करेंगे, तब वे उन्हे 'सुर' के माध्यम से सुनना चाहेगे एव वैसा सुयोग भी उन्हे यथेष्ट मिलेगा। पुरातन युग के गान का सुर संरक्षण की सुविधा के अभाव मे आज लुप्त है, किन्तु आज केवल काव्य-रस से मन को तृप्त करने जैसी स्थिति नहीं है।

बगाल मे आधुनिक के नाम पर जो गान सम्प्रति खूब प्रचलित हैं, वे ठीक क्या वस्तु है, कह सकना कठिन है। किन्तु मैं इतना कह सकता हूँ कि बंगला गान की अवनति का एक चरम युग यह वर्तमान काल है। चलचित्र और रिकार्ड की माँग के कारण इन गानो

की रचना हुई है। कौन-सा ऐसा अभाव है जो हमारी इस अवनति का कारण सिद्ध हुआ है, उसके बारे मे बताता हूँ।

प्रथमत इन सब गानो के काव्य की जो रचना करते हैं, वे साधारण क्षमता के कवि है और प्राय भारतीय सगीत की किसी भी पद्धति से उनका कोई परिचय नहीं है। एव ऐसा भी देखा गया है कि इनमे से कोई भी गा नहीं सकता। पूर्व युग के जिन गुणियो के नामो का मैंने उल्लेख किया है, उनमे ये तीनो गुण थे, इसीलिए गान के क्षेत्र मे देश को कुछ दे सके हैं। इनकी फरमाइशी कविताओ को 'सुर' ऐसे सगीतज्ञ-उस्ताद देते हैं, जिनका काव्य-रस-बोध प्राय नहीं है। इसके अलावा अधिकाश आधुनिक कवियो और बगाली सुरकारो मे हिन्दुस्थानी रागसगीत के प्रति अवहेलना और अश्रद्धा का भाव दिखाई देता है, यह भी और एक बडा कारण है। भारतीय राग-रागिनी जगत् से 'सुर' और ढग लेने मे बगालियो ने किसी दिन द्विधा बोध नहीं की, किन्तु इस युग के रचयिताओ मे इस प्रकार की कोई प्रेरणा नहीं है। इस प्रकार की अश्रद्धा एव प्रेरणा के अभाव मे आजकल का कोई भी गान दृढ आधार पर खडा नहीं हो पा रहा है। ऐसा महसूस होता है कि जैसे एक दुर्बल अनिश्चितता पर ही वे टिके हैं। इसीलिए निर्माण के साथ ही वे बिखरते भी जा रहे हैं। इन गानो के सम्बन्ध मे विचार करने पर राष्ट्रीय जीवन का भी सन्धान मिल जाता है। कुछ समय से जीवन के सभी मार्गो पर बगालियो के मन मे अपने प्रति, अपने देश के प्रति, अपनी सस्कृति के प्रति एक प्रकार के बडे अविश्वास और आस्थाहीनता के लक्षण परिलक्षित हुए हैं। इस अभाव को ढकने के लिए साहित्य मे, शिल्प मे किसी प्रकार के अद्भुत चमत्कार प्रदर्शित करने की चेष्टा दिखाई देती है, सगीत के क्षेत्र मे भी कुछ ऐसा ही घटित हुआ है। वर्तमान काल मे बाहर से चुराने के पीछे चमत्कार दिखाने की मनोवृत्ति ही है। चमत्कार दिखाने के शौक के कारण ही सम्प्रति हमारी दृष्टि यूरोपीय सगीत की ओर गई है। किन्तु दु ख की बात यह है कि अतिशय निकृष्ट अनुकरण मे ही उसकी समाप्ति हुई है। यथार्थ साधना के बल पर यूरोपीय सगीत आयत्त कर इस कार्य में हाथ डाला जाता तो सम्भवत हमारे सगीत को कोई नया पथ मिलता। किन्तु वहॉ भी धैर्य का अभाव इतना अधिक है कि ऐसा होने के लक्षण आज तक दिखाई नहीं देते। साहित्य के क्षेत्र मे यूरोप को जानने और समझने के लिए जिस परिमाण मे साधना की है, उसी परिमाण मे हमने उसकी सार्थकता भी बगला साहित्य के क्षेत्र मे देखी है। किन्तु सगीत के क्षेत्र मे इस प्रकार की एकासक्त साधना आज भी कहीं जाग्रत नहीं हुई है। अपने देश के सगीत को और उसके साथ ही विदेश के सगीत को ठीक ढग से जान सकने पर ही भविष्य मे बगाल पुन सगीत मे कुछ नया दे सकेगा। ऐसा न होने पर उपस्थित जिस पथ पर वह अग्रसर है, उसमे आशा के कोई लक्षण दिखाई नहीं देते।

बाल्यजीवन में संगीत का प्रभाव

गुरुदेव के जीवन मे सगीत का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रहा, इसका उल्लेख उन्होने कई बार अपने लेखो मे किया है, उन्होने कहा है, "गान लिखने मे मुझे जैसा आन्तरिक निविड आनन्द अनुभव होता है, वैसा आनन्द और किसी से नही मिलता।" उस आनन्द मे ही सासारिक जीवन के विविध प्रकार के दायित्व और कर्तव्य के भार से मन मुक्ति पा लेता है एव इस सगीत के माध्यम से ही उन्होने अपने विचित्र कर्मबहुल जीवन से विश्रान्ति और शान्ति पाई है। उन्होने अनुभव किया है कि मुक्ति का अर्थ जो भी है, किन्तु वह गान मे ही निहित है। इस दृष्टि से गुरुदेव को समझने के लिए उनके बाल्यकाल के जीवन को यथासम्भव जान लेना प्रयोजनीय है एव यह भी देखना होगा कि किस प्रकार भारतीय सगीत के ध्यान का रूप उनके अन्तर मे जाग्रत हुआ और किस प्रकार के वातावारण मे वे लालित-पालित हुए। गुरुदेव का जब जन्म हुआ, तब कलकत्ता के धनी समाज मे शास्त्रीय उच्चसगीत का प्रभाव कैसा था, उसका सक्षिप्त एव सुन्दर वर्णन उनके ही एक लेख मे मिलता है। इस लेख मे है

"बगाल मे आधुनिक युग का प्रारम्भ ही था, जब मेरा जन्म हुआ। मैंने देखा है कि उस समय के विशिष्ट परिवार मे सगीत विद्या की अभिज्ञता वैदग्ध्य के प्रमाणस्वरूप मानी जाती थी। वर्तमान समाज मे अग्रेजी रचना के गठन एव व्याकरण की भूल को हम जिस प्रकार अशिक्षा का लज्जास्पद परिचय मानते है एव चौक उठते है, उस समय मे यदि ऐसा दिखाई देता कि सम्भ्रान्त परिवार का कोई सदस्य गान सुनते समय सम पर सिर हिलाने मे भूल कर रहा है। किवा उस्ताद को राग-रागिनी की फरमाइश करते समय रीति का पालन नही कर रहा है, तो ऐसा ही माना जाता था।"

उनके बाल्यकाल मे उस्ताद स्वय तानपुरा मिलाकर आलाप करते एव ध्रुपद गान से सभा को मुखरित करते थे।

"दूरस्थ प्रदेशो से आमत्रित गुणियो का समादर कर शास्त्रीय उच्च सगीत की महफिल का आयोजन करना उस समय के सम्पन्न लोगो के लिए आत्मसम्मान की रक्षा का अग था।"

सगीत को उस समय के धनी समाज मे इस प्रकार एक सम्मानजनक विद्या के रूप मे ग्रहण किए जाने के कारण वे अपने निवास पर सगीत का विशेष आयोजन करते थे। अपने परिवार मे सगीत-अनुशीलन का वर्णन करते हुए गुरुदेव ने कहा है

"बगालियो की स्वाभाविक गीतमुग्धता और गीतमुखरता निर्बाध रूप से हमारे घर मे

उत्स के समान प्रवाहित हुई थी। विष्णु (विष्णुचन्द्र चक्रवर्ती) ध्रुपदीगान के विख्यात गायक थे। प्रतिदिन प्रात काल एव सायकाल के उत्सव मे हमारे उपासना-मन्दिर मे मैंने उनका गायन सुना है, घर-घर से हमारे आत्मीय-स्वजन कधे पर तानपुरा रखकर उनके समक्ष गायन-अनुशीलन करते रहे है, मेरे भाई भी तानसेन आदि गुणियो द्वारा रचित गानो को बगला भाषा मे प्रस्तुत करते रहे है।"

विष्णु चक्रवर्ती आदि समाज के गायक और गुरुदेव के परिवार के सगीत शिक्षक थे। उन्होने शिशुओ को भी तम्बूरा सम्हलाकर सगीत-अभ्यास करवाया है। कर्ताओ के निर्देश के अनुसार बगला छडा को राग-रागिनी मे बिठाकर सहज ताल मे गान-सिखाते थे। इस प्रणाली से आरम्भ मे 'सा रे ग म' आदि के नीरस अभ्यास से गान के प्रति शिशुओ का मन विमुख नहीं होता था। ये विष्णु ही गुरुदेव के सगीत-जीवन के प्रथम गुरु थे, इनसे ही गुरुदेव को भारतीय सगीत की प्रारम्भिक शिक्षा मिली। प्रति रविवार को गान का वर्ग लगता था। इस गायक के गायन मे पांडित्य था, वे ध्रुपद और खयाल गायन मे वास्तव मे एक रसिक, रसज्ञ थे, यह बात गुरुदेव ने कही है एव सगीतज्ञ ज्योतिरिन्द्रनाथ ने अपनी आत्मजीवनी में और भी स्पष्ट रूप से कही है। उनके मतानुसार

"अन्यान्य उस्तादो के गान की अपेक्षा विष्णु का गान ही सभी सर्वाधिक पसन्द करते थे। विष्णु के गान की एक विशेषता थी। उस्ताद जिस प्रकार तान-अलकार को प्राधान्य देते हैं, विष्णु वैसा कुछ प्रदर्शन नहीं करते थे। वे थोडी-बहुत तानो का प्रयोग करते थे, किन्तु उनसे रागिनी का मूल रूप अधिक खिलता था, यह प्रक्रिया गान को आच्छन्न नही करती थी। इसके अलावा शब्द-काव्य का जो मूल्य है, वह भी विष्णु के गान मे पूर्ण रूप से कायम रहता था। गान की धुन और बन्दिश सभी को सहज ही समझ मे आ जाती थी। विष्णु ध्रुपद-खयाल ही अधिक गाते थे।"

गुरुदेव शैशवावस्था मे उनसे किस प्रकार गान सीखते थे, उसका उदाहरण और वर्णन हमे उनकी पुस्तक 'छेलेबेला' मे मिलता है। पुस्तक पढकर यह बात समझ मे आती है कि एक बडे ध्रुपद और खयाल गायक के लिए इस प्रकार का सृजनेतर कार्य करना किस प्रकार सम्भव हुआ, साधारण बोलचाल की ग्राम्य भाषा के छडा को मार्गसगीत अनुयायी बनाकर यह वृद्ध गायक बिना किसी प्रकार की द्विधा के स्वय गाकर किस प्रकार शिक्षा प्रदान कर सके। हिन्दुस्थानी शास्त्रीय उच्चसगीत के अनुयायियो मे इस प्रकार का मनोभाव उस समय मे आशातीत था, आज भी उसमे कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। जीवन के आरम्भिक काल से ही गुरुदेव को सगीत के ऐसे एक उदारचेता गुरु मिले, जिन्होने उनके अन्तर को सगीत-रस से सिचित किया, किसी प्रकार की सकीर्णता से मन को सकुचित नही किया। राममोहन राय के समय से विष्णु क्रमश अविराम १२८९ बंगाब्द (ई १८८२) तक आदि ब्राह्मसमाज के गायक रूप मे नियुक्त थे। उसके बाद वृद्धावस्था के कारण उन्होने अवकाश ग्रहण किया। उन्होने स्वय भी कई प्रकार के हिन्दी और बगला गानो की रचना की थी। १९वी शताब्दी के शेषार्ध मे कलकत्ता के रगमच पर नाटक के गानो के लिए वे स्वर-सयोजन करते और अन्तराल मे रहकर स्वय भी गाते थे। उन दिनो के थिएटर के लिए वृन्द-वादन

की गत की भी उन्हे रचना करती पडती थी। उनके कंठ के गान से ब्राह्मसमाज के श्रोता मुग्ध हो जाते थे। इसी कारण उनके अवसर-ग्रहण के समय आदि समाज के एक भद्र श्रोता ने लिखा है

"इसके बाद ब्राह्म इस प्रकार के मधुर कठ का ब्रह्मसगीत सुन सकेगे, इसमे सन्देह है। जो श्रद्वा के साथ उपासना मे योग देने हेतु आए हैं, उनमे प्राय ऐसा कोई भी नहीं जिसकी ऑखो से विष्णु का गान सुन कर अश्रुधारा न बही हो। बडे अर्से के बाद ब्राह्मसमाज मे गायक का अभाव उपस्थित हुआ है, इसकी पूर्ति हो सकेगी या नही, कौन जानता है।"

शास्त्रीय या उच्चाग ध्रुपद का गायन शिशु भी करते थे, क्योकि घर के विविध उत्सवो के लिए रचित बगला ध्रुपद गान उन्हे भी गाना पडता था। शैशवावस्था मे ही माघोत्सव मे गुरुदेव भी घर के अन्य बालक-बालिकाओ के साथ गान गाते थे। इस ध्रुपदाग ब्रह्मसगीत ने उनके बालमन को कितना प्रभावित किया था, इसका पता एक घटना के उल्लेख से चलता है। उन्होने लिखा है

"मै कब गान नहीं गा सकता था, कुछ याद नही। मुझे स्मरण है कि बाल्यकाल मे गेदा फूलो से घर सजाकर हम माघोत्सव के अनुकरण से खेल करते थे। उस खेल मे अनुकरण का प्राय समस्त अग ही अर्थहीन था, किन्तु गान मे किसी प्रकार की वचना, कृत्रिमता नही थी। मुझे खूब याद है कि इस खेल मे फूलो से सजी एक टेबिल पर बैठकर मै उच्च कठ से गा रहा हूँ —'देखिले तोमार सेइ अतुल प्रेम-आनने'।"

गुरुदेव के भ्राताओ मे द्विजेन्द्रनाथ, सत्येन्द्रनाथ, हेमेन्द्रनाथ, ज्योतिरिन्द्रनाथ और सोमेन्द्रनाथ हिन्दुस्थानी उच्चसगीत मे विशेषज्ञ थे। ये सभी विशेष रूप से हिन्दीगान का अनुशीलन करते थे। किन्तु गान के लिए इनका कठ बहुत उल्लेखयोग्य था, ऐसा नहीं सुना गया। गुरुदेव ने लिखा है

"बडे भ्राता द्विजेन्द्रनाथ और उनसे तृतीय छोटे हेमेन्द्रनाथ कमरे का दरवाजा बन्द कर गायन सीखते थे। हम बच्चो का वहॉ प्रवेश नहीं था।"

बडे भ्राता द्विजेन्द्रनाथ बशी और आर्गन बजाने मे निपुण थे। इसके अलावा १२७६ बगाब्द (ई १८६९) मे आकारमात्रिक स्वरलिपि का सूत्रपात पहली बार इन्होंने किया।

हेमेन्द्रनाथ तानपुरा लेकर किस प्रकार धैर्य के साथ हिन्दी गान का अभ्यास करते थे, इसका वर्णन करते हुए गुरुदेव ने कहा है

"दादा सीखते जरूर थे, किन्तु स्वर की साधना निरन्तर चलती रहती थी, आलाप चलता ही रहता, सुबह से शाम तक।"

मझले दादा सत्येन्द्रनाथ ने हम भाइयो मे प्रथम बार हिन्दीगान के अनुकरण से बगला ब्रह्मसगीत की रचना की। इसके अलावा उनके द्वारा रचित 'स्वदेशी मेला' का राष्ट्रीय सगीत 'जय भारतेर जय' उन दिनो मे सर्वाधिक परिचित था और इसकी प्रशसा भी हुई थी।

ज्योतिरिन्द्रनाथ ने जिस प्रकार स्वयं घर पर सगीत-अनुशीलन किया, उसी प्रकार बम्बई-प्रवास के समय वहॉ के एक मुसलमान सितारवादक से दिल्ली-बाज की सितार-गत

भी अच्छी तरह बजाना सीखा था। द्विजेन्द्रनाथ द्वारा प्रथम बार प्रवर्तित स्वरलिपि को सहज एव सरल कर इन्होने आकारमात्रिक नाम से जिस स्वरलिपि का प्रचार किया था, आज वह स्वरलिपि बगाल मे सर्वाधिक सुपरिचित और प्रसिद्ध है।

दादा सोमेन्द्रनाथ गुरुदेव की काव्यचर्चा मे प्रधान उत्साही थे। उनका सगीतज्ञान और सगीत के प्रति आग्रह, आसक्ति अन्तिम समय तक थी। वृद्धावस्था मे भी वे ठाकुरबाडी के नाती-नातिन और बहुओ को गान सुनाकर आनन्दित करते रहे। वे अपने घर के आत्मीयजन द्वारा रचित गान गाते थे, इसके अलावा निधुबाबू के टप्पा गाने मे वे विशेष सक्षम थे और कई गान जानते थे।

गुरुदेव की बडी बहन (सौदामिनी) के पति सारदाप्रसाद गगोपाध्याय प्रतिष्ठित सितारवादक थे। उस समय के विख्यात सितारवादक ज्वालाप्रसाद उनके सितार-गुरु थे। इनकी बैठक मे प्राय कई गायको और वादको की महफिल जमती थी। वे स्वय भी ध्रुपद गाते थे।

गुरुदेव के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ स्वय उच्चाग (शास्त्रीय) हिन्दी सगीत के विशेष भक्त थे। सुना जाता है कि बीडन स्ट्रीट मे एक मकान किराए पर लेकर उस्ताद रखकर गायन-वादन करते थे। बाल्यकाल मे अग्रेज शिक्षक से उन्होने पियानो की शिक्षा पाई। वे थोडा-बहुत गा भी सकते थे। हिन्दी गान मे अच्छे-बुरे का बोध उनका बहुत ही स्पष्ट था। उनके द्वारा रचित प्रत्येक बगला उपासना सगीत हिन्दी उच्चाग सगीत के चलन के आधार पर रचित है। उपासना और उत्सव के गान मे उच्चाग हिन्दी सगीत के ढग को ही वे उपयुक्त मानते थे, इसीलिए उसे प्राधान्य देते थे। उनकी इच्छा और प्रभाव से ही उनके पुत्र—द्विजेन्द्रनाथ, सत्येन्द्रनाथ, ज्योतिरिन्द्रनाथ ने उच्चाग हिन्दी सगीत के अनुकरण से—कई ब्रह्मसगीत की रचना की थी, उनमे ध्रुपद की सख्या ही अधिक है। हमे यह भी विदित है कि विशुद्ध सगीत-अनुशीलन के लिए उन्होने अपने पुत्र ज्योतिरिन्द्रनाथ को एक हजार रुपए पुरस्कारस्वरूप दिए थे। इस युग मे किसी एक श्रोता ने ये सब गान सुनकर एक पत्रिका मे लिखा था, "देवेन्द्रबाबू के प्रयास से उनके पुत्रो द्वारा सम्प्रति विरचित हृदयद्रवकारी, भक्तिरसाभिषिक्त ब्रह्मसगीत सुनते समय हम जैसे ईश्वर का साक्षात् दर्शन करते हैं।"

महर्षि के सगीतप्रेम के परिचयस्वरूप जिन कुछ घटनाओ का उल्लेख उनके जीवनचरित्रकार ने किया है, उनका यहाँ जिक्र किया जा सकता है। उसमे लिखा हुआ है, "धर्मसगीत की प्रेरणा से श्रीकण्ठ सिह और देवेन्द्रनाथ ने गान गाते हुए नृत्य करना आरम्भ कर दिया। सभा, सब कुछ भूलकर घूम-घूमकर एक ही गान गाते हुए दोनो ने नृत्य किया।" और एक बार अमृतसहर मे प्रवास के समय वसन्तकाल मे इस शहर के फलफूल सुशोभित उद्यान का सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो गए और एकान्त मे फलो के भार से अवनत कुछ वृक्षो के सम्मुख हाफिज की गजल गाते हुए नृत्य करने लगे। उनका यह अपने को भूलकर मस्तीभरा गान और नाच देखकर रास्ते का एक दरिद्र मुसलमान अनजाने मे उनके साथ नृत्य करने लगा।

सगीत में देवेन्द्रनाथ का रुचिबोध भी काफी परिमार्जित था

"उत्सव के चार-पॉच दिन पहले से ही महर्षि के सम्मुख उन सब सगीत, संकीर्तन की तालीम दी जाती, जिनका गान उस उत्सव मे किया जाना होता था, ताल-मान-'सुर' का व्यतिक्रम होने की कोई सम्भावना नहीं थी, थोडा भी इधर-उधर होने पर वे विरक्ति प्रकट करते एव जब तक ताल-मान-लय सब ठीक नहीं हो जाता, छोडते नही थे। किसी भी गान का अभ्यास यदि पक्का नहीं होता तो उसे उत्सव के गाने का निषेध किया जाता।"

उन्होने सम्भ्रान्त श्रेणी के समान विलास के अग रूप मे संगीत की चर्चा घर पर नहीं रखी, मात्र वशमर्यादा के हिसाब से भी नहीं। इस परिवार मे सगीत प्राण के निर्मल आनन्द की प्रवाहिनी रूप था। मृतप्राय भारतीय सगीत के मर्मलोक को पुनरुज्जीवित करना ही महर्षि की विशेष आकाक्षा थी, इस इच्छा की पूर्ति वे अपने पुत्र-कन्या की प्रतिभा के माध्यम से कर सके थे। इसीलिए उनका परिवार बगाल मे युगप्रवर्तनकारी रूप मे विख्यात हुआ। उनमे गुरुदेव हुए अनन्यसाधारण।

हिसाब कर देखने पर पता चलता है कि गुरुदेव के स्वय उपासना-गान रचना मे प्रवृत्त होने के पहले तक उनके पिता और भ्रातागण ने कुल मिलाकर प्राय साठ ब्रह्मसगीत की रचना की थी। इन सब गानो की रचना मे कई बडे-बडे गायको ने उनकी सहायता की थी, उनमे गृहशिक्षक विष्णु चक्रवर्ती, रमापति बन्द्योपाध्याय, शान्तिपुर के राजचन्द्र राय और यदुभट्ट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अलावा कई गायकों ने किसी-न-किसी समय जोडासाको की ठाकुरबाडी मे गायक रूप मे आश्रय पाया है। बगाल के बाहर के उस्तादो मे बड़ौदा के तत्कालीन विख्यात गायक मौलाबक्श भी ठाकुरबाडी मे कुछ दिन थे। अयोध्या, ग्वालियर और मुरादाबाद से भी उस्ताद ठाकुरबाडी में आश्रय पाते थे।

गुरुदेव के शैशवकाल मे जिन्होने गुरुदेव के मन पर संगीत का विशेष प्रभाव डाला था, उनमे गायक विष्णु के नाम का पहले ही उल्लेख किया गया है। इनके बाद श्रीकण्ठ सिह, एक अज्ञात गायक और यदुभट्ट के नाम विशेष रूप से उल्लेखयोग्य हैं। ये सभी हिन्दी गान के विशेष रसज्ञ, अनुरागी थे। गुरुदेव ने कहा है

"हमारे घर के बन्धु श्रीकण्ठबाबू दिन-रात गान मे डूबे रहते थे। वे गान सिखाते नही थे, गान देते थे, मैं कब उठा लेता, जान भी नहीं पाता था। इस आनन्द से जब वे प्रफुल्लित हो उठते, उसे अपने मे रोक नहीं पाते, तब उठ खडे होते, नाच-नाचकर सितार बजाने लगते, हॅसी से बडी-बडी ऑखे चमक उठतीं, वे गान करने लगते—'मै छोडो ब्रज की बॉसरी'—साथ ही मुझे गवाए बिना छोडते नहीं थे।

अज्ञात गायक का स्मरण कर गुरुदेव ने लिखा है—"भोर के समय मच्छरदानी से अपने को बाहर निकालकर मैं उनका गान सुनता। नियम से सीखना जिनकी प्रकृति, स्वभाव मे नहीं, उनका शौक है अनियम से सीखना। प्रात काल से 'सुर' (राग-धुन) में चलता— 'बशी हमारी रे'।"

यदुभट्ट के प्रति गुरुदेव के अन्तर में भारी श्रद्धा थी। स्रष्टा के रूप मे उनकी प्रतिभा

पर गुरुदेव मुग्ध थे। इस उस्ताद के सम्बन्ध मे गुरुदेव ने लिखा है

"बाल्यकाल मे मैंने एक बगाली गुणी को देखा था, गान जिनके अन्तर के सिहासन पर राजमर्यादा प्राप्त था, काष्ठ की ड्योढी पर भोजपुरी दरबान के समान ताल-ठोकाठोकी नहीं करता। उनका नाम तुम लोगो ने निश्चय ही सुना है। वे ही है विख्यात यदुभट्ट।

जब वे हमारी जोडासाको-ठाकुरबाडी मे रहते थे, तब उनसे सीखने के लिए कई प्रकार के लोग आते थे, कोई मृदग-वादन सीखता, कोई राग-रागिनी का आलाप। बगाल मे इस प्रकार के अन्य किसी उस्ताद का जन्म नही हुआ। उनके प्रत्येक गान मे originality थी, जिसे हम स्वकीयता कहते है।"

अन्यत्र उन्होंने कहा है

"वे उस्ताद-जात की अपेक्षा बडे थे। उन्हे गायक बताकर वर्णन करना उन्हे छोटा करना होगा। उनकी प्रतिभा थी, अर्थात् सगीत उनके चित्त मे रूप धारण करता था। उनके द्वारा रचित गानो मे जो विशिष्टता थी, वह अन्य किसी हिन्दुस्थानी गान मे नहीं मिलती। यदुभट्ट के समान सगीतभावुक आधुनिक भारत मे और कोई जनमा है, सन्देह है।"

यदुभट्ट ने स्वय कई गानो की रचना की थी। वे साधारणतया विषमछन्द मे गान-रचना के पक्षपाती थे। खडारवाणी ध्रुपद मे भी वे विशेष दक्ष थे। उनके द्वारा रचित कई गानो मे कवित्वशक्ति का विशेष प्रस्फुटन हुआ है। गुरुदेव ने स्वय उनके किसी-किसी हिन्दी गान के अनुकरण मे बगला गान की रचना करने मे द्विधा का अनुभव नही किया। ब्रह्मसगीत से उनके एक गान का मैं उल्लेख करता हूँ। गान है 'आजि बहिछे वसन्तपवन सुमन्द तोमारि सुगन्ध हे'। बहार रागिनी और तेवडा ताल मे निबद्ध यदुभट्ट रचित गान है 'आजु बहत सुगन्ध पवन सुमन्द'।

गान के सम्बन्ध मे तत्कालीन धनी समाज और आज के धनी समाज मे बडा पार्थक्य यह है कि उस युग के बडे लोग गान को मात्र शौकीन आमोद-प्रमोद का विषय नहीं मानते थे, विशेष रूप से उच्च श्रेणी के सगीत को। वे मानते थे कि अच्छा गान सुनने या अच्छे गायक को योग्य मर्यादा प्रदान करने की क्षमता तभी हो सकती है जब उस दृष्टि से खुद को शिक्षित किया जाय। इस कारण ही उस समय मे बडे उस्ताद भी समझदार धनियो के पास रहने के लिए उत्सुक रहते थे। इस युग के बडे धनी या साधारण धनी, किसी भी समाज मे पूर्वकाल के समान उच्च श्रेणी के सगीत की चर्चा के प्रति उत्साह दिखाई नहीं देता। अग्रेजी शिक्षा और धनमद के जोर पर ही समझदार होने का सहज मार्ग अपनाने के ही आजकल के अधिक धनी विशेष आग्रही हैं।

उस युग मे धनी लोग अन्तत इस प्रकार समझदार कहलाने मे लज्जा अनुभव करते थे। वे साधना या अनुशीलन करके ही उपयुक्त समझदार के रूप मे सम्मान प्राप्त करते थे। इसी प्रकार गुरुदेव के परिवार मे सगीतानुशीलन होता था। इस सगीत-वातावरण मे किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं थी। घर के छोटे-बडे सभी लोगो ने सगीत का समादर के साथ अनुशीलन किया है, उसे समझा है और उससे आनन्द की अनुभूति की है। इसीलिए बडे-बडे गुणी उनके घर पर समझदार श्रोता पाकर खुश होते थे। इस ठाकुरबाडी मे शिशुओ

की सगीत-शिक्षा भी बडे लोगो के शौक का विषय नहीं था, इस बात का पता उस युग की एक पत्रिका मे प्रकाशित वर्णन से चलता है। द्वितीय 'विद्वज्जन समागम' उत्सव के सम्बन्ध मे पत्रिका मे प्रकाशित वर्णन इस प्रकार है

"हेमेन्द्रनाथ ठाकुर की प्रतिभा नामक आठ वर्षीय कन्या और उससे भी कम आयु का और एक बालक, दोनो ने मिलकर सितार बजाया। बाद मे इन दोनो ने तीन-चार हिन्दी गान गाए। ये गान हारमोनियम, बेहाला और तबला की सगत से पेश किए गए थे। उसके बाद प्रसिद्ध गायक विष्णुबाबू ने एक गान पेश किया और इस बालक ने उनकी तबला-सगत की। बाद मे और चार-पॉच गानो के साथ प्रतिभा ने तबला-सगत की।"

प्रतिभादेवी ने स्वय भी इन दिनो की बात याद कर लिखा है

"जब मेरी आयु छ-सात वर्ष थी, सौरीन्द्र और यतीन्द्रमोहन दोनो ही हमारे घर आते थे। उस समय मे लडकियो के गाना-बजाना करने की प्रथा नहीं थी। मेरे पिता उसे मानते नही थे, मुझे उत्साहित करते, सिखाते थे। राजाबहादुर इस विषय मे मेरे पिता को प्रोत्साहित करते थे। उन दिनो विष्णु चक्रवर्ती ठाकुरबाडी के गायक थे। उनके पास ही मै छोटा खयाल सीखती थी। रामप्रसाद मिश्र सितार-शिक्षक थे। ठाकुरबाडी में उस समय विद्वज्जन-समागम होता था। सौरीन्द्रमोहन आदि आते थे। उस समय मै और भ्राता हितेन्द्र दोनो ही सबके सामने गाने के लिए बाध्य हो जाते।

"ज्योतिकाका के वादन के साथ रविकाका का गान, बडे फूफामहाशय सारदाप्रसाद गगोपाध्याय एव विष्णु चक्रवर्ती का गान सुनकर सभी क्या विमुग्ध हो जाते, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।"

हेमेन्द्रनाथ गुरुदेव के सेजदादा (तृतीय बडे भ्राता) थे, उम्र मे उनसे सत्तरह वर्ष बडे थे। ये ही ठाकुरबाडी के बालक-बालिकाओ की पढ़ाई-लिखाई का ध्यान रखते थे। प्रतिभादेवी गुरुदेव से उम्र मे पॉच वर्ष छोटी थी। इन्होने 'वाल्मीकि प्रतिभा' के सरस्वती-चरित्र का अभिनय कर विशेष प्रसिद्धि पा ली थी।

उस युग मे अन्य कोई भी सम्भ्रान्त परिवार नहीं चाहता था कि उसके घर की लडकियाँ गाना-बजाना सीखे, उसका अनुशीलन करे, किन्तु देवेन्द्रनाथ के घर की स्त्रियो ने गायन पेश कर जिस प्रकार स्वय आनन्द अनुभव किया है, उसी प्रकार अन्यो को आनन्द प्रदान किया है। इस परिवार की स्वर्णकुमारीदेवी, प्रतिभादेवी, इन्दिरादेवी और सरलादेवी के नाम गायिका और गीतरचयिता के रूप मे आज भी बंगाल के गायक और गुणी वर्ग मे सुपरिचित हैं। इसके अलावा ठाकुरबाडी मे बालक-बालिकाओं के लिए विलायती संगीत, बेहाला, पियानो और ऑर्गन सिखाने की विशेष व्यवस्था थी।

महर्षि की मृत्यु (ई. १९०५) तक जोडासॉको बाडी में बालक-बालिकाओ के लिए सगीत-शिक्षा की व्यवस्था अटूट थी। हर समय कोई-न-कोई अच्छा उस्ताद या वादक बाडी में शिक्षक रूप मे नियुक्त रहता था। अन्तिम शिक्षक थे राधिका गोस्वामी और श्यामसुन्दर मिश्र। राधिका गोस्वामी की सगीत-प्रतिभा के प्रति ठाकुरबाड़ी के सभी लोगो के मन मे किस प्रकार की श्रद्धा थी, गुरुदेव की प्रशस्ति मे उसका परिचय मिलता है। उन्होंने एक

स्थान पर कहा है

"राधिका गोस्वामी का केवल गान-सग्रह था और राग-रागिनी का रूपज्ञान था, इतना ही नही, वे गान मे विशेष रस-सचार कर सकते थे। वह उस्तादी से भी बडी बात थी।"

महर्षि की मृत्यु के बाद उनके पुत्र अलग-अलग स्थानो पर निवास करने लगे और उसके साथ ही प्राचीन प्रथा बन्द हो गई। ठाकुरबाडी का सगीत-वातावरण इतना आकर्षक और उपभोग्य, घनिष्ठ था कि उस परिवार मे रहकर गायन-वादन के विषय मे निर्लिप्त रहना किसी के लिए सम्भव नहीं था। उन दिनो मे घर की वधुएँ इस वातावरण मे रहकर स्वय ही गायन मे पटुता हासिल कर लेती थी। इनमे से कई तो अच्छा गा भी सकती थी।

ठाकुरबाडी के अन्यान्य बालक-बालिकाओ के समान विशेष विधिपूर्वक गान सीखने का उद्यम गुरुदेव ने कभी नही किया। यदुभट्ट ने उनमे स्वाभाविक क्षमता का परिचय पाकर यह जिद की थी कि उन्हे उस्तादी रीति से गान सिखाएँगे ही। गुरुदेव ने कौतुक के साथ कहा है, इसीलिए मेरा अच्छी तरह हिन्दी गान सीखना हुआ ही नही। वे छिपकर चोरी से गान सीखते थे। विष्णु के पास गान सीखने की बात के सम्बन्ध मे कहा है, कई बार अनंवधानता मे ब्रह्मसगीत की आवृत्ति की है, पुन जब स्वत ही मन लग गया, तब द्वार के पास खडे रहकर गान गाये है। उस समय की बात याद कर उन्होने लिखा है

"हमारे परिवार मे शैशवावस्था से ही हम गानचर्चा के वातावरण मे ही बडे हुए है। उस कारण मेरे लिए यह सुविधा उपस्थित हुई कि गान अत्यन्त सहज भाव से ही मेरी सम्पूर्ण प्रकृति मे प्रविष्ट कर गया था। उस कारण असुविधा भी थी। प्रयास कर गान आयत्त करने का उपयुक्त अभ्यास न होने के कारण शिक्षा पक्की नही हुई। सगीतविद्या कहने से जिस ज्ञान का बोध होता है, उस पर किसी प्रकार का अधिकार मै प्राप्त नही कर सका।"

गुरुदेव के जीवन मे गीत-रचना की सर्वप्रथम प्रेरणा उन्हे अपने अग्रज ज्योतिरिन्द्रनाथ से मिली। वयोज्येष्ठ होते हुए भी उन्होने गुरुदेव की बाल्यकाल मे भी कभी बालक मानकर अवज्ञा नही की, आरम्भ से समवयस्क की तरह व्यवहार किया। गुरुदेव की आयु जब चौदह वर्ष थी, उस समय से ही ज्योतिरिन्द्रनाथ बन्धु के समान उन्हे साथ बिठाकर अपने द्वारा रचित 'स्वरसज्जा' पर शब्द सयोजित करने के लिए कहते थे। इस प्रकार वे गुरुदेव को गान-रचना की शिक्षा देते थे। 'जीवनस्मृति' मे इस सम्बन्ध में उन्होने कहा है

"एक बार ज्योतिदादा पियानो बजाकर नए-नए 'सुर' (स्वरसज्जा, उपयुक्त प्रतिमा) के सर्जन मे मत्त थे। प्रत्यह उनकी अगुलियो के नर्तन के साथ-साथ ही 'सुर'-वर्षण होता रहता था। मैं और अक्षयबाबू उनके इस सद्योजात 'सुरो' को शब्द-संयोजन के साथ निबद्ध करने की चेष्टा मे लगे थे। मेरी गान रचना की शिक्षानवीसी इस प्रकार आरम्भ हुई थी।"

ज्योतिरिन्द्रनाथ ने अपने आत्मचरित मे इस विषय का अधिक स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। उन्होने कहा है

"दोनो ओर अक्षयचन्द्र और रवीन्द्रनाथ कागज-पेसिल लेकर बैठते थे। मै जैसे ही किसी 'सुर' की रचना करता, तत्काल ही ये 'सुर' के साथ शब्द बिठाकर गान की रचना करने मे लग जाते। एक नई स्वरसज्जा तैयार होते ही मै उसे बजाकर इन्हे कई बार सुनाता। रवि बराबर ही शान्त भाव से भावावेश मे रचना करते। इसमे रवीन्द्रनाथ का चाचल्य क्वचित परिलक्षित होता था। अक्षय की रचना जितनी जल्दी तैयार हो जाती, रवि की रचना उतनी शीघ्रता से तैयार नही होती। प्रायश गान रचना कर उसमे स्वर-सयोजन करने की प्रचलित रीति है। किन्तु हमारी पद्धति ठीक उलटी थी। 'सुर' के अनुरूप गान तैयार होता था।"

अक्षयचन्द्र की आयु प्राय ज्योतिरिन्द्रनाथ के समान थी। काव्य जगत् मे भी उनकी प्रतिष्ठा थी। फिर भी गुरुदेव ने उस उम्र मे गान-रचना के मामले में अक्षयचन्द्र की अपेक्षा किसी प्रकार कम कृतित्व का परिचय नही दिया। इस प्रथा से रचित कुछ गानो को छोडकर शेष सब गान गुरुदेव ने अपने आधुनिक सगीतसग्रह-ग्रंथ से निकाल दिए है। प्रचलित गान के ग्रथ मे है—"हाय रे सेइ तो वसन्त फिरे एलो" और 'हल ना लो हल ना सइ"। जहाँ तक पता लगाना सम्भव हो सका है, उससे ज्ञात होता है कि गुरुदेव ने तेरह-चौदह वर्ष की आयु से गान-रचना शुरू की थी। "ज्वल ज्वल चिता द्विगुण द्विगुण" गान ज्योतिरिन्द्र-नाथ के नाटक 'सरोजिनी' के लिए लिखा गया एव यह किस प्रकार लिखा गया, इस बात से सभी रवीन्द्रसाहित्यानुरागी अवगत हैं। यह गान नवम्बर १८७५ के पूर्व रचा गया। सजीवनी सभा के लिए इन दो गानो की रचना की गई—'एक सूत्रे बाँधा आछि सहस्रटि मन' और 'तोमारि तरे मा सँपिनु देह'।

'तोमारेइ करियाछि जीवनेर ध्रुवतारा' सगीत ई १८७७ से ई १८७८ के बीच लिखा गया। लगता है यह उनका रचित प्रथम धर्मसगीत है। लगता है कि इन सब गानो के स्वर-सयोजन मे ज्योतिरिन्द्रनाथ का हाथ था। अनुमानत ई १८७८ के अप्रैल और सितम्बर के बीच अहमदाबाद-प्रवास के समय रवीन्द्रनाथ ने स्वय स्वाधीन भाव से जिन कुछ गानो का स्वर-सयोजन किया, वे है—'नीरव रजनी देखो मन्द जोछनाय', 'बलि ओ आमार गोलापबाला', 'शुन नलिनी खोलो गो आँखि', 'आँधार शाखा उजल करि'। यह प्रथम स्वाधीन प्रचेष्टा थी। इस प्रकार गान-रचना की शिक्षा उन्होने 'वाल्मीकि प्रतिभा' की रचना तक पाई थी। अर्थात् इक्कीस वर्ष की आयु तक गान-रचना की उनकी शिक्षानवीसी का युग था। इस उम्र तक स्वर-सयोजन मे विविध प्रकार की हिन्दी राग-रागिनियाँ ही उनके लिए एकमात्र अवलम्बनस्वरूप थी। उसका कारण यह है कि ज्योतिबाबू पर हिन्दी राग-रागिनी का प्रभाव बहुत अधिक था, किन्तु सस्कारों से बँधे उस्तादो के समान उनका स्वभाव नही था। राग-सगीत के प्रति उनके विशेष आग्रह रहने के कारण सगीत के व्याकरण मे भी वे पडित थे।

पर्यवेक्षण करने पर कइयो को पता चलेगा कि विलायत-प्रवास के समय से 'वाल्मीकि प्रतिभा' के गानो की रचना के समय तक गुरुदेव के गानों में बगाल मे सर्वत्र प्रचलित बाउल, भटियाली या कीर्तन का प्रभाव कम था। उस समय तक उनकी रचनाओ पर हिन्दी

राग-सगीत का प्रभाव अधिक था। हमने देखा है कि 'वाल्मीकि प्रतिभा' नाटक मे रामप्रसादी और मात्र कुछ विलायती गानो के 'सुर' का व्यवहार हुआ है। 'भानुसिहेर पदावली' मे कीर्तन राग के गानो के अलावा बाईस-तेईस वर्ष की आयु तक उनके द्वारा रचित ब्रह्मसगीत मे से एक मे भी बगाल के कीर्तन, बाउल प्रभृति धुनो का सयोजन नहीं हुआ। इससे पता चल जाएगा कि उनके परिवार मे हिन्दुस्थानी राग-सगीत का प्रभाव कितना था। इस बात का स्मरण कर उन्होने कहा है

"बाल्यकाल मे जिन गानो को सुनने का मुझे अभ्यास था, वे सब शौकिया दल के गान नहीं थे, इसीलिए मेरे मन मे कलावत-गान की भावभगी प्रणाली स्वत प्रतिष्ठित हो गई थी। कलावंत-सगीत के रूप और रस के सम्बन्ध मे एक प्रकार का साधारण सस्कार मेरे मन मे अन्दर-ही-अन्दर पक्का हो गया था। बाल्यकाल से अच्छे हिन्दुस्थानी गान सुनता आ रहा हूँ, अत उसका महत्त्व और माधुर्य मन से स्वीकार करता हूँ। अच्छा हिन्दुस्थानी गान मुझे परम मुग्ध करता है।"

"एकदम बाल्यकाल से ही मेरे कान और प्राण हिन्दुस्थानी 'सुर' से पूर्ण हुए है।"

"विषयवस्तुहीन छवि का अमिश्र विशुद्ध रूप मुझे अच्छा लगता है, जिस प्रकार वाक्यहीन सगीत का आलाप अच्छा लगता है। वस्तुत मेरा झुकाव इसी ओर है।"

"हम बाल्यकाल से ध्रुपद गान सुनने के अभ्यस्त हैं, उसका आभिजात्य बृहत् सीमा मे अपनी मार्यादा कायम रखता है। इस ध्रुपद गान मे हमने दो बाते देखी हैं - एक ओर उसकी विपुलता, गभीरता, और दूसरी ओर उसका आत्मदमन, सुसगति मे वह अपने वजन की रक्षा करता है।"

"जनश्रुति है कि मै हिन्दुस्थानी गान जानता नही, समझता नही। मेरे प्रारम्भिक काल के रचित गानों मे हिन्दुस्थानी ध्रुवपद्धति की राग-रागिनियो के साथ अत्यन्त विशुद्ध प्रमाण के साथ बहुत आगे की भावी शताब्दी के प्राचीन तत्त्वविदों के निदारुण वाद-विवाद की अपेक्षा मे है। इच्छा होते हुए भी मै उस सगीत को अस्वीकार नहीं कर सकता, इस सगीत से ही मै प्रेरणा प्राप्त करता हूँ, इसे जो नहीं जानते, वे हिन्दुस्थानी सगीत नही जानते।"

हिन्दी उच्चसगीत के अनुसरण से ब्रह्मसंगीत का सूत्रपात महात्मा राममोहन राय ने किया। किन्तु महर्षि देवेन्द्रनाथ की प्रेरणा से जोडासाँको की ठाकुरबाडी का प्रोत्साहन इस विषय मे सबसे अग्रणी रहा था। भाषा, भाव और सुर के मिलन से गुरुदेव की रचना अन्तत सब को पीछे छोडकर बहुत उच्च स्तर पर पहुँच गई थी। अन्यों की रचनाओ मे रसानुभूति और आत्मानुभूति की अपेक्षा धर्म का आवेग ही अधिक प्रकट हुआ है। बगाली सगीत-जगत् का इन सब गानो से कितना उपकार हुआ था, उस समय बगाली-समाज समझ नहीं सका किन्तु आज हम गुरुदेव के गानो के माध्यम से अन्तर में इसे अनुभव करते है। गुरुदेव के पिता अपनी गभीर अन्तर्दृष्टि और यथार्थ रसिक मन के गुणो के बल पर अपनी सन्तानो को भारतीय सगीत के ध्यान के आदर्श की ओर प्रवृत्त कर सके थे। भारतीय सगीत के माध्यम से जिस वैराग्य का आनन्द मिलता है, वह बोध देवेन्द्रनाथ को

था और उनके प्रभाव या प्रचेष्टा से उनके पुत्र-पुत्रियो ने उसकी उपलब्धि की थी, किन्तु जीवनव्यापी साधना मे उस उपलब्धि को प्रस्फुटित करने मे गुरुदेव जितने समर्थ हुए, उतनी दूर और कोई नही जा सका। कुम्भकार मिट्टी की नरम अवस्था मे उसे जिस रूप मे गढना चाहता है, मिट्टी वैसा ही रूप ग्रहण करती है। बाल्यकाल मे गुरुदेव के अपरिपक्व मन का सगीत के जिस सुन्दर और गम्भीर वातावरण मे पोषण किया गया था, वही चिरजीवन के समान उनकी प्रतिभा का वैशिष्ट्य बन गया, जिस कारण जीवन के शेष दिनो मे वे कह सके थे

"मुक्ति ये आमारे ताइ सगीतेर माझे देय साडा।"

सुरधर्मी कविता और गान

गान के क्षेत्र मे गुरुदेव के अवदान को लेकर आलोचना करते समय हमे एक बात ध्यान मे रखनी होगी कि गुरुदेव उच्च स्तर के कवि थे। उनकी आन्तरिक कवि-प्रकृति ने भी गान मे उन्हे विशेष प्रेरित किया है। अत उनके कवि-मन को छोडकर केवल सगीत के सुरकार के रूप मे उनके बारे मे विचार करना युक्तिसगत नहीं है। उनके द्वारा रचित गानो मे शब्द और 'सुर' के मिलन का एक सुन्दर रूप हम देख पाते है। आज इस बात को सभी स्वीकार करते है कि आधुनिक बगला गान की गति गुरुदेव के आदर्श से अनुप्राणित है, शब्द और 'सुर' के मिलन मे गुरुदेव की प्रेरणा का मूल क्या है, इस विषय पर विचार करना आवश्यक है। मुझे लगता है, यह है बगालियो के गान की चिरन्तन रीति।

प्राचीन काल मे हमारे देश मे कविता मात्र ही सुरधर्मी थी, किन्तु पाश्चात्य सभ्यता के सस्पर्श मे आने पर हमारे कवियो ने अनुभव किया कि यदि छन्द और भाव मे कविता निर्दोष हो सकती है तो गीतिकविता मे 'सुर' का प्रयोजन नहीं रहता। अत गीतिकाव्य की रचना कवियो के लिए काफी सहज हो गई। सुना जाता है कि प्राचीन काल मे कवि प्राय सुरज्ञ गायक होते थे, क्योंकि तत्कालीन समाज मे गान अत्यावश्यक था। अत सुर-ज्ञान कुछ हद तक स्वत हो जाता था। पाश्चात्य प्रभाव से इस युग मे मानव जीवन मे 'सुर' का प्रभाव यद्यपि कम हो गया है, किन्तु हमारे देश के रक्त मे जो आवेग इतने समय से प्रवाहित होता आ रहा है उसे दूर करना सम्भव नहीं हो सका। इसीलिए बगाल मे गत सौ वर्षो से पाश्चात्य शिक्षा मे वर्धित होते हुए भी जो कवि गान जानते थे, उन्होने केवल कविता ही नहीं लिखी बल्कि गानो की रचना की है और गान रचना के अवलम्बनस्वरूप गीतिकविता को भी ग्रहण किया है। इस मार्ग से इस युग मे जो विख्यात हुए हैं वे सभी गतिकाव्य के कवि है। पाश्चात्य प्रभाव हमारे अ-गायक कवियो के लिए काफी सुविधाजनक रहा है, फिर भी समग्र रूप से कवियो की अन्तर्निहित इच्छा किस ओर है, उसे हम गुरुदेव और इस युग के अन्य ख्यातिप्राप्त गीतरचयिताओ को ध्यान मे रखकर ही समझ सकते है। कवि जयदेव के समय से आज तक इन आठ सौ वर्षो मे इस धारा मे किसी प्रकार का व्यतिक्रम दिखाई नहीं देता। गीतिकविता मे सुर-सयोजन कर गाने पर कवि का अन्तर स्वत यह चाहेगा कि कविता के माध्यम से भावो की अभिव्यजना नहीं हुई, वे ही भाव 'सुर' की सहायता से परिस्फुट हो, इस क्षेत्र मे 'सुर' यदि शब्द के अन्तर्निहित भाव का अनुसरण नहीं करता तो गान का मूल आदर्श कभी कायम नहीं रहता। इसीलिए गीतिकाव्य के प्रदेश बगाल मे हमने 'सुर' के साथ शब्द के सुन्दर मिलन का रूप बराबर ही देखा

है। सगीतप्रिय बगालियो द्वारा ऐसा रूप-सर्जन अवश्यम्भावी है।

पश्चिमी अचल के हिन्दी उच्चाग सगीत-रचयिता यदि उच्च स्तर के गीति कवि होते तो हिन्दी सगीत का रूप कैसा होता, कहा नही जा सकता।

प्राचीन काल मे अन्यान्य बगाली कवियों ने जो किया है, बगाल के कवि गुरुदेव ने भी वही किया है प्राचीन राग-सगीत की सुदृढ भित्ति पर खडे रहकर उन्होने अपने ढग से विविध प्रकार के गानो की रचना की है। उन्होंने रचना के क्षेत्र में राग-सगीत के साथ स्पर्धा करने का प्रयास नही किया, उसका प्रयोजन भी नहीं था। उनके कवि-मन ने अन्तर के आवेग से शब्द और 'सुर' का आश्रय लेकर अपने प्राण के विविध प्रकार के आनन्द की अनुभूति को मात्र अभिव्यक्त किया है। अत राग-सगीत ही एकमात्र सगीत है, रवीन्द्र-सगीत संगीत नहीं, या आधुनिक काल के लिए उपयोगी गुरुदेव का सगीत ही मात्र सगीत है, अन्यान्य प्राचीन संगीत की कोई सार्थकता नही—इस प्रकार का कोई भी मतवाद भ्रान्त है। अपने गानो के सम्बन्ध मे गुरुदेव का मत था कि "जो श्रम करके पेट भरते है, जो आफिस जाते हैं, ये सब गान (उस्तादी) उनके लिए नहीं हैं, उस्तादो के समान उनके लिए गला साधना कठिन है। इसीलिए आजकल के गान पेशेवर गायकों की सीमा से बाहर रखना ही अच्छा है। गान ऐसे हो जिनसे आसपास के लोग खुश हो, बाहर करतलध्वनि के लिए नहीं। जो उस्ताद हैं, उनके लिए चिन्ता नही है, चिन्ता उन लोगो के बारे मे है जो गान को सरल रूप मे मन के आनन्द के लिए उपलब्ध करना चाहते है। यदि मेरे गान सीखना चाहते हो, निभृत स्थान पर स्वगत, स्नानघर मे अथवा ऐसे किसी स्थान पर खुले गले से उच्च स्वर मे गाओ। मेरी आकाक्षा की दौड यहाँ तक ही है, इससे बहुत अधिक अभिलाषा (ambition) मन मे नही है।"

इस प्रसग मे एक बात उल्लेखयोग्य है कि गुरुदेव के पूर्व गीतिकविता जिस छन्द मे और जिस प्रकार स्तबक-विभाग में रूप ग्रहण करती थी, गुरुदेव के समय में उसमे काफी परिवर्तन हुआ है। मैं यह बात कविता के दैर्घ्य और उसके गठन की दृष्टिभंगी का स्मरण कर कह रहा हूँ। उनके गान में ध्रुपद के समान चार विभाग रहते हैं, जैसे—स्थायी, अन्तरा, सचारी और आभोग। इस प्रकार का विभाजन उन्होने ध्रुपद के अनुकरण से पाया था। इसी एक-एक भाग को कभी दो, तीन या चार पक्तियों मे सजाया, तो कभी दो पक्तियो के स्थायी और तीन पक्तियों के अन्तरे मे। उनके गानों में इसी प्रकार के भाग ही अधिक दिखाई देते हैं। गान काव्यधर्मी होने के कारण 'सुर' के बिना भी पाठको का मन भावरस से विभोर हो उठता है। कई पाठक कविता के समान छन्द मे उनका पाठ कर तृप्त होते हैं। इसीलिए 'गीताजलि', 'गीतालि', 'गीतिमाल्य' प्रभृति गानग्रंथ रवीन्द्रकाव्य-समालोचना मे कविता रूप मे ही आलोचित होते हैं। इस कारण ही देश में अन्यान्य कवियो में इस प्रकार स्तबक-विभाग कर गीतिकविता-रचना की रीति प्रचलित हो गई। पूर्वकाल में, अर्थात् ऊनविंश शताब्दी मे बगाल में थिएटर या यात्रा के लिए छोटे गानों की रचना होती थी। इनमे अधिकतर गान प्रेमसगीत ही थे। इनकी भाषा और भाव अत्यन्त सहज और सरल होते थे। इस प्रकार के गानों की रचना का प्रधान आदर्श था—हिन्दी टप्पा संगीत।

निधुबाबू ने जब पहली बार बगला भाषा मे टप्पा सगीत की रचना की, तब उन्होने हिन्दी टप्पा का आदर्श ग्रहण किया। कीर्तन के प्रेमसंगीत के बाद इस नए प्रकार के प्रेमसगीत को पाकर बगाली समाज मुग्ध हो गया था। इसीलिए पूरी ऊनविश शताब्दी मे प्रेमसगीत मात्र निधुबाबू प्रवर्तित आदर्श का अनुसरण कर रचित होता था। प्रारम्भ मे गुरुदेव की रचनाओ मे इस प्रकार के कई छोटे-छोटे प्रेमसगीत मिलेगे, जिनका आदर्श था उस समय मे टप्पा-प्रभावित बगला प्रेमसगीत। गुरुदेव के जीवन के मध्यकाल मे कई प्रेमसगीत इस प्रकार ही रचित हैं। बाद मे इस प्रभाव का अतिक्रमण कर वे अपनी मौलिक सृजनशक्ति का प्रकाश दिखाने मे समर्थ हो गए थे। उन्होने बगला गान को इस प्रकार के मनोभाव से मुक्त कर दिया कि प्रेमसगीत लिखने के लिए कीर्तन या निधुबाबू-रचित गान के पक्तिगठन को आदर्श मानकर गान लिखने होगे।

गुरुदेव प्राय कहा करते, "जीवन के आरम्भिक काल मे मैंने गानो मे हृदय के भावो को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की, आशा करता हूँ कि बाद मे उस स्थिति का अतिक्रमण कर लिया। परिणत वयस मे गानभाव अभिव्यक्त करने के लिए नहीं, रूप देने के लिए हैं। उससे संश्लिष्ट काव्य भी अधिकतर रूप के वाहन है।" 'सुर' की दृष्टि से भी आरम्भिक अवस्था की उनकी सृष्टि के साथ परिणत वयस की उनकी सृष्टि का यही पार्थक्य है। जीवन की प्रारम्भिक अवस्था की उनकी सुरसृष्टि मे भावाभिव्यक्ति मे व्यथित हृदय का प्रयोजन ही बडा हो गया है, कल्पना की रूपलीला को उसमे बडा स्थान नहीं मिला।

१२९५ बगाब्द (ई १८८८) मे प्रकाशित 'मायार खेला' गीतिनाट्य मे 'आमि कारे ओ बुझि ने शुधु बूझेछि तोमारे' गान बिहाग रागिनी मे रचित है। इस गान के भाव और भाषा के प्रति ध्यान रखकर उन्होने १३४६ बगाब्द (ई १९३९) मे पुन लिखा 'ओ गो ये छिल आमार स्वपनचारिणी तारे बुझिते पारि नि' गान। इन दो गानो के भाव, भाषा और 'सुर' के गठन मे जो पार्थक्य आया है, उससे उपर्युक्त तथ्य को अधिक स्पष्ट रूप मे समझने मे सुविधा होगी। ठीक इसी कारण १२९५ बगाब्द (ई १८८८) के 'मायार खेला' को १३४६ बगाब्द (ई १९३९) मे जिस रूप मे परिवर्तित किया था, उसे यदि सम्पन्न कर जाते तो हम पूर्णत नवीन 'मायार खेला' देख सकते थे। नाटक के चरित्रो की दुर्बल रसात्मकता वे पसन्द नहीं करते थे, उसमे आमूल परिवर्तन करने पर उन्होने विशेष बल दिया था। इस प्रकार की मनोवृत्ति केवल गान के क्षेत्र मे ही नही, काव्य, नाटक सर्वत्र ही दिखाई दी है।

फिर भी कम उम्र के गान जनसाधारण को अच्छे क्यो लगते हैं? विशेष रूप से कहा जा सकता है कि हमारे जीवन में इन सब गानो के भाव और भाषा, 'सुर' के साथ मिलकर हमारे मन को जिस सहज भाव से आलोडित करती हैं, उस सहज भाव से परवर्ती जीवन के गान मन मे स्थान प्राप्त नहीं करते। उसके लिए अपने को तैयार करने का प्रयोजन है, ये सस्कृतिमान मन की खुराक हैं। पूर्व दिनों के ब्रह्मसगीत "हृदयवेदना बहिया प्रभु ऐसेछि तव द्वारे" और "आमार छ' जनाय मिले पथ देखाय ब'ले" या "अनिमेष आँखि सेइ के देखेछे" गान के साथ १३३४ बगाब्द (ई १९२७) के माघोत्सव गान "तोमार आमार एइ

विरहेर अन्तराले", "नीरवे आछ केन बाहिर दुयारे", "आमार ना-बला वाणीर धन यामिनीर माझे" गानो की तुलना की जाय, गुरुदेव के वृद्धावस्था के गानो को एक वर्ग 'सुर' के वैचित्र्य के लिए पसन्द करता है जबकि अन्य वर्ग केवल भाव की दृष्टि से विचार कर पसन्द करता है। किन्तु दोनो दृष्टिकोणो से गुरुदेव के गानो को पसद करनेवालो की सख्या बगाल मे अभी भी बहुत कम है। कम आयु के उनके गान मनुष्य के जीवन के साधारण परिवेश और चिन्तन के साथ इतने सहज रूप से मेल खा जाते है कि उन्हे हृदयगम करने मे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। किन्तु परवर्ती जीवन की रचनाएँ वैसी नही है। मनुष्य के जीवन मे सुख-दु ख, मिलन-विरह मे ही वे पूर्णता की खोज नही करते इस समय के गानो ने व्यक्ति को अतिक्रम कर और भी बृहत्तर क्षेत्र मे जगह बनाई है। किसी कृती समालोचक की भाषा मे कह सकता हूँ, "कवि की व्यक्तिगत अनुभूति का आश्रय लेकर वे अधिकतर नैर्व्यक्तिक विश्वमानव की ओर बढे है।" एव इस समय धर्मसगीत मे, प्रेम सगीत मे पार्थक्य रखना भी इसी कारण कठिन है। "भगवद्भक्ति और मानविक प्रेमानुभूति उनके गानो मे अधिकतर अगागीभाव से युक्त हो गए है। विश्वजीवन के साथ मानवजीवन का जो ऐक्य है, उस अनुभूति के आनन्द या रस से उनके गान भरपूर है।" इस युग का आरम्भ कवि के मध्य-जीवन से है। उस समय से ही यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई दिया था। चिन्तन, कल्पना, कवित्व, 'सुर', सब दृष्टिकोणो से यह मानसिक परिवर्तन ध्यान देने योग्य है।

रागिनी का सहज सरल स्वरगठन ही है रागिनी का मूल ढाँचा। उसका एक नियम है। इसी आधार को लेकर गायक गान मे स्वर-विस्तार करते है। उसे रागिनी की रूप-कल्पना कहा जा सकता है।

उस्ताद इस प्रकार की रूप-कल्पना मे रागिनी का स्वरगठन ठीक कायम रखते है, उसमे परिवर्तन पसन्द नही करते। गान मे वे रागिनी के भाव-रस को प्रमुख स्थान नही देते, बल्कि राग रूप को प्रमुख मानते है। रस गौण रहता है। रागरूप के ऊपर विशेष जोर देने का अर्थ सम्भवत यह है कि प्राचीन स्रष्टाओ ने सोचा था कि किसी रूप-कल्पना की निर्मिति त्रुटिहीन रहे तो उसकी सहायता से रसलोक मे पहुँच पाना सम्भव है। निर्भूल, त्रुटिहीन रूपकल्पना से हमे जो सकेत मिलता है, वह परिपूर्णता का सकेत है। वह सकेत ही हमारे मन मे आनन्द या रस का सचार करता है। किसी भी प्रकार की निर्भूल रूप-कल्पना मे किसी-न-किसी भाव या रस का सकेत मिलेगा ही। भावहीन रूप-कल्पना को मनुष्य किसी भी युग मे आनन्द के साथ ग्रहण नहीं करता, वरन् उसने इसके प्रति अश्रद्धा ही व्यक्त की है। नैर्व्यक्तिक **(abstract)** रूप-कल्पना मे भी किसी-न-किसी प्रकार के भाव या रस का इगित मिलता है, यदि रूप निर्दोष हो।

गुरुदेव ने रागिनी की रूप-सृष्टि मे भाव को मुख्य रखा और रूप को गौण स्थान दिया। उनके विचार से भाव किवा रस आधारनिरपेक्ष नही है। रूप के माध्यम से ही रस निष्पन्न होता है। पुन , रस विशुद्ध रूप मे पर्यवसित होता है।

उन्होने कई राग-रागिनियो के हिन्दी और बगला गान सीखे थे। उन सब राग-रागिनियो मे निबद्ध गान उनके अन्तर मे विशेष रूप से अकित थे। गान के शब्दो के अन्तर्निहित भाव ही गुरुदेव के मन को आकृष्ट करते, ऐसा नहीं है, गान की रागिनी भी उनके मन को गभीर रूप से आन्दोलित करती। किन्तु इन सब राग-रागिनी की मूल स्वरगठन-प्रणाली के सम्बन्ध मे उनका विशेष मनोयोग नहीं था। इन सब राग-रागिनियो के व्याकरणगत नियम वे विस्तृत रूप से नहीं जानते थे। इस विषय मे उन्होने स्वय लिखा है

'प्रयास कर गान आयत्त करने का उपयुक्त अभ्यास न होने से शिक्षा पक्की नही हुई। सगीतविद्या कहने से जिसका बोध होता है, उसमे किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त नही कर सका।"

"दिनु को जब मैं अपने गान सिखाता तो वह हठात् बोल उठते, यहॉ कोमल निषाद लगा है। मै आश्चर्यचकित होकर कहता, ऐसा क्या ? बाल्यकाल मे मैने देखा है कि हमारे निवास पर बडे-बडे गायको का आवागमन रहता था। अगणित गान सुने है, किन्तु गान सीखना है, इस उद्देश्य से कभी नहीं सीखा।"

"सुर (स्वर-सज्जा, प्रतिमा) के सूक्ष्म तत्त्वो के सम्बन्ध मे कुछ-कुछ धारणा होते हुए भी मेरा मन उसके अभ्यास मे बँध नहीं सका," किन्तु रागिनी मे निबद्ध विविध चलन के और भाषा के गान गा-गाकर उनके मन मे ऐसा अभ्यास सृष्ट हो गया था कि रागिनी के समग्र भाव या रस के आवेदन मे वे रागिनी को पहचान सकते थे। रागिनी का समग्र भावरूप ही उनके गान के 'सुर' की रूपकल्पना का आधार है। पुन , भाव या रस की सृष्टि आधार के बिना नही, इसीलिए रागिनी के ढॉचे मे और गान के शब्दो मे उसे रूपायित किया है। इस कारण ही भावरूप को मुख्य बनाकर गान के 'सुर' ने वैचित्र्य की उपलब्धि की है। यह वैचित्र्य खुशी की सृष्टि-लीला मे जाग्रत होता है। गान गाने के लिए प्राण लालायित है, इसलिए गान की अभिव्यक्ति है। इस कारण गुरुदेव ने गान को बार-बार अहेतुक सृष्टिलीला कहा है। जिस प्रकार पॅखुडी स्वय ही वृक्ष पर रग और गध के साथ फूल रूप में प्रस्फुटित होती है-स्वय ही झड जाती है। जिस प्रकार नए कच्चे पत्तो पर प्रात काल की सूर्य-किरणो का खेल चलता है। इससे आनन्द की अनुभूति होती है, किन्तु इस आनन्द के उपभोग के लिए वृक्ष, पत्तो, पॅखुडी, रग आदि को अलग-अलग जानने का प्रयोजन नही है। किन्तु यह बात भी सत्य है कि वृक्ष, पत्ते, प्रकाश न होने पर इस आनन्द-रस का प्रकाश भी असम्भव है।

गुरुदेव के गानो मे केवल राग-रागिनी का विचार कर, या केवल शब्द-चयन का विचार कर गानो का आनन्द उपभोग करना ठीक इसी कारण असम्भव है। उनके गान का 'सुर' रागिनी के रसलोक का आधार लेकर रूप से रूपान्तर मे विचरण करता है। इसीलिए उनके गान मे हमे कितनी ही मिश्र रागिनियॉ क्यो न दिखाई दे, यह मिश्रण किसी सचेष्ट परिकल्पना से उद्भूत नहीं है। वृक्ष पर फूल प्रस्फुटित होने के समान ये भी स्वत प्रस्फुटित हुए है। अतर का कोई गूढ कारण शायद हो सकता है, किन्तु रहस्य की व्याख्या

क्या कोई कर सकता है ?

गान की यह रूपकल्पना अवचेतन मन का ऐसा एक प्रकाश है, जो समय आने पर फूल के समान स्वत प्रस्फुटित हो जाता है, पुन स्वत झर जाता है। गुरुदेव के गान भी ठीक ऐसे ही हैं, स्वत उनके अन्तर मे उद्भासित होते एव कुछ समय बाद गुरुदेव भूल भी जाते थे। इसीलिए उन्हे गान लिखकर सुरक्षित रखने के लिए अन्यो पर अधिक निर्भर रहना पडा है। इस सम्बन्ध मे उनकी अपनी उक्ति उल्लेखयोग्य है। उन्होने कहा है

"गान लिखता हूँ, उसमे सुर-सयोजन कर गान गाता हूँ—यही मात्र मेरी तात्कालिक आवश्यकता है। कवित्व के दिन अब नही रहे। मैने पहले ही कहा है कि फूल चिरदिन प्रस्फुटित नही होते—यदि प्रस्फुटित होते तो होते ही, तकाजे की जरूरत नही होती। अब जो गान मै लिखता हूँ वे अच्छे है या मन्द, यह सब सोचने का समय नहीं है। यदि कहो—तो फिर छपाता क्यो हूँ तो उसका कारण यह है कि ये गान मेरे बिलकुल अन्तर की बात कहते हैं, अतएव किसी-न-किसी के अन्तर का कोई प्रयोजन मिट सकता है—गाने की जरूरत होने पर ये गान एक दिन गा लेने पर भी क्षति नही, क्योकि मेरी जो आवश्यकता थी वह तो पूरी हो गई है। गुप्त रूप से जो अपूर्ण प्रयास को पूर्णता प्रदान कर दे, उनकी ही पदपीठ के तल मे ये गान बिछा सकू तो इस जन्म के समान मेरी बकसीस मिल गई।"

मुझे लगता है कि उनके गानो की राग-रागिनियो की व्याख्या मे सगीतविदो को यह दृष्टिकोण सर्वदा ध्यान मे रखना उचित है। ऐसा न होने पर विशेष भ्रम-झंझट मे पडने की सम्भावना है। भारतीय संगीत के किसी व्याकरणगत अचल-अटल मतवाद को सामने रखकर क्या गुरुदेव के गान की रागिनी का विचार सम्भव है ? किस पद्धति को प्रामाणिक मानकर उस पर विचार किया जायगा ? इस क्षेत्र मे पडित भारतखण्डे के किवा अन्य किसी मत को प्रामाणिक मान लेने पर पता चलेगा कि गुरुदेव ने केवल हिन्दी राग-संगीत के शब्द बदलकर जिन गानो की रचना की है, वे भी मिश्र रागिनी के गान हैं एव उनके द्वारा व्यवहृत राग-रागिनी के भिन्न नाम देने होगे।

आज पडितो ने विचार कर कोई एक नाम रखा, परवर्ती युग मे उसमे परिवर्तन नहीं होगा ऐसा कौन कह सकता है ? एक ही देश से, एक ही आदर्श से उद्भूत भारतीय संगीत विभक्त होकर कर्नाटक और हिन्दुस्थानी सगीत बन गया। और भी दिलचस्प बात यह है कि उत्तरभारतीय संगीत ने बिलावल को शुद्ध थाट माना, जबकि दक्षिणी सगीत मे दक्षिणी पडितो के मत से भैरव राग का थाट शुद्ध थाट है। जिसे वे (दक्षिणी) 'तोडी' कहते हैं, हम उसे 'भैरवी' कहते हैं। इसके अलावा मात्र उत्तरभारतीय सगीत मे ही मतवाद का कितना उत्थान-पतन युग-युग में हुआ है। वह अचल रहता तो दिखाई ही नही दिया। इससे ही समझा जाता है कि यह सगीत प्रवाहहीन जलाशय नहीं, सचल जलप्रवाह है। सचल प्राण की गति मे ही सर्वदा सृष्टि की प्रवणता जाग्रत होती है, वह कितनी ही सामान्य हो, उससे कोई फर्क नहीं पडता।

गुरुदेव के गान सृष्टि का प्रवाह हैं। इसीलिए किसी स्थितिशील नियम को प्रामाणिक

मानकर उन पर विचार करना मूर्खता है। इस प्रकार से विचार न हो, यही अच्छा है। मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि पहले यह नियम प्रचलित था, उसके सस्पर्श से अनुप्राणित होकर उन्होने इस रागिनी की सृष्टि की। ऐसा न होने पर गुरुदेव की भाषा मे कहना होगा—"गान के कागज पर राग-रागिनी का नाम-निर्देश न रहना ही अच्छा है। नाम में तर्क का हेतु रहता है, रूप मे नही। कौन-सी रागिनी गाई जा रही है, ऐसा कहने की आवश्यकता नही। क्या गाया जा रहा है, यही मुख्य बात है, क्योकि उसकी सत्यता उसमे ही चरम है। नाम की सत्यता दस जनो की है, उन दस जनो के मतो मे मेल नहीं भी हो सकता।"

भारतीय संगीत में गुरुदेव का स्थान

बगाल मे गुरुदेव के गान के साथ उच्चाग (शास्त्रीय) हिन्दी गान के सम्बन्ध के बारे मे कई प्रकार की आलोचना होती रहती है। एक वर्ग का कहना है कि शास्त्रीय हिन्दी गान गाते समय गायक को जो स्वाधीनता दी जाती है, वह स्वाधीनता गुरुदेव के गान गाते समय क्यो नही दी जाती। अन्य वर्ग का कहना है कि उच्चाग हिन्दी गान मे 'सुर'-विहार की जो स्वाधीनता है, गायक उसका अनुचित लाभ उठाकर सगीत को क्षति पहुँचाते है, वे 'सुर' (राग-प्रतिमा) के अलकारो के प्रदर्शन पर अधिक जोर देते है, अत गान के समय शब्द का कोई मूल्य नही रहता। गुरुदेव के गान मे इस प्रकार की त्रुटि नही रहती। इसके अलावा राग-मिश्रण मे भी गुरुदेव ने हिन्दी उच्चाग (शास्त्रीय) संगीत की एक-दूसरे के वशवर्ती होने की नीति का परित्याग कर गान मे सुर-योजना की मुक्ति का जो प्रकाश दिखाया है, हिन्दी शास्त्रीय सगीत के लिए वह आदर्श होना चाहिए। द्वितीय वर्ग का अनुभव है कि गुरुदेव के गान मे शब्द और 'सुर' को समान प्रधानता दी गई है और मिश्रण के विषय मे उन्होने मुक्त मन का परिचय दिया है। अर्थात् सक्षेप मे इसका तात्पर्य यह है कि जहॉ शास्त्रीय हिन्दी गान मुक्ति का परिचय देते है वहॉ गुरुदेव का मन मुक्त नही है, किन्तु गुरुदेव का मन जहॉ गान मे मुक्त है, वहॉ हिन्दी शास्त्रीय गान मुक्ति का विरोधी है। उच्चाग हिन्दी सगीत और गुरुदेव के गान मे ऊपरी तौर पर दोनो की प्रकृति मे यह पार्थक्य या त्रुटि दिखाई देने पर भी इनमे से कोई भी भ्रान्त पथ का पथचारी नही है। दोनो का पथ सुनिर्दिष्ट, सुनियत्रित है। लक्ष्यस्थल दोनो का एक है, मात्र अलग-अलग दो मार्ग अपनाकर अग्रसर हुए है।

रागिनी शब्द और छन्द मिश्रित जो कठसगीत हम सुनते हैं, उसे हम गान कहते है। इस दृष्टि से विचार करने पर पता चलेगा कि उच्चाग (शास्त्रीय) गान से शुरू कर जिसे हम लोकसगीत कहते है वहॉ तक सभी एक ही आदर्श से रचित है। गायकी को लेकर ही इनमे वास्तविक पार्थक्य दिखाई देता है। गाते समय किसने किस अंश पर अधिक जोर दिया, उसे लेकर ही विभेद है। इस गीत-रीति के प्रभेद से ही गुरुदेव के गान के साथ उच्चाग हिन्दी गान का पार्थक्य प्रकट हो जाता है। किन्तु इस स्वीकृत पृथकता की बात भूलकर हम दोनो को एक समझकर तुलनामूलक आलोचना करने बैठते है। समालोचना का इस प्रकार गलत मार्ग अपनाने से ही दोनो प्रकार के सगीत मे विरोध दिखाई दिया है। इस विरोध की कोई भित्ति, बुनियाद नहीं है, इसे समझने के लिए सर्वप्रथम हमे भारतीय कठ्यसगीत के स्वरूप की समग्र रूप से आलोचना करनी होगी।

प्राचीन शास्त्रकारो ने हमारे देश के समस्त सगीत को मूलत दो भागो मे विभक्त किया था। उन्होने एक को 'मार्ग' और दूसरे को 'देशी' कहा है। बृहद्देशीकार मतग ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है

आलापादिनिबद्धो य स च मार्ग प्रकीर्तित ।
आलापादि विहीनस्तु स च देशी प्रकीर्तित ॥

अर्थात्, आलाप आदि लक्षणो से युक्त गान को 'मार्ग' कहा जाता है, और आलाप इत्यादि विहीन जो गान है, उसे कहा जाता है 'देशी'।

हममे से कइयो की धारणा है कि 'मार्ग' सगीत का परिचय भारतीय सगीत से पूर्णतया लुप्त हो गया है। किन्तु धीर भाव से विचार करने पर पता चलेगा कि इस धारा (मार्गसगीत) का अवसान नही हुआ है, वह आज भी शास्त्रीय हिन्दी और शास्त्रीय कर्नाटक सगीत मे अपना अस्तित्व कायम रखे हुए है।

भारत मे धर्म या दर्शन के इतिहास की आलोचना करने पर पता चलेगा कि वेद और उपनिषद् के युग मे मनुष्य ने विश्वसृष्टि के कारण की व्याख्या जिस ढग से की थी, इस युग मे भी उसका प्रभाव कम नहीं हुआ है। विचित्र शाखा-प्रशाखा मे प्रसारित वह चिन्तन-धारा आज भी भारतवासियो के अन्तर मे प्रेरणा का सचार करती है। सगीत मे भी ऐसा ही हुआ है। प्राचीन युग की 'आलापादिनिबद्धो' मार्ग सगीतधारा ने ही इस युग के शास्त्रीय (उच्चाग) हिन्दुस्थानी सगीत मे अधिक परिमाण मे मिलकर उसे परिस्फुट और श्रेष्ठ सगीत के रूप मे परिणत किया है, इस युग का आलापसगीत भारत के उसी प्राचीन सगीत का प्रतीक है, शब्द को 'सुर' या रागिनी के विचित्र अलकारो मे सजाकर गान गाने की प्रथा के माध्यम से प्राचीन युग की 'मार्ग' सगीतपद्धति ही उसका चिह्न वहन करती है, यही बात हमे बार-बार स्मरण करा देती है। यदि अवसान हुआ ही है तो मार्ग युग के गान की भाषा का हुआ है, गीत-पद्धति का नही।

प्राचीन सगीत-साधक ऋषि शब्दहीन 'सुर' की साधना को सगीत का श्रेष्ठ पथ मानते थे एव उस साधना पर ही विशेष जोर देते थे। इसीलिए सगीत मे मात्र भारतवर्ष मे ही 'नादब्रह्म' रूप शब्द को लेकर दार्शनिक चिन्तन का उदय और नादोपासना की धारा दिखाई देती है। और उन्होने ही 'अनाहत' सगीत की बात कही एव 'आहत' शब्द को इस नाद के अन्तर्गत देखा। आज भारतीय सगीत मे हम जिस आलाप पद्धति का प्रयोग देखते है, अनुमान किया जाता है कि उसका उद्भव मार्ग सगीतपथियो की साधना से ही हुआ था। राग-रागिनी का शब्दहीन आलाप भारतीय सगीत की ही एक अपूर्व सम्पद है। गभीर साधना के बिना इस सगीत की उद्भावना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सगीत-पडितो का कहना है कि विशुद्ध पद्धति मे आलापसगीत जिनके आयत्त हो गया है, उनके समक्ष भारतीय शास्त्रीय सगीत की सम्पूर्ण पद्धति ग्रहण करने मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। यहाँ तक भी सुना जाता है कि इस आलापसगीत के विभिन्न अशो को लेकर ही मुसलमान युग मे सगीत के कई प्रकार के 'बाज' या गायकी का उद्भव हुआ है। यह

कहना ठीक नहीं होगा कि वैदिक युग के मनुष्यो ने शब्दयुक्त 'सुर' की साधना नही की। किन्तु मैं मानता हूँ कि शब्दहीन 'सुर' की साधना को ही उन्होने सर्वाधिक बडा स्थान दिया था। एव यह बात गर्व के साथ कही जा सकती है कि प्राचीन युग के उस शब्दहीन 'सुर' के आलापसगीत का उद्‌भव भारतवर्ष के अलावा अन्य किसी देश मे सम्भव नही हुआ।

प्राचीन गुणियो ने मार्ग सगीत की आलोचना के समय कहा है कि पॉच से कम स्वरो से कोई राग नही बन सकता, या उसे राग या रागिनी रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। इस कारण ही एक से चार स्वरो के गान को वे सगीत-शास्त्र की समालोचना मे स्थान नही देते। इसका एक बडा कारण यह है कि आलाप मे सुरविहार या सुरविस्तार का जो आदर्श गायको ने स्वीकार किया है, वह एक से चार स्वरो तक के किसी 'सुर' (राग) द्वारा सम्भव नहीं है। कई आदिवासियो मे तीन स्वरो के गान का प्रचलन है। शब्द के बिना भी ये सुनने मे मृदु लगते है, किन्तु उस गान के तीन स्वरो मे जो सहज करुण वेदना प्रकट होती है, उसके विस्तार का कोई उपाय नही है। पॉच से सात स्वरो की रागिनियो मे स्वरविस्तार की जो सुविधा उस्तादो को मिलती है, सम्भवत उसी कारण वे इस प्रकार के नियम बना गए हैं।

आज हम उच्चाग हिन्दुस्थानी गान जिस रूप मे सुन रहे है उसमे 'सुर' या राग-रागिनी के अलकृत विस्तार का ही प्राधान्य है। उस्ताद शब्दो को रागिनी मे सयोजित कर आलाप के ढग से विस्तार को प्राधान्य देकर गान पेश करते है। शब्दो के मूल भाव के साथ राग-रागिनी का सयोजन होते हुए भी गायक रागिनी को ही प्रधान मानकर चलते है। एव प्राचीन आलापनिबद्ध सगीत को श्रेष्ठ मानने के कारण ही सम्भवत हम आलाप-सगीत मे पटु गायको को भारतीय सगीत के श्रेष्ठ शिल्पी रूप मे सम्मान प्रदान करते है।

'देशी' सगीत को स्पष्ट रूप से समझाते हुए प्राचीन शास्त्रकारो ने और भी लिखा है

अबलाबालगोपालै क्षितिपालैर्निजेच्छारा।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते ॥

अर्थात्, स्त्री, बालक, राखाल और राजा अपनी इच्छा से अनुराग के साथ अपने-अपने देश मे जो गान गाते हे, वह गान ही है 'देशी'।

इस वर्णन से स्पष्ट अनुमान किया जाता है कि आजकल जिसे हम 'आधुनिक' और 'लोकसगीत' कहते है, 'देशी' सगीत कहने से वे इसी प्रकार के किसी सगीत-प्रकार के रूप मे समझते थे। अत ऐसा माना जाता है कि सगीत मे शब्द का विशेष स्थान था। रागिनी और छन्द उसके साथ समान आसन ग्रहण करते और शब्द के रस को अधिक प्राणवान् बना देते। आलाप-निबद्ध 'मार्ग' सगीत के समान रागिनी शब्द-सयोजन का सीमा-अतिक्रमण नहीं करती। रागिनी शब्दो के साथ एक होकर चलती। इसके अलावा देशी गान का अर्थ मात्र भारतीय आदिवासी सम्प्रदाय के दो-तीन स्वरो का गान नही है, इसका प्रमाण सगीतशास्त्रकारों की आलोचना से मिलता है। एक शास्त्रकार ने कहा है

देशीरागाश्च सकला षड्जग्राम समुद्भवा ।
ग्रहाशन्यासमन्द्रादि षाडवौडव पूर्णका ॥

अर्थात् ग्रह, अश, ,न्यास, मन्द्र, षाडव, औडव, सम्पूर्ण आदि लक्षणो से युक्त देशी राग मात्र ही षड्जग्राम से उद्भूत हे।

उपरोक्त श्लोक पढकर स्पष्ट समझा जाता है कि देशी सगीत का 'सुर' (राग, प्रतिमा) इस युग के उच्चाग सगीत के समान ही विविध नियमो से बँधा था। किन्तु ऐसा होते हुए भी यह ध्यान मे रखना होगा कि प्रथम (मार्ग) के निर्देश के अनुसार यह सगीत आलापनिबद्ध नही है। अर्थात् खयाल को यदि 'सुर' विहार की रीति से न गाकर केवल स्थायी, अन्तरा, सवारी और आभोग के गायन के ढग से गाया जाय तो जो रूप बनेगा, वैसा ही होगा। रागिनी की दृष्टि से नियम का किसी प्रकार व्यतिक्रम न कर इस प्रकार का गान गाया जाता है। किन्तु यह नियम उच्चाग (शास्त्रीय) सगीत के मामले मे नही चलता।

अत निष्कर्ष यह निकलता है कि भारत की प्रादेशिक भाषाओ के गान मात्र ही 'देशी' गान हैं एव इस गान को जब प्राचीन मार्ग सगीत के आदर्श से गाया जाए, तभी उसे उच्चाग भारतीय सगीत का सम्मान मिलता है। इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथ्य क्या प्रमाणित करते है, इस पर विचार किया जाए।

ध्रुपद को हम उच्चाग (शास्त्रीय) हिन्दी गान की श्रेणी मे स्थान देते है। इस प्रकार के गान आलापचारी उस्ताद-गुणियो के अलावा और कोई नहीं गाता। किन्तु इसका प्रकृत उत्स क्या है, इसे जान लेने पर पता चलेगा कि पहले यह एक प्रकार के देशी गान के नाम से ही प्रचलित था।

'आइन-इ-अकबरी' पुस्तक के सगीत-आलोचना क-अश मे ध्रुपद के विषय मे जो कुछ लिखा हुआ है, ऐतिहासिक शीयुक्त यदुनाथ सरकार कृत उसका अग्रेजी अनुवाद यहाँ उद्धृत करता हूँ। यह पुस्तक मूलत अबुल फजल ने लिखी है

"The second kind is called Desi or applicable to the special locality, like the singing of the Dhrupad in Agia, Gwalior, Bari and the adjacent country"

ये गान जो गाते थे वे है

"Kalawant or Bards, are well-known, and sing Dhrupad"

"The Dhadi women chiefly play on Daf and the Duhul, and sing the Dhrupad"

पखावज को आजकल हम ध्रुपद के उपयोगी वाद्य के रूप मे ही जानते है, किन्तु अबुल फजल के युग मे उसका सम्मान कितना था, यह बात निम्न अश पढने पर समझी जा सकेगी

"The natwas exhibit some graceful dancing, and introduce Various styles to which they sing They play upon the Pakahàwaj, the Rabab and the Tala "

"The kanjira The men of this class play Pakhawaj, the Rabab and the Tala, while the women sing and dance "

यह लोकप्रचलित ध्रुपदगान और पखावज मध्ययुग के वैष्णव धर्माचार्यो की सहायता से सभी स्तरो पर गान-रूप मे फैल गया एव इनसे ही सम्राटो और राजा-महाराजाओ के दरबार मे किस प्रकार उसे दरबारी सगीत रूप मे स्थान मिला एव उच्च वर्ण के गान रूप मे परिचित हुआ, इसका भी एक इतिहास है।

भारत का वैष्णव समाज चार भागो मे विभक्त था यथा श्री, रुद्र, निम्बार्क और माध्य। क्रमश इनके प्रतिष्ठाता थे रामानुजाचार्य, विष्णुस्वामी निम्बार्काचार्य और माधवाचार्य। ईसवी चतुर्दश शताब्दी और षोडश शताब्दी के बीच ये चार सम्प्रदाय पॉच भागो मे विभक्त हो गए और उनके नाम हुए हरिदास (निम्बार्क), चैतन्य, राधावल्लभ, पुष्टिमार्ग और रामानन्द। प्रथम चार दलो की मूल पीठ थी वृन्दावन या ब्रज-अचल। निम्बार्क-सम्प्रदाय इनमे सबसे प्राचीन है। इनमे से ही श्रीभट्ट और हरिव्यासदेव इत्यादि कई ख्यातनामा वैष्णव कवियो और गीतकारो का आविर्भाव हुआ। उनमे स्वामी हरिदासजी श्रेष्ठ थे। मन्दिर की उपासना के उपयोगी गानो की रचना मे ललित किशोर और भगवत्रसिक नामक उनके दो शिष्यो ने उस युग मे काफी नाम कमाया था। इस युग मे हम हरिदासजी को विशेष रूप से बैजू, रामदास और तानसेन के समान गुणियो के गुरु रूप मे जानते है। ये गुणी वैष्णव भक्तो के दल मे शामिल नहीं हुए, बल्कि उन्होने उस समय के सम्राटो और राजा-महाराजा के दरबारों मे आश्रय ग्रहण किया। सम्राट अकबर स्वय ब्रज-अचल के गायको का गायन पसन्द करते थे, सम्भवत. इसीलिए वे अपने दरबार में उन्हे एकत्र किया करते थे।

वल्लभ सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता थे हित हरिवशजी। ये षोडश शताब्दी के भक्त गायक और गीतकार थे। इनके गानो का प्रभाव परवर्ती युग के वैष्णव भक्तो में फैल गया था।

वल्लभाचार्य का जन्म ई १४७९ मे हुआ। ये पुष्टिमार्ग-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता थे। इनके मतावलम्बियो को अष्टछाप कहा जाता है। इस पुष्टिमार्गी दल ने उनके गानो को विभिन्न नियमो द्वारा निबद्ध किया था। वल्लभाचार्य ने अपने सुयोग्य शिष्यो-कुम्भनदास, अन्ध सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास आदि की सहायता से वृन्दावन के गोवर्धन मन्दिर मे भक्ति के गान गाने का समय निर्धारित किया। बाद मे इस सम्प्रदाय के विठ्ठलनाथ के प्रोत्साहन से भक्त गोविन्दस्वामी, नन्ददास, चित्स्वामी और चतुर्भुजदास ने इसी सिद्धान्त के अनुसार और भी गानो की रचना की। इस सम्प्रदाय के इन कुल आठ गीतकार भक्त कवियो द्वारा प्रतिष्ठित सघ ही 'अष्टछाप' नाम से परिचित है। इनके गानो की धारा ही अन्य गुणियो द्वारा प्रचारित है और उसे धनीवर्ग के दरबार मे स्थान प्राप्त हुआ है।

अष्टछाप सम्प्रदाय के गान को कीर्तन कहा जाता है एव इसके गायक-दलं को कीर्तनमडली कहा जाता है। यह गीत सम्प्रदाय गायन मे उदारपन्थी रहा एव इसीलिए वे अन्य सम्प्रदाय के भक्ति-गानो का भी अपने मन्दिर की उपासना के लिए सग्रह करते और उन्हे गाते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे अष्टछाप कवियो के गानो का उत्कर्ष हुआ और विस्तार भी।

प्राचीन वैष्णव कवि-गायको ने अपने गानो को किस नियम से निबद्ध किया था, उसका सक्षेप मे वर्णन किया जा रहा है। उन्होने निश्चित किया था कि प्रत्येक प्रहर के साथ मेल रखकर अनुकूल शब्द-चयन व राग-सयोजन कर गान गाना होगा। वैष्णव सम्प्रदाय के बडे-बडे ऋतु-उत्सवो के गान भी इस नियम से मुक्त नही हैं। वैष्णव गीतकार-भक्त उस समय प्रचलित सभी रागिनियो और तालो मे गानो की रचना करते थे और उन गानो की भाषा थी उस अचल के जनसाधारण की बोली अर्थात् ब्रज-भाषा। प्रत्यूष मे वे भैरव, विभास, देवगान्धार, रामकली, ललित आदि रागो मे निबद्ध गान गाते, जबकि दिन कुछ चढने पर बिलावल, आसावरी, तोडी आदि निबद्ध गान गाते, सायकाल से मध्यरात्रि तक श्री, गौडी, पूर्वी, धानश्री, पुरिया, कल्याण, कान्हडा, मल्लार, केदार, वसन्त, काफी, जयजयवन्ती, हिन्दोल, मालकोश, परज आदि रागो मे निबद्ध गान गाए जाते। किस प्रहर मे कब गाना होगा, इसका भी क्रमबद्ध नियम था। ये गान जिन तालो मे गाए जाते थे वे हैं—चौताल, धमार, चर्चरी, सूलफॉक्ताताल, आडाचौताल, त्रिताल, रूपक और दीपचन्दी। सहज तालो के अन्य गान भी थे। वैष्णव सम्प्रदाय के इन अनुयायियो ने ही षोडश शताब्दी मे गान के साथ रचयिता का नाम जोडने की प्रणाली शुरू की। गान प्रचलित ध्रुपद के समान स्थायी, अन्तरा, सचारी, आभोग के चार भागो मे विभक्त हैं। वैष्णव भक्तो की इस प्रकार की प्राचीन धारा के गान आज भी पखावज, करताल, तानपुरा और सारगी के सहयोग से उदयपुर, नाथद्वारा और गुजरात के किसी-किसी मन्दिर मे सुने जा सकते है। वे गायन के समय आज भी इन गानो को अपनी इच्छा के अनुसार घटा-बढा नहीं सकते। वे इस गान को 'कीर्तन' कहते हैं और इस दल को कीर्तनमडली। मैने स्वय जब इस प्रकार की एक मडली का गायन सुना, तब मैने देखा कि मूल गायक एक होता है और उसके पीछे दस-बारह दोहा या गान गाने वाले बैठते हैं। इस मडली की सगत करनेवाले एक पखावजी, एक सारगीवादक और एक तानपुरावादक रहते हैं। करताल आकार मे अविकल बगाल के कीर्तन के करताल के समान है। मूल गायक और उसके कुछ साथी पखावज के बोलो के साथ छन्द मिलाकर उसे बजा रहे थे। प्रत्येक राग मे वे आलाप भी करते है, किन्तु वह आलाप आज के उस्तादो की तरह विस्तृत नहीं है, बहुत सामान्य है। ध्रुपद के समान विविध छन्दो मे बोलतान, दुगुन, चौगुन वे करते है। देखा जाता है कि मूल गायक जब एक पक्ति गाकर छोड देता है तब सहायक दोहा-दल उसकी पुनरुक्ति करता है। उन्होने जितने भी गान पेश किए वे सब प्राचीन प्रथा के अनुसार ही थे एव वे सभी मध्ययुग के भक्तकवियों-द्वारा रचित थे।

प्राचीन युग के इन वैष्णव सगीतसाधको ने अपने गानो की रचना ग्राम-प्रचलित सहज भाषा के ध्रुपद और धमार ढग से की। उसके साथ उन्होने प्राचीन मार्ग-सगीत-पद्धति को

मात्र मिलाया था। उनकी सहायता से ही ब्रज-अचल के मार्गधारा मिश्रित देशी गान को दरबार की पृष्ठपोषकता प्राप्त हुई और वह दरबारी या उच्चाग के सगीत के रूप मे विख्यात हुआ।

अष्टादश शताब्दी के सदारग और अदारग के समान तानसेन-वशीय गुणी ध्रुपदियो ने 'जिकिर' या 'कव्वाली' नामक एक प्रकार के लोकप्रचलित गान के साथ मार्ग-पद्धति की गायकी मिलाकर खयाल का प्रवर्तन किया। क्रमश खयाल गान मार्गसगीत का इतना अधिक अनुरागी हो गया कि रागिनी या सुर का तान-विस्तार उसका एकमात्र लक्ष्य बन गया। इस युग का बडा खयाल उसका अच्छा नमूना है। हिन्दी टप्पा गान का उद्‌भव पजाब अचल के ऊँट-चालको द्वारा गाये जाने वाले एक प्रकार के देशी गान से है। इस युग का सुपरिचित ठुमरी-गान एक समय अयोध्या अचल के देशी गान के रूप मे परिचित था, यह बात सभी जानते हैं। इस कारण ही गत शताब्दी की उस्ताद-मडली मे ठुमरी गान के प्रति अवज्ञा-भाव प्रकट किया जाता था। और हिन्दी भाषा के जो देशी गान मार्गपद्धति की सहायता से अपना देशी भाव आज भी छोड नहीं सके अथवा कम नहीं कर सके हैं, वे हैं भजन, दोहा, पद, चैती, कजरी आदि गान। किन्तु उनमे उच्च श्रेणी की ओर उत्कर्ष की चेष्टा का भाव नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आजकल उस्तादो का एक वर्ग उच्चाग हिन्दी सगीत के समारोहो मे भजन, चैती, कजरी आदि का गान जिस प्रकार तान और स्वर विस्तार द्वारा करता है, उससे ऐसा लगता है कि उच्चाग सगीत के अन्तर्गत उन्हें स्थान दिए जाने मे अधिक देरी नहीं होगी। ध्रुपद, खयाल, टप्पा और ठुमरी गान का जन्म प्रचलित देशी गान से ही हुआ है, उसका और एक बडा कारण है उसकी भाषा। अर्थात् इन गानो की भाषा ग्राम अचल के लोगो की सहज भाषा है। उसी भाषा मे गान प्रस्तुत कर उस्तादो ने आज भी उस भाषा को बचाए रखा है एव इस भाषा के साथ आज गाये जानेवाले पल्लीसमाज के भजन, दोहा, चैती, कजरी आदि गान की भाषा से किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है। आज हम जिस रूप मे उच्चाग हिन्दी गान सुन रहे हैं, उसकी उत्पत्ति मार्ग और देशी गान को एक मे मिलाकर गाने की गायको की चेष्टा से हुई थी। इस प्रकार एक करने, मिलाने का प्रयास भारतीय सगीत मे कई बार हुआ है। युग-युग से देशी गान से कितने प्रकार के 'सुर' मार्ग सगीत ने सग्रहीत किए हैं। बाद मे उन्हे नियमो मे आबद्ध कर राग-रागिनी रूप मे प्रतिष्ठापित किया गया है। इससे ही समझा जाता है कि उच्चाग सगीत के प्रचारक खूब ही उदारमना थे। अत वे परिवर्तन के पक्षपाती नहीं हैं, इस प्रकार की बात कहना उनके प्रति अन्याय होगा। किन्तु वे जिस नियम की बात करते हैं, उस नियम का बन्धन न रहने पर भारतीय सगीतज्ञो द्वारा युगो की साधना से निर्मित राग-रागिनी का यह विराट् महल पूर्णतया ध्वस हो जाता। भारतीय सगीत की राग-रागिनी के चिन्तन की इतनी बडी सम्पद् इस नियम के बध ान के बिना टिक नहीं सकती। अर्थात् राग-रागिनी के स्वरूप-प्रकाश के लिए आरोही-अवरोही, वादी-सवादी, अनुवादी, पकड आदि जिन नियमो का वे आविष्कार कर गए हैं, उन्हे अस्वीकार कर देने से भारतीय उच्चाग (शास्त्रीय) या मार्ग सगीत का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।

किसी भी गान को मार्ग सगीत के आदर्श से या उच्चाग हिन्दी गान के ढग से गाने पर उस्ताद गान के 'सुर' या रागिनी, ताल या छन्द को मुख्य बनाकर शब्द को गौण रखने

पर बाध्य हो जाते है। तब उनका विशेष झुकाव गान के 'सुर' या रागिनी को छन्दोबहुल विस्तार एव तानो द्वारा प्रस्तुत करने की ओर रहता है। यहाँ गायक शब्द को जो स्थान देते हैं उसकी तुलना बगाल की प्रतिमा के भीतर के बाँस और शुष्क तृण से तैयार ढाँचे से की जा सकती है। उस ढाँचे को गुप्त रखकर ही सुन्दर छन्दोमय गठन, गढन और रग-तूलिका से तैयार एव अलकारो से सुसज्जित मूर्ति ही सबके सामने रखी जाती है। हिन्दी उच्चाग सगीत भी तो वैसा ही करता है। उच्चाग हिन्दी गान का मूल उद्देश्य है 'सुर' या रागिनी की सहायता से अहेतुक आनन्द की साधना। इसीलिए गायको के लिए शब्द रहने, न रहने से कोई फर्क नहीं पडता। जिस कारण कठ्यसगीत मे जो शब्दहीन राग-रागिनी के आलाप मे पटु है, उनकी हम हमारे सगीत के सबसे बडे शिल्पी के रूप मे श्रद्धा करते हैं। ऐसे कई सगीत-शिल्पी है जो शब्द-निरपेक्ष 'सुर' या रागिनी के आलाप मे दक्षता को सगीत-साधना की चरम परिणति मानते है। जो साधक 'सुर' की साधना मे इस स्तर तक उठ सकते है, उन्हे सगीत का और कोई पथ पसन्द नही आता। उनके लिए तब शब्द अवान्तर हो जाते हैं।

उच्चाग भारतीय सगीत के सुर-जगत् को राग-रागिनी का जगत् कहा जाता है। यह यथार्थ मे भारतीय संगीत की अत्यन्त मूल्यवान् सम्पद है, जो ससार के किसी भी देश मे नहीं है। वास्तव मे राग-रागिनी है लिरिक कविता के समान स्वर-सज्जा की सहायता से मानव के हृदयावेग की अभिव्यजना मात्र। उच्चाग भारतीय सगीत का यही प्रधान वैशिष्ट्य है। हृदय की विशेष वेदना को रागिनी विशेष के ढाँचे मे सयोजित करना व उसकी अभिव्यजना करना ही इसकी चेष्टा है, जिस प्रकार विभिन्न युगो के लिरिक कवियो ने हृदयावेग को 'कविताओ' की भाषा और छन्द से बाँधना चाहा है। राग-सगीत की सहायता से सगीत-स्रष्टा मानव के सूक्ष्म हृदयावेग को कितना रसोत्तीर्ण कर सकते है, यही पर उनकी वास्तविक परीक्षा है। सूक्ष्म विचार से मनुष्य के मन की वेदना मे कितना वैचित्र्य हो सकता है, यह बात हमारे रागो एव रागिनियो को गभीर रूप से अनुभव करने पर समझी जा सकती है।

शब्द 'सुर' (स्वर-प्रतिमा), छन्द या ताल के मिलन का जो पूर्ण रूप हम देखते है वह है देशी सगीत। उच्चाग हिन्दी गान की राग-रागिनी रखकर उसकी गीतकीर्ति छोड देने पर जो रूप बनता है, वह है गान का वही आदि रूप। गान की इस त्रिधारा के सम्मिलन से पूर्णता की एक मूर्ति प्रकट होती है, उनमे से किसी एक अश को अस्वाभाविक रूप से विस्तृत कर देने पर वह छन्द-साम्य नष्ट होगा ही। इस श्रेणी के गान के शब्द की तुलना काष्ठमूर्ति या प्रस्तरमूर्ति से की जा सकती है। मूर्ति उत्कीर्ण करते समय काष्ठ या प्रस्तर के अपने स्वभाव या सत्ता को पूर्णतया स्वीकार करके ही शिल्पी गढन, गठन, छन्द आदि द्वारा उसे रूप प्रदान करता है। प्रस्तर या काष्ठ की मूर्ति पर मिट्टी का अस्तर चढाकर या विविध प्रकार के रगो का लेप और तूलिका की रगीन लकीरो के अलकारो से भाराक्रान्त कर उस निजस्वता को मूर्ति में विलुप्त नहीं होने देता। समझदार व्यक्ति कहेगा कि यही वह शिल्पसृष्टि सार्थक है।

वास्तव मे इस प्रकार के गान के शब्द ही है उसकी मूल भित्ति। रागिनी और छन्द शब्द के साथ मिलकर शब्द के भाव को और भी प्राणवान् कर देते है। कवि का कहना है कि शब्द जब मन के भावो को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करने मे असमर्थ रहते है तब 'सुर' (स्वरसज्जा-धुन) की सहायता के अलावा और कोई गति नहीं है। तब 'सुर' और छन्द ही शब्द के साथ मिलकर शब्द के मर्म को सबके सामने प्रकट करते है। शब्द 'सुर' और छन्द के सुन्दर मिलन से पूर्णता का जो रस प्रकट होता है, सगीत-साधको के लिए उसका भी मूल्य कम नही है। साधना के पथ मे इसकी भी शक्ति असीम है। जिस कारण मुसलमान युग मे उत्तर भारत के प्राय सभी बडे-बडे धर्मसाधको ने अपनी साधना मे गान को ऊँचा स्थान दिया था, उसी कारण भारतीय सगीत मे कीर्तन, भजन, दोहा, पद आदि का एक विशाल स्वतत्र जगत् हम देख सकते है। इसकी गीत-पद्धति प्रथम वर्ग की अपेक्षा काफी सहज और सरल है।

तीन स्वरो से लेकर सात स्वरो द्वारा गठित विविध प्रकार के देशी सगीत (जिसे साधारणतया 'लोकसगीत' कहा जाता है) हम हमारे चारो ओर कभी-कभी सुनते है। इस प्रकार के गानो के जो रचयिता हैं उनमे पूँथीगत विद्या और उच्चाग सगीत की शिक्षा मे प्रशिक्षित एव पूर्णतया अशिक्षित, सभी प्रकार के लोग है। देशी सगीत के जो रचयिता है, साधारणतया देखा जाता है कि उन्होने किसी उस्ताद के शिष्य की तरह सगीत-शिक्षा ग्रहण नही की। उन्होने आरम्भ से स्वरग्राम या रागिनी की परिचय-प्राप्ति द्वारा गान नहीं लिखे। उन्होने कम उम्र से ही बडे-बडे गायको को सुना और साध्य के अनुसार उन गानो को गाने का प्रयास किया। इस प्रकार गान गाते-गाते ही वे गायक हो गए। अर्थात् गान के सहज परिवेष्टन ने ही उन्हे सगीत मे निपुण बना दिया। बाद मे जब उन्होने अपने आनन्द को एक दिन गान मे व्यक्त करने की चेष्टा की, तब उनके अन्तर मे उसी सगीत की छाप प्रस्फुटित हुई। देशी पद्धति का समस्त भारतीय संगीत युग-युग से इस प्रथा से रचित होता रहा है और आज भी हो रहा है। इस पद्धति मे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। इससे स्पष्ट समझा जाता है कि गान मानव का बहुत बडा अन्तर्निहित प्रयोजनीय सत्य है। मनुष्य को गाना होगा चाहे वह एक सुर मे हो, दो सुर मे हो या सात सुर मे। गान के माध्यम से वह अपने मन के अहेतुक आनन्द की वेदना प्रकट किए बिना रह नही सकता।

भारत के प्रत्येक प्रदेश मे देशी गानो की ऐसी कई धुने मिल सकती है, जिन्हे राग-सगीत की श्रेणी मे स्थान नहीं मिला है। बगाल मे ऐसी यथेष्ट धुनें है। इन धुनो ने राग-सगीत के समान हृदयावेग के विविध रूप-वैचित्र्य को अभिव्यजना देने की चेष्टा नहीं की। इन धुनो मे हमे एक हृदयावेग का प्रकाश मिलता है। किन्तु वह प्रकाश मनुष्य की वेदना का प्रथम आदिरूप है। इसमे बाहर के परिवेश का किसी प्रकार का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता, यह बिलकुल स्वत स्फूर्त है। वेदना ही है सभी देशी 'सुरों' (धुनो) का मूल सुर। इन सुरो की सहायता से ही मनुष्य चिरकाल से अपने अन्तर की गभीर वेदना के प्रवाह को अभिव्यजना देने के लिए बार-बार चेष्टा करता रहा है। इन गानो मे शब्दो का प्राधान्य रहते हुए भी 'सुर' (धुन) गान के असल प्राण हैं। सहज होते हुए भी मन को आकृष्ट करनें की क्षमता

उनमे असीम है। गान की पक्ति-पक्ति मे एक धुन की पुनरावृत्ति रहती है, किन्तु ऐसा होते हुए भी यह 'सुर' (धुन) मनुष्य के हृदय का ऐसा अकृत्रिम 'सुर' है जिसे बार-बार सुनने पर भी क्लान्ति अनुभव नहीं होती। विविध प्रकार के सामान्य शब्द भी उन 'सुरो' की सहायता से असाधारण हो उठते हैं एव इस गान के 'सुर' और छन्द के अलकार जैसा प्राय कुछ नही है। इन गानो के 'सुर' ऐसे है जिनकी बुद्धि-विचार से रचना नही की जाती। विविध प्रदेशो के कई प्रकार के जो 'सुर' आज तक हमे मिले हैं, वे काल के विचार से इस प्रकार परीक्षण के दौर से गुजरे है कि आज उन्हे पूर्णतया हटाकर नये ढग से इस ढग के 'सुरो' की रचना करना प्राय असम्भव है।

सभी प्रकार के बगाली गान पूर्ण रूप से देशी आदर्श के गान हैं। इन गानो ने युग-युग से मार्ग-पद्धति के राग-रागिनी सगीत से 'सुर' सग्रह कर अपने 'सुर' के ऐश्वर्य को जिस प्रकार बढाया है, उसी प्रकार अपने प्रदेश के कई निजस्व 'सुरो' की भी सृष्टि की है, जिसके साथ मार्ग-पद्धति के उच्चाग सगीत का कोई योग नहीं है। एव ऐसा भी देखा जाता है कि बगाल के इन देशी 'सुरो' ने भी राग-सगीत मे स्थान पाया है। मैं मानता हूँ कि 'बगाली' और 'भटियाली' नामक दो रागिनियाँ इसके उत्कृष्ट उदाहरण है। बगला गानो ने अपने को मार्ग सगीत-आदर्श मे सजाने की चेष्टा नही की ऐसा नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण आत्मविलुप्ति उनके लिए सम्भव नही थी। मार्ग सगीत के साथ मिलन के दौर मे भी बगला गान अपना वैशिष्ट्य प्रस्फुटित कर सका है। बगला सगीत मे आलाप के बाद बगला गान गाते प्राय सुना नहीं जाता। मैने देखा है कि पाला-कीर्तन मे बडे ताल के गान मे स्वर-विस्तार किया जाता था और आज भी किया जाता है। किन्तु उसे उच्चाग सगीत के समान आलाप-पद्धति का स्वर-विस्तार नही कहा जा सकता। कीर्तनिया गान के शब्दों को स्वर-सज्जा की सहायता से लम्बा अवश्य करते है। उच्चाग हिन्दी गान के समान ताने लेने की रीति कीर्तन गान मे नहीं है। किन्तु 'आखर' नामक स्वरयुक्त शब्दो की तान वहाँ काफी है। इसके अलावा गान मे एक ही पक्ति की पुनरुक्ति के समय छोटे-छोटे नए अलकारो के प्रयोग की रीति है। बगला भाषा मे ध्रुपद की रचना हुई है, किन्तु उनका गायन भी हूबहू हिन्दी गान के आदर्श से नहीं होता। हिन्दी गान की तुलना मे उसकी गीत-रीति को अधिक परिमाण मे सहज और सरल किया गया है।

बंगाली उस्तादो ने उच्चाग हिन्दी गान के आदर्श से गाने के लिए बगला गानो की रचना की है और आज भी कर रहे है एव उसी प्रकार 'सुर'-विहार की स्वतत्रता लेकर उसे गाकर सुनाने का प्रयास भी किया गया है, किन्तु बगाली समाज मे इस प्रकार के गायन को कितना आदर मिला है, यह विचारणीय है। उस्तादपथी रचयिताओ की इन रचनाओ को गान या काव्य रूप मे देश मे प्रतिष्ठा नहीं मिली और हिन्दी गान के आदर्श से सजाए गए इन गानो को उत्तर भारतीय सगीत की उस्तादमंडली मे स्थान नहीं मिला। किन्तु जिन स्रष्टाओ ने राग-रागिनी के साथ शब्द को समान स्थान देकर, उसके 'सुर'-विहार या अलकार-बाहुल्य का वर्जन कर बंगला गानों की रचना की, उनके गानो ने ही बगाली जन को अनुप्राणित किया है। इन सभी रचयिताओ ने उच्चाग हिन्दी सगीत से राग-रागिनी,

छन्द का प्राचुर्य बगला गानो मे ग्रहण किया है, किन्तु उसकी गीतरीति मे प्रयुक्त सुर-विहार का वर्जन करने की चेष्टा की है।

गुरुदेव के गानो की रचना भी उस आदर्श को लेकर हुई है, अर्थात्, गुरुदेव ने अपने गानो मे शब्द को भित्ति मानकर 'सुर' और छन्द को समान आसन प्रदान किया है। इस गान मे रागिनी है, किन्तु गायन के समय स्वर-विस्तार, तान आदि का वैचित्र्यमय स्वर-जाल का इसमे स्थान नहीं है। आज बगाल के जनसाधारण मे ये सहज ही इसलिए प्रचलित हो गए हैं कि इन गानो की रचना देशी सगीत के आदर्श से हुई है।

प्राचीन विद्वानो ने भारतीय सगीत को मार्ग और देशी नाम से दो भागो मे विभक्त किया है, किन्तु इसका कारण यह नहीं समझ लेना चाहिए कि एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यावहारिक क्षेत्र मे देखा गया है कि ये दो धाराएँ कभी परस्पर विरोधी या विच्छन्न नहीं थी। दोनो एक-दूसरे की परिपूरक थीं। जब भी कोई अच्छी देशी धुन मार्ग-सगीत-पथियो के कान मे पडी है, जब उन्होने उसे लेकर अपनी विश्लेषण-पद्धति के अनुसार विचार किया है और उमकी मूल स्वरगठन-पद्धति का पता लगाकर उसे अपनी रुचि के अनुसार सजाया है। वे मार्ग-सगीत के नियमो के अनुसार उसके आरोह-अवरोह, वादी-सवादी, अनुवादी, वर्ज्यस्वर, राग-रागिनी की पकड आदि स्वर-नियमो का निर्देश देते थे। तब नाम-गोत्रहीन ये देशी 'सुर' (धुन) नाम ग्रहण कर रागिनी-दल मे स्थान पाते थे एव उस्ताद गुणी उसे आलाप-पद्धति मे गाकर उस रागिनी का एक स्वतत्र रूप प्रकट करते थे। मालव, गुर्जरी, रामकिरी या रामकली, कर्णाट, गान्धार, गौडी, वृन्दावनी, सिन्धु या सिन्दूरा, भूपाली, गौण्डकिरी, पहाडी, बगाल, कोडादेश प्रभृति सभी प्राचीन राग देशज धुनो से सग्रहीत हैं, यह बात उनके नामो से ही प्रकट हो जाती है। देशी सगीत से सग्रहीत और उस्तादमडली मे गाई गई रागिनियो ने अन्य युग मे देशी पद्धति के गान-रचयिताओ को जब अनुप्राणित किया, नब उन्होने आलाप तान, विस्तार आदि अलकारो का परित्याग कर उसी धुन मे गानो की रचना की। अर्थात् एक ही धुन जिस वर्ग के समक्ष जिस रूप मे प्रकट हुई, उसी के अनुसार उसे सगीत मे मार्ग और देशी कहा गया।

गुरुदेव के गान देशी संगीत के आदर्श से रचित होते हुए भी, उन्होने उच्चाग हिन्दी गान से अपनी शक्ति का सचय किया है।

'सुर' (राग, प्रतिमा) सयोजन और छन्द के वैचित्र्य मे गुरुदेव ने उच्चाग सगीत की राग-रागिनी और छन्द से काफी सहायता पाई थी। उच्चाग हिन्दी सगीत की मिश्र, अमिश्र, प्रचलित, अप्रचलित प्राय सौ से अधिक राग-रागिनियो की सहायता से गानो की रचना की, उसी प्रकार उन्होने उनके कई प्रकार के तालो के छन्द भी ग्रहण किए। किन्तु उन्होने उस हिन्दी ध्रुपद को देशी आदर्श के ध्रुपद का रूप दिया। उसमे प्रचलित हिन्दी ध्रुपद के समान विविध राग-रागिनियाँ है, चौताल, धमार, सूलफाक्ता आदि ताल हैं, किन्तु मूल ध्रुपद के समान 'सुर' (राग) और छन्द के विचित्र अलकारो का उसमे व्यवहार नहीं किया गया है। हिन्दी खयाल और टप्पा गान के अनुसरण से रचित उनके बगला गानो मे भी ऐसी ही स्थिति है। वे गान भी खयालिये के समान तान-विस्तार से नहीं गाए जाते। उन्हे

देशी आदर्श से गाना होगा। इस प्रकार उनके प्रारम्भिक रचना-काल मे उनके गानो के 'सुर' और ताल का भडार उच्चाग हिन्दी गान से पूर्ण किया गया था। इस समय मे उन्होने हिन्दी ध्रुपद, खयाल, टप्पा के अनुकरण से सर्वाधिक गानो की रचना की थी।

उनके गानो मे उच्चाग हिन्दी सगीत का इस प्रकार बडा प्रभाव परिलक्षित होते हुए भी उन्होने बगाल के निजस्व विशुद्ध देशी सगीत की (जिसे हम लोकसगीत कहते हैं) अवज्ञा भी नही की। अपने गानो के 'सुर' और छन्द का ऐश्वर्य बढाने के लिए उसे भी ग्रहण किया था। इस प्रकार के देशी गान के प्रभाव से रचित उनके गानो की सख्या सामान्य नही है। इसी कारण उनके गान गाकर जिस प्रकार हमारे लिए उच्चाग सगीत के राग-रस के माधुर्य का उपभोग करना और उसके नाना प्रकार के तालो के छन्द-रस को ग्रहण करना सुगम होता है, उसी प्रकार विशुद्ध देशी सगीत का 'सुर' (धुन) माधुर्य और उसका सहज, मन लुभाने वाला छन्द हमे आकृष्ट करता है। उस्ताद की सहायता से उच्चाग सगीत सीखकर उसका रस ग्रहण करना जनसाधारण के लिए सम्भव नहीं होता। इसके लिए बहुत परिश्रम करना पडता है और इसमे काफी समय भी लगता है, इसी कारण सगीत-रस-पिपासु साधारणतया उनके पास नहीं जाते। दूर से ही उनके प्रति सम्मान प्रकट करते है। गुरुदेव के गान सगीत-रस-पिपासु जनसाधारण की यह असुविधा काफी हद तक दूर कर देते है। इन गानो मे राग-रागिनियो का विस्तृत अलकृत रूप अवश्य नही है, किन्तु उसके निराभरण, सहज, सरल रूप के माध्यम से उसके मूल ढॉचे को उन्होने ठीक कायम रखा है। इसीलिए उनके गानो मे उच्चाग सगीत की राग-रागिनियो के रस को सहज ही अनुभव किया जाता है। विविध रसपूरित काव्य के साथ इन राग-रागिनियो को गुरुदेव ने जिस ढग से मिलाया है, उनमे रस का जो वैचित्र्य है, उसे अनुभव करना और भी सहज हो गया है और यहीं पर सगीत-रचना की उनकी दक्षता प्रकट हुई है।

शब्द, 'सुर' और छन्द के एक साथ मिलन से जो गान रूप लेता है, उसमे कवि का प्रयास कविता के भाव के साथ मेल खाने वाली राग-रागिनियॉ सजाने का रहता है। मैने पहले ही कहा है कि लिरिक कविता का जो उद्देश्य है, राग-रागिनी का भी मूलत वही उद्देश्य है। अत काव्य और रागिनी सगीत के समान बोधसम्पन्न कवि के गानभाव और 'सुर' (रागिनी) के मिलन से एक अनिर्वचनीय रस की सृष्टि करेगे ही, इसमे आश्चर्य जैसी बात क्या है।

राग-रागिनी की सहायता से गान की रचना करते समय गुरुदेव ने कई प्रकार के मिश्र रागो की सृष्टि की है। प्रतिभावान् शिल्पी के लिए इस प्रकार की नूतन सृष्टि स्वाभाविक है। किन्तु बगाल मे तुलनामूलक आलोचना करते हुए कई गुणियो ने गुरुदेव की इस सृष्टि-प्रतिभा का उल्लेख करते समय उच्चाग हिन्दी सगीत को नीचा दिखाने की चेष्टा की है, इसका मैंने आरम्भ मे जिक्र किया है। राग-मिश्रण उच्चांग सगीत का तिरस्कार नहीं है। इस क्षेत्र मे भी उनके परिवर्तनशील चिन्तन का यथेष्ट प्रमाण मिलता है।

भारतीय संगीत के क्रमिक विकास के इतिहास की आलोचना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि आज हम राग-रागिनी का इतना जो वैचित्र्य और विकास देखते हैं वह प्राचीन

सगीत गुणियो के उदार मन से सब कुछ ग्रहण करने के आग्रह से ही सम्भव हो सका है। राग शब्द की उत्पत्ति के इतिहास मे हम पाते हैं कि 'राग' शब्द का व्यवहार आज हम गान मे जिस प्रकार करते हैं, नाट्यशास्त्र के युग मे वैसा नहीं होता था। ऐतिहासिको का अनुमान है कि कई शताब्दियो बाद मुनि मतग ने अपने ग्रन्थ 'बृहद्देशी' मे पहली बार राग का उल्लेख किया है और उसकी व्याख्या की है। मुनि मतग ने कहा है कि देश से उत्पन्न रागो की सख्या अनन्त है। राग तीन श्रेणियो मे विभक्त हैं उत्तम, मध्यम और अधम। आलाप-आलप्ति श्रेणी के राग ही उत्तम हैं। सगीतमकरन्दकार नारदमुनि ने राग को स्त्री-पुरुष भेद से विभाजित किया। उन्होने कहा है कि २० पुरुष राग, २४ स्त्री राग और १३ नपुसक राग हैं। इसके अलावा प्रात काल गाए जानेवाले, दोपहर मे गाए जानेवाले और सन्ध्याकाल मे गाए जानेवाले रागो के नाम दिए गए हैं तथा समयानुसार गाने की सुविधा-असुविधा की भी आलोचना की गई है। कई गुणी मानते हैं कि नारद ने ही पहली बार 'सगीत' शब्द का व्यवहार सगीतशास्त्र मे किया। 'सगीत-रत्नाकर' ग्रन्थ मे २० प्रधान रागो, ८ उपरागो और इनके अलावा कुछ २६४ रागो के नामो का उल्लेख है। राग-रागिनी का जो भेद आज दिखाई देता है, 'संगीत-रत्नाकर' मे उस प्रकार के भेद का उल्लेख नहीं है। वर्तमान कर्नाटक सगीत के मुखारी या कनकागी मेल (स्वरमेल) ही 'रत्नाकर' के मत से शुद्ध स्वरमेल बताया जाता है। यह उत्तर भारत के भैरव राग के काफी कुछ समान है। लोचन पडित ने अपने ग्रन्थ 'रागतरगिणी' मे पहली बार कहा है कि १२ थाटों से ७५ जन्य रागो की उत्पत्ति है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनके समय से शुद्ध स्वरमेल (थाट) भैरवी ही माना जाता था। रामामात्य ने अपने ग्रन्थ 'स्वरमेलकलानिधि' मे कर्नाटक संगीत की प्रथम बार विस्तृत आलोचना की और रागो का वर्णन किया। रागविबोधकार सोमनाथ ने भारतीय सगीत की २२ श्रुतियो (श्रुतिविभाग) का उल्लेख किया है और जनक-जन्य रागपद्धति की बात कही है। इस समय से ही सगीत-साधको ने विभिन्न रागो का रूप ध्याननेत्र से अनुभव किया है और उनकी भावमूर्ति की रचना की है। दामोदर मिश्र प्रणीत 'सगीतदर्पण' मे छ राग और प्रत्येक राग के पॉच उपराग, कुल ३६ रागिनियो का उल्लेख मिलता है। उन्होने यह भी लिखा है कि भारतीय सगीत के कई मत थे, यथा शिवमत, हनुमानमत, रागार्णवमत। वर्तमान उत्तर भारत के उच्चाग (शास्त्रीय) सगीत का शुद्ध थाट बिलावल कहने से जिस स्वरग्राम का बोध होता है उसका प्रथम उल्लेख जयपुर-महाराजा सम्पादित 'सगीतराज' ग्रन्थ मे किया गया। इस प्रकार युग-युग से सगीत-गुणियो मे नव-नव चिन्तन चलता रहा है। इस परिवर्तनशील मन के एक उदाहारणस्वरूप विभिन्न युगो मे प्रतिष्ठित भिन्न-भिन्न मतो के रागो के नामो का उल्लेख करता हूँ

१. **सगीतरत्नाकर** - वसन्त, बृहन्नट, मल्लार, मालव, प्रदीप, कौशिक।
२ **नारदसहिता** - मालव, मल्लार, श्री, वसन्त, हिन्दोल, कर्नाटी।
३ **संगीतदर्पण** - भैरव, मालकोश, हिन्दोल, दीपक, श्री, मेघ।
४ **रागार्णव** - भैरव, पंचम, नट, मल्लार, गौडमल्लार, देश।

५	**हनुमन्त**	-	श्री, हिन्दोल, दीपक, भैरव, मेघ, मालकोश।
६	**ब्रह्मा**	-	श्री, वसन्त, भैरव, पचम, मेघ, नटनारायण।
७	**भारखडे**	-	बिलावल, कल्याण, खमाज, मारवा, भैरव, काफी, पूर्वी, आशावरी, भैरवी, तोडी।

उपरोक्त तालिका मे एक ही नाम की कुछ रागिनियो का उल्लेख हमे मिलता है किन्तु इसके फलस्वरूप हम ऐसा नही मानते कि एक नाम की इन सब राग-रागिनियो की स्वर-गठन-प्रणाली भी एक ही नियम की है। कई बार देखा जाता है कि एक युग की एक रागिनी की स्वर-गठन-प्रणाली अन्य युग मे पूर्णतया बदल गई है।

सगीतशास्त्र मे राग-रागिनियो को तीन भागो मे विभक्त कर उनका नाम दिया गया है 'शुद्ध', 'छायालग' और 'सकीर्ण'। अर्थात् 'शुद्ध' ऐसे कुछ मूल राग है जिनके रूप मे अन्य राग की छाया नहीं रहती। 'छायालग' ऐसे राग है जो अन्य राग की सहायता से अपना रूप प्रकट करते हैं। 'सकीर्ण' राग वे हैं जिनका रूप शुद्ध और छायालग के मिश्रण से प्रकट होता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि राग-मिश्रण उच्चाग सगीत का एक विशेषत्व है। राग-रागिनी के मिश्रण से नए रागो की सृष्टि होती थी, इसीलिए सगीतज्ञ नामकरण और राग-व्याख्या कर गए हैं। इस युग मे भी राग-मिश्रण से नए रागो की जो सृष्टि होती है, उसे हम आज के प्रसिद्ध सगीतगुणियो के गायन-वादन मे सुन सकते है।

श्रीयुक्त रवीन्द्रलाल राय ने अपने ग्रन्थ 'रागनिर्णय' मे इस विषय मे जो कहा है, वह विशेष, उल्लेखयोग्य है। उन्होने कहा है, "गान मे आनन्द के माध्यम से राग-स्वरूप की जो उपलब्धि है, व्याकरण मे वैसी अनुभूति नहीं होती, नियम तोडने पर भी वह उपलब्धि शुद्ध रूप मे रहती है। इस प्रकार की उपलब्धि के बल पर ही गत दो सौ वर्षो से व्याकरण के नियम-कानून तोडकर, आनन्द के साथ एकाकार होकर पुन नूतन समृद्धतर शृखलाबद्ध सृष्टिकौशल स्वत स्रष्ट हुआ है। किन्तु नियम तोडने की प्रतिज्ञा कर कोई भी कभी गाने नहीं बैठा, उसका प्रमाण यह है कि आज भी बहुत कम गायक ही जानते है कि दो सौ वर्ष पूर्व अन्य प्रकार के नियम भी थे। उस समय के अधिकाश राग आज भी कायम हैं किन्तु आवरण बदल गया है, रूपान्तरित हो गए है।"

देशी सगीत-पद्धति मे रागरागिनी के मिश्रण-अभिश्रण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इच्छानुसार गाने पर भी उस गान की धुन (सुर) विविध पथ ग्रहण करेगी ही। इसी कारण गुरुदेव के लिए मिश्रित 'सुर' (राग) की रचना करना इतना सहज हो गया था। उनके गानो मे उच्चाग सगीत के रागिनी-मिश्रण का जैसा नमूना मिलता है, उसी प्रकार बगाल के निजस्व 'सुर' (धुन) के साथ राग-रागिनी मिश्रित बगला गान मे भी उसका आभास मिलता है।

मैंने पहले ही उल्लेख किया है कि युग-युग से देशी सगीत से अवयव सग्रह कर उच्चाग हिन्दी गान ने अपने रागरागिनी-भडार को समृद्ध किया है। इसी प्रकार गुरुदेव के गान के कई 'सुरो' (स्वरसज्जा, प्रतिमा, धुन) से भी उच्च श्रेणी के सगीतगुणी लाभान्वित हो सकते हैं। इनमें से कई 'सुरों' की सृष्टि उच्चाग हिन्दुस्थानी सगीत की विविध रागिनियो

के मिश्रण से हुई है। कई 'सुरो' के साथ राग या रागिनी के अलावा बगाल की निजस्व देशी धुने भी मिश्रित हुई हैं। कुछ गानो की रचना मात्र बाउल और कीर्तन नामक एक प्रकार की देशी धुनो के मिश्रण से हुई है। इन 'सुरो' (रचना-सभार) को लेकर यदि उस्ताद पूर्वकालिक गुणियो के समान स्वरक्रम का विचार कर इसके मूल गठनपद्धति का आविष्कार कर सकते, तो उच्चाग रागदारी सगीत का भडार नव-नव रागिनियो से भर जाता, यह बात नि सन्देह कही जा सकती है एव ये रागिनियाँ मुनि मतग के मत से सम्भवत उत्तर श्रेणी की रागिनियो मे स्थान प्राप्त करती। मै ऐसा इसलिए मानता हूँ कि इनमे आलाप के ढग से गाने की गुजाइश होगी। ताल की दृष्टि से उन्होने कुछ नवीन दृष्टान्त की सृष्टि की है, उच्चाग सगीत गुणी उन्हे छन्द के अलकार से सजाकर किस प्रकार ग्रहण कर सकते है, इस पर भी उन्हे विचार करना होगा।

गुरुदेव का मन सस्कारमुक्त होते हुए भी उन्होने उच्चाग हिन्दी गान के समान सुर-विहार या मुक्त स्वरविस्तार की स्वाधीनता अपने गानो मे क्यो नहीं दी, इस विषय मे समालोचना का प्रयोजन है। हर व्यक्ति को पहले यह ध्यान मे रखना होगा कि देशी गान के शब्द, 'सुर' (धुन) और छन्द के सुन्दर मिलन से ही गान का पूर्ण रूप प्रकट हो जाता है। अर्थात् जिस स्थान पर, जिस प्रकार जितना स्थान आवश्यक है, उतना ही वहाँ रखा जाता है। प्रत्येक के साथ प्रत्येक अगागीभाव से जुडा हुआ है। अत उसके किसी एक अश को स्वतत्र रूप से प्राधान्य देने पर उस छन्द-साम्य का व्याघात होगा ही। गान के निर्दोष परिपूर्ण रूप के माध्यम से जिस अनिर्वचनीय रस का इगित हमे मिलता है, वह इसके (साम्य के) अभाव मे नहीं मिल सकता। गुरुदेव के गानो मे यह छन्द-साम्य इतना निर्दोष, त्रुटिरहित है कि जहाँ जितना प्रयोजनीय है, उतने का ही सयोजन किया गया है। प्रयोजन से अधिक उन्होंने कहीं सयुक्त नहीं किया है, जोडना चाहा भी नहीं है। प्रकृत रसिक शिल्पी के मन से उन्होने यह कार्य किया था, इसीलिए आज उन गानों के द्वारा हम गभीर आनन्द की अनुभूति करते है और उससे अभिभूत होते हैं। गान के शब्द, 'सुर' और छन्द के इस अखड रूप को नवीन ढग से सजाने की चेष्टा करने पर छन्द-हानि के द्वारा गान की क्षति निश्चित है। गुरुदेव ने गभीर सगीत-रस के अधिकारी के रूप मे गान की सृष्टि की, उसमे अन्य किसी व्यक्ति द्वारा सामान्य परिवर्तन भी धृष्टता होगी। विश्वविख्यात नटराज-मूर्ति देखकर किसी व्यक्ति के मन मे आज यदि यह भावना जाग्रत हो कि वह इस मूर्ति के साथ और कुछ जोडकर उसे और भी सुन्दर बनाएगा तो शिल्प-जगत् उसे पागल, उन्मत्त कहने मे जिस प्रकार द्विधा बोध नहीं करेगा, गुरुदेव के गानो के विषय मे भी ऐसी ही बात है। अत सार्थक शिल्पसृष्टि मे सामान्य परिवर्तन कर उसे और सुन्दर करने की चेष्टा न कर नवीन सृष्टि की ओर प्रवृत्त होना ही युक्तिसगत है। गुरुदेव ने अपने गानो की सौन्दर्य-वृद्धि के लिए अन्यो को इच्छानुसार 'सुर'-विहार की स्वाधीनता प्रदान नहीं की, उसका एकमात्र कारण यही रहा। वे मानते थे कि उन्होने प्रत्येक गान के द्वारा जिस प्रकार एक त्रुटिहीन, निर्दोष शिल्प-रचना की है, उसमें और किसी प्रकार का आभरण सहन नहीं होगा। जबरदस्ती आभरण जोडने से शब्द, 'सुर' और छन्द के परिपूर्ण रूप की अंगहानि होगी।

हिन्दी संगीत का प्रभाव

रवीन्द्र-सगीत मे कई विचित्र राग-रागिनियो का समावेश देखकर मन मे यह प्रश्न उठता है कि यद्यपि उन्होने मनोयोग से गान की शिक्षा नहीं ली, फिर भी इतनी राग-रागिनियो का रूप उनके गानो मे कैसे प्रस्फुटित हुआ। यद्यपि उन्होने शागिर्द के समान निष्ठा के साथ गुरु से गान की शिक्षा नही ली, फिर भी विविध प्रकार के हिन्दी गानो के 'सुर' (राग, स्वरसज्जा, प्रतिमा) से जब भी उन्हे आनन्द की अनुभूति हुई है, तभी उन्होने उस 'सुर' को बगला भाषा मे बॉध रखने की चेष्टा की है। उनमे गान को ग्रहण करने, याद रखने की विशेष क्षमता थी। कठिन गान भी वे अनायास ही अत्यत कम समय मे आयत्त कर लेते थे। यौवन काल मे उन्होने प्राय अस्सी प्रचलित-अप्रचलित राग-रागिनियो की सहायता से गानो की रचना की थी, किन्तु वृद्धावस्था मे विस्मृति के कारण कुछ बीस राग-रागिनियो का रूप ही उनके अन्तर मे प्रवाहित था। वार्धक्य मे रचित प्राय सभी गान इन रागिनियो पर निर्भर रहकर गठित है। किन्तु मिश्रित रूप अधिक बनता था। राग-रागिनियॉ है— तोडी, भैरवी, आशावरी, भैरव, कालिगडा, सारग, भूपाली, यमनकल्याण, छायानट, बिहाग, खमाज, बागेश्री, बहार, परज, देश, पीलू, काफी, कान्हडा, अडाणा, पूर्वी, मुलतानी और मल्लार। बाउल और कीर्तन तो है ही। उक्त रागिनियो मे कुछ को छोडकर मिश्र रूप ही अधिक सामने आता था। किसी रागिनी का अवलम्बन कर रचित 'सुर' प्राण के आवेग से इधर-उधर भ्रमण करते हुए भी समप्रकृतिक रागिनी के साथ ही मेल रखकर चलता था। विवादी प्रकृति की रागिनी के साथ स्वत किसी गान के 'सुर' का मिश्रण कभी नही देखा गया, जब तक स्वेच्छाकृत न हो। जैसे, भैरव, रामकली, कालिगडा मे से किसी एक मे गान निबद्ध करते समय उस गान मे अन्य रागिनियो का रूप स्वत आ जाता। आशावरी मे तोडी, भैरवी आदि की छाया आ गई है। यमन मे भूपाली या पूर्वी मिल गई है। मुलतानी मे भीमपलाश्री, तोडी, पीलू मिल गई है। केवल बिहाग, भैरवी, खमाज, पीलू, यमनकल्याण, काफी और बहार का रूप वे मोटे तौर पर ठीक कायम रखते थे।

'सुर' (रागिनी) की रस-कल्पना के आवेग से जिस गान की सृष्टि हुई, उसका उदाहरण है 'यदि हाय जीवन पूरण नाइ हल' गान। इस गान की रागिनी, सुर की रस-कल्पना के कई उदाहरणों मे यह एक विशेष उदाहरण है। मूल मे भीमपलाश्री का भावरस इस गान मे ठीक है, किन्तु मूल भीमपलाश्री के नियम का व्यतिक्रम हुआ है। यहॉ उन्होने रागिनी के भाव पर निर्भर रहकर उसे ही मुख्य बनाया है, राग के ढॉचे को गौण बना दिया है। इस तरीके से ही उनकी समस्त मिश्र 'सुर'-कल्पना को देखना होगा।

रवीन्द्र सगीत की राग-रागिनी को लेकर जब हम आलोचना करे, तब हमे यह बात ध्यान मे रखनी होगी कि उच्चांग हिन्दी गान मे जिस मत को प्राधान्य मिला है, उस मत से इस पर विचार करना उचित नहीं है। उस प्रकार विचार करने पर गुरुदेव के गान के सम्बन्ध मे कई भ्रान्त धारणाओ का उद्‌भव होगा, क्योकि १९वीं शताब्दी के शेषार्ध मे बगाल मे हिन्दी गान का जो नियम प्रचलित था, अधुनाप्रचलित हिन्दी गान के कई क्षेत्रो मे उसमे पृथकता आ गई है। गुरुदेव के प्रारम्भिक जीवन मे बंगाल मे प्रचलित हिन्दी उच्चाग सगीत किस प्रकार निर्मित हुआ था, और गुरुदेव पर उसका किस प्रकार प्रभाव पडा था, इस विषय पर यहॉ विस्तार से प्रकाश डालना आवश्यक है।

मुगल सम्राट् द्वितीय शाह आलम (१७५९-१८०६) के ध्वसोन्मुख दिल्ली-दरबार के श्रेष्ठ गायक-गुणी विभिन्न राज्यो मे फैल गए। तानसेन-वशज पूर्व मे आए, उनका नाम हुआ 'पुरबिया'। तानसेन के शिष्यो के वशज राजपूताना की ओर गए, अत उनका नाम हुआ 'पछाऊवाला'। तानसेन-वशजों ने काशी-नरेश, अयोध्या-नवाब, बेतिया-राजा, रीवॉ-राजा तथा अन्यान्य अनेक राजाओ के दरबारो मे आश्रय ग्रहण किया। १८वीं शताब्दी के अन्तिम काल मे दिल्ली के उस्ताद बगाल के कृष्णनगर और कलकत्ता मे भी आए। इसी समय मे अन्य एक दल मे बहादुर खॉ नामक तानसेन वशीय ध्रुपदिया विष्णुपुर मे आए। उन्हे तत्कालीन विष्णुपुर-राजा वेतन रूप मे प्रतिमाह पॉच सौ रुपए देते थे। उनके साथ पीरबक्श नामक पखावजी थे। बहादुर खॉ का जिन्होने शिष्यत्व ग्रहण किया, उनमें गदाधर चक्रवर्ती, रामशकर भट्टाचार्य, निताई नजीर और वृन्दावन नजीर के नाम विख्यात है। बहादुर खॉ के न रहने पर विष्णुपुर के इस विद्यालय मे सगीत-अध्यापक नियुक्त हुए बहादुर खॉ के शिष्य गदाधर और उनके बाद रामशंकर भट्टाचार्य। पता चला कि रामशकर से सगीत-शिक्षा ग्रहण करने के लिए विष्णुपुर से बाहर के लोग भी आते थे। गदाधर के शिष्य और पुत्र-पौत्रादि मे श्यामचॉद गोस्वामी, अनन्तलाल चक्रवर्ती, द्वारिकानाथ, कृष्णनाथ, ब्रजमाधव सगीत मे पारदर्शी हुए। गदाधर के वशज नीलमाधव चक्रवर्ती बाद में कलकत्ता के महाराजा यतीन्द्रमोहन के दरबार में संगीताचार्य के रूप मे नियुक्त हुए।

रामशकर के छात्रो मे क्षेत्रमोहन गोस्वामी, यदुभट्ट, केशवलाल चक्रवर्ती, रामकेशव, दीनबन्धु और अनन्तलाल बन्द्योपाध्याय विख्यात थे।

क्षेत्रमोहन गोस्वामी ने १९वीं शताब्दी के द्वितीयार्ध मे बगाल के संगीत-जगत् मे विशेष स्थान प्राप्त किया था। वे महाराज सौरीन्द्रमोहन ठाकुर के दाहिने हाथ स्वरूप थे। उनके प्रसास से ही कलकत्ता के रगालय मे पहली बार देशी रागिनी मे समवेत्, समस्वर सगीत शुरू हुआ। उन्होने उच्चाग सगीत-पुस्तक की रचना की, पहली बार देशी स्वरलिपि-पद्धति की सृष्टि की एव उच्चांग (शास्त्रीय) संगीत को जनसाधारण के लिए सहजलभ्य बनाने के उद्देश्य से ई १८७१ में कलकत्ता मे एक विद्यालय की स्थापना की। इस विद्यालय की सहायता से परवर्ती काल में बगाल में कई गायक-वादक तैयार हुए। इसके अलावा ई १८६६ मे कलकत्ता मे बहुत बडे संगीत-समारोह का आयोजन किया गया, जिसमे भारत के कई बडे-बडे गायको ने भाग लिया। इस संगीत-समारोह का उद्देश्य था सभी गुणियो का एक

स्थान पर मिलन और विभिन्न मतवादो को एक सहिता या एक नियम मे बाँधना। इस प्रकार के विविध कार्यो के लिए सौरीन्द्रमोहन और यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने क्षेत्रमोहन को हर तरह से प्रोत्साहित किया। ये लोग उनके साथ न रहते तो इतना बृहत् काम उनके (क्षेत्रमोहन के) लिए सभव होता या नहीं, कहना कठिन है।

यदुभट्ट कितने गुणी थे, यह गुरुदेव के कथन से प्रमाणित हो जाता है। वे ध्रुपद, विशेषत खडहार वाणी के ध्रुपद मे विशेष दक्ष थे। त्रिपुरा के राजा वीरचन्द्र माणिक्य के समय मे वे उनके दरबार मे रहते थे। उन्होने तानसेन वशज बीनकार कासिम अली खॉ से सितार की तालीम ली थी। गुरुदेव के परिवार मे वे कुछ समय तक रहे। सुरबहार और पखावज-वादन मे भी वे सिद्धहस्त थे।

रामशकर के पुत्र रामकेशव कलकत्ता के विख्यात छातुबाबू एव लाटूबाबू के साथ रहते थे। कम आयु मे ही उनका देहान्त हो गया। केशवलाल कलकत्ता के धनी तारकनाथ प्रामाणिक के निवास पर सगीतानुशीलन करते थे। उनके पुत्र गगानारायण गोस्वामी मयमनसिह के महाराज के प्रासाद पर सगीताचार्य के रूप मे नियुक्त थे।

रामशकर के बाद उनके शिष्य अनन्तलाल विष्णुपुर के सगीतचार्य पद पर नियुक्त हुए। इनके शिष्यो मे उदयचॉद गोस्वामी, राधिका गोस्वामी, विपिन चक्रवर्ती, अम्बिका काव्यतीर्थ, रामप्रसन्न बन्द्योपाध्याय, गोपेश्वर बन्द्योपाध्याय और हाराधन चक्रवर्ती विख्यात है। रामप्रसन्न और गोपेश्वर अनन्तलाल के पुत्र है। इस सूत्रपात से विष्णुपुर-सगीतसेवियो को बहादुर खॉ से तानसेनी या सेनी घराने के ध्रुपद मिले। बाद मे गायको ने ग्वालियर, रीवॉ, बेतिया आदि स्थानो का भ्रमण कर उस समय के तानसेनवशीय सदारग प्रवर्तित ध्रुपदी ढग के खयालो का सग्रह किया। सुना जाता है कि १९वी शताब्दी के प्रथमार्ध मे कानाई चक्रवर्ती और माधवलाल चक्रवर्ती नामक दो भाइयो ने उल्लिखित सदारग के शिष्यवशीय मोहम्मद खॉ से शिक्षा प्राप्त कर विष्णुपुर मे पहली बार खयाल का प्रचलन किया। विष्णुपुर के तत्कालीन राजा मदनमोहन सिह ने इन्हे इस कार्य मे प्रोत्साहित किया था। कानाईलाल बाद मे वर्धमान के तत्कालीन महाराजा के दरबार मे गायक रूप मे नियुक्त हुए। विष्णुपुर के गायको मे एक विशेष गुण था कि वे हर बार कुछ नया सिखाने की चेष्टा करते थे।

राधिका गोस्वामी ने कई वर्षो तक अनन्तलाल के पास सगीत-शिक्षा प्राप्त की और बाद मे बेतिया महाराज नन्दकिशोर-शिष्य-घराना के शिवनारायण और गुरुप्रसाद नामक दो भाइयो से भी कई दिनो तक गान-शिक्षा ग्रहण की। गुरुदेव का कहना है कि यदुभट्ट से भी उन्होने ध्रुपद की शिक्षा ग्रहण की थी। नदकिशोर की शिक्षा तानसेनवशीय धारा मे हुई थी। राधिकाबाबू के पिता जगतच्चॉद गोस्वामी की मृदगवादक के रूप मे ख्याति थी। कलकत्ता मे महर्षि देवेन्द्रनाथ के परिवार के शिक्षक और आदि समाज के गायक रूप मे वे प्राय दस वर्षो तक नियुक्त थे। उसके पश्चात् उन्होने काशिमबाजार के सगीत विद्यालय मे अठारह वर्षो तक अध्यापक के रूप मे कार्य किया। यहीं पर गिरिजा चक्रवर्ती ने उनके पास सगीत-अनुशीलन शुरू किया और आठ वर्षो तक ध्रुपद, धमार और उस युग के खयाल की शिक्षा अच्छे ढग से पाई। बाद में दिल्ली, रामपुर जाकर उन्होने ध्रुपदाग खयाल की

और शिक्षा पाई। उन्होने गणपतराव और मौजुद्दीन से ठुमरी की उत्कृष्ट शिक्षा पाई।

रामप्रसन्न बन्द्योपाध्याय विष्णुपुर के सगीत विद्यालय मे अध्यापक थे। वे ध्रुपद, खयाल, टप्पा, सितार-वादन, सुरबहार-वादन, इसराज-वादन, मृदग-वादन, तबला-वादन और वीणा-वादन के ज्ञाता थे। उनके पास कई छात्र गान सीखते थे। उच्चाग हिन्दी गान के एक विराट् स्वरलिपि-सह ग्रथ 'सगीत मजरी' का प्रकाशन इनकी बहुत बडी कीर्तिस्वरूप है। गोपेश्वर बन्द्योपाध्याय ने बगाल में संगीत-प्रचार के प्राय हर प्रकार के आन्दोलन मे सक्रिय भाग लिया। कई उत्कृष्ट हिन्दी और बगला गानो की स्वरलिपि पुस्तक रूप मे प्रकाशित कर उन्होने हिन्दी गान के अनुशीलन का मार्ग और भी सुगम कर दिया। ये ध्रुपद-गायक के रूप मे विख्यात थे एव बगाल मे बहादुर खॉ प्रवर्तित ध्रुपद-धारा के अन्तिम गायक थे। गोपेश्वरबाबू ने तरुणावस्था मे कलकत्ता के गुरुप्रसाद मिश्र से खयाल की शिक्षा पाई थी। १३०६ बगाब्द से प्राय अठारह वर्षो तक वे वर्धमान-महाराज के दरबार मे सभागायक के रूप मे नियुक्त थे। वे ई १९५५ मे कुछ महीनो के लिए विश्वभारती विश्वविद्यालय के सगीत-भवन मे रागदारी-सगीत के 'विजिटिग प्रोफेसर' रूप मे नियुक्त थे। इनके और एक भाई श्री सुरेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय ने कंई वर्षो तक वर्धमान दरबार मे गायक रूप मे कार्य किया। आदि ब्राह्मसमाज के गायक रूप मे वे कुछ दिनो के लिए नियुक्त थे और गुरुदेव के कई गानो की स्वरलिपि तैयार कर उन्होने उसे पुस्तकाकार मे प्रकाशित किया।

यह हुआ विष्णुपुर के सगीत का मोटे तौर पर परिचय। इधर कलकत्ता मे क्षेत्रमोहन की सहायता से सौरीन्द्रमोहन और यतीन्द्रमोहन ने गत शताब्दी के शेषार्ध मे जो सगीतान्दोलन शुरू किया, उस आन्दोलन का मूल आधार था विष्णुपुरी गायकी-प्रभावित सेनी घराने का मतवाद। राजभ्राता सेनी वश के गायको और वादको को ही विशेष रूप से पसन्द करते थे और उन्हे बडे आदर के साथ रखते थे। इसके अलावा उस समय तानसेन वशज बगाल के साथ घनिष्ठ रूप से जुड गए थे। गया, गिधोर, पश्चिम बगाल, कलकत्ता, ढाका, त्रिपुरा आदि अचलो मे तानसेनवशीय गायको को स्थान मिल जाने से बगाली गायको एव वादको का विशेष उपकार हुआ। क्षेत्रमोहन और सौरीन्द्रमोहन सेनी वशजात सगीत-घराने के प्रधान पृष्ठपोषक थे, इसीलिए जब विद्यालय आदि विविध उपायो से बगाल मे सगीत को एक नियम से प्रचारित-संचालित करने का प्रयास किया गया, तब सेनी घराने के उस मतवाद और उसके ढग को ही उन्होने स्वभावत प्राधान्य दिया। किन्तु तानसेन-वशज अपनी क्षमता के बल पर गाते थे, वे एक स्थान पर टिके नहीं। निर्धारित सिद्धान्त को तोडने मे उन्हें भय नहीं लगता था, शास्त्रवाक्य के उल्लघन की बात भी वे सोचते नहीं थे, क्योकि सगीत उनके लिए सजीव प्राण का प्रवाह था। किन्तु उनसे प्राप्त वह सगीत बगालियो के लिए यत्नपूर्वक रक्षणीय मूल्यवान् सम्पद के समान था। बगालियो के मन मे सब समय यह दुश्चिन्ता रहती थी कि इस मार्ग से हटने पर आधार छूट सकता है। इस दृष्टि से सोचते रहने के कारण ही बगाली हिन्दी गान में किसी उल्लेखयोग्य नवीनता की सृष्टि नहीं कर सके। किन्तु पश्चिम मे हिन्दी गान जब भी नवीन रूप लेकर आविर्भूत

हुआ है, बगालियो ने चिरकाल ही उसे आदर के साथ ग्रहण किया है।

पश्चिमी अचल मे सेनी वश के गायको के गान और गायन-ढग मे परिवर्तन हुआ, तब भी बगाली सगीतकार पूर्वाचार्यो से पहले प्राप्त रागसगीत के आधार पर ही अपनी विशिष्ट रचना करते रहे एव वह वैशिष्ट्य ही अतत विष्णुपुरी ढग नाम से एक समय बगाल मे विशेष रूप से प्रचलित हो गया।

बगाल मे पश्चिमी अचल के गुणी आए थे, किन्तु उनमे से कुछ ही यहॉ स्थायी रूप से बसे। इनमे से कई तो वृद्धावस्था मे यहॉ आए थे। इस प्रदेश के रागदारी सगीत-अनुशीलन को बगालियो ने अपने प्रयासो के बल पर ही जीवित रखा। पश्चिमी अचल के गुणी बीच-बीच मे यहॉ आकर बगालियो के अतर को आदोलित करते और इनकी सगीत-चर्चा को प्राणवान् मात्र करते थे।

गुरुदेव के गान और बगाल के उच्चाग (शास्त्रीय) हिदी सगीत मे उल्लिखित विष्णुपुरी ढग नाम से बंगाल मे प्रचलित पद्धति ही प्रबल है।

जोडासॉको की ठाकुरबाडी मे भी इस धारा के बगाली गायको ने शिक्षको के रूप मे बराबर स्थान पाया है। गुरुदेव प्रधानत इस वातावरण मे ही बडे हुए। इसके फलस्वरूप उनकी रचनाओ मे जिस प्रकार के नियमो की सृष्टि हुई, उनमे से कुछ नमूने मै यहॉ दे रहा हूँ।

उनके राग आशावरी मे केवल शुद्ध ऋषम ही नही, बल्कि अवरोह मे कोमल ऋषभ लगता है 'मनोमोहन गहन यामिनी शेषे' अथवा 'तोमार सुर शुनाये ये घूम भागाओ' और 'आमार याबार बेलाय पिछु डाके' गानो की प्रथम पक्ति का विश्लेषण करने पर यह बात समझ मे आ जाएगी। तीव्र मध्यमयुक्त रामकली उनके गानो मे नही है, 'मोरे डाकि लये याओ' और 'तुमि नव नव रूपे एसो प्राणे' गानो मे तीव्र मध्यम वर्जित रामकली का आभास मिलता है। इसी कारण उनकी रामकली साधारणत· भैरव और कालिगडा मे सहज ही मिश्रित हो जाती है। बगाल मे प्रचलित मत से गुरुदेव का विभास राग है—'आजि प्रणमि तोमारे चलिब नाथ ससार काजे'। शुद्ध विभास राग उनके परवर्ती जीवन के गानो मे नहीं मिलता। पूरबी मे गुरुदेव ने उस समय बगाल मे प्रचलित मत को ही ग्रहण किया है। हिन्दी गान के अनुसरण से रचित बगला गान है—'आजि ए आनन्द सन्ध्या' मे कोमल धैवत नही है। कई वर्षों के बाद रचित गानो—'सन्ध्या हल गो मा' और 'अश्रुनदीर सुदूर पारे' मे शुद्ध धैवत के साथ बीच-बीच मे कोमल धैवत का व्यवहार मिलता है। पूरबी मे रचित उनके सभी गानो मे अन्तरा शुद्ध धैवत को स्पर्श करने के बाद ही आरोहक्रम से बढता है, एव अवरोह मे भी शुद्ध धैवत लगता है। बिहाग राग मे रचित गुरुदेव के कई गान हमे मिलते हैं, क्योकि बिहाग उनका अत्यन्त प्रिय राग था। किन्तु उनके बिहाग मे 'पमंगमग' या 'पमंमग'—ये दो स्वर-विन्यास बिलकुल नहीं हैं। उनके गानो मे बिहाग राग के किस प्रकार के स्वरविन्यास का प्रयोग किया गया है, इस बात को मै कुछ गानो की सहायता से समझाने की चेष्टा करूँगा।

'स्वामी तुमि एसो आज'—हिन्दी गान के अनुसरण से रचित इस चौताल के ध्रुपद गान

मे तीव्र मध्यम बिलकुल वर्जित है। 'भय हते तव अभय माझे'—चौताल, और 'केन जागे ना अवश परान'—झपताल गान मे तीव्र मध्यम नहीं है, किन्तु शुद्ध निषाद के साथ कोमल निषाद का कही-कही व्यवहार हुआ है। हिन्दी गान के अनुसरण से रचित 'के याय अमृतधाम यात्री' गान मे उन्होंने शुद्ध निषाद और मध्यम-सह कोमल निषाद और तीव्र मध्यम का व्यवहार किया है। 'बलि ओ आमार गोलाप बाला' और 'ओ गो शोनो के बाजाय'—इन दो गानो मे तीव्र मध्यम नहीं है, किन्तु शुद्ध विषाद के साथ कोमल निषाद का प्रयोग किया गया है और इसे बिहाग कहा गया है। इसे 'बिहागडा' श्रेणी मे न रखने का कारण अज्ञात है। जो भी हो, उपरोक्त ध्रुपदाग चलन के बिहाग से ही उन्हे गानरचना मे सर्वाधिक सहायता मिली है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गुरुदेव के बाल्यकाल मे बगाल मे ध्रुपद या खयाल मे 'पमंगमग' और पमंमग' स्वरविन्यास प्रचलित नही थे, खयाल मे इस रूप को टप्पा से बहुत बाद मे ग्रहण किया गया है। देखा जाता है कि आधुनिक मत की तुलना मे इस प्रकार के नियम का व्यतिक्रम रवीन्द्र-सगीत मे कई बार हुआ है, जिसे सुनकर आज के सगीत-पडित कहेगे कि उनके गान मे किसी एक रागिनी का रूप प्रकट होते हुए भी उसे सगीत के व्याकरण के नियमो से मिलाया नही जा सकता।

बगालियों ने इस उच्चाग रागसगीत के साथ-साथ और एक पद्धति पाई थी, उसका भी उल्लेख करना विशेष प्रयोजनीय है। यह ढग या पद्धति बगला भाषा के थिएटर, यात्रा, पॉचाली आदि गानो की विशेष सम्पद थी। वास्तव मे यह नवीन ढग शौरी मियॉ के टप्पा के प्रभाव से उद्भूत है एवं निधुबाबू के टप्पा नाम से विख्यात है। 'हाफ आखडाई' गान का प्रवर्तन भी निधुबाबू ने किया। इस ढग का गान उच्च, निम्न सभी वर्गो मे फैल गया था। कलकत्ता के शिक्षित अभिजात समाज की बैठको, मजलिसो, विवाह-समारोहो और अन्त पुर मे इस गान का बडा आदर था। रामप्रसादी श्यामासगीत भी इस ढग से गाया जाने लगा। इस प्रकार के सभी गान की 'सुर'-रचना राग-रागिनी की सहायता से की जाती, किन्तु इस गान के लिए किसी पक्के नियम को मानकर नही चला जाता था। मिश्र रागिनी मे स्वर-योजना होती थी। गुरुदेव के बाल्यकाल मे बगाल में तथा कलकत्ता के समाज मे टप्पा के आदर्श से रचित इस प्रकार की मिश्र रागिनियों के प्रेम के गानो का प्रसार था। उनका परिवार भी इसके प्रभाव से मुक्त नही था। बगला भाषा मे मिश्र रागिनी मे गान-रचना की इस पद्धति ने गुरुदेव के समग्र सागीतिक जीवन को काफी प्रभावित किया था। गुरुदेव के मुँह से भी सुना है कि बाल्यकाल मे उनके निवास के सागीतिक वातावरण मे बगला टप्पा-संगीत का भी प्राधान्य था। गुरुदेव विख्यात सगीत-रचयिता निधुबाबू की सगीत-प्रतिभा की बहुत ही प्रशसा करते थे। वे कहते थे कि बगला भाषा के साथ हिन्दी रागदारी संगीत के मिलन का सुन्दर परिचय उन्होंने इस युग में दिया है। सम्भवत इस प्रकार के किसी बगला गान की धुन और ढंग से प्रभावित होकर ही परिणत आयु मे उन्होने 'राजा' नाटक का 'आमि रूपे तोमाय भोलाब ना' या 'अचलायतन' का 'या ह'बार ता हबे' आदि गान लिखे।

खयाल या टप्पा के विषय मे यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उस शैली की सहायता से रचित बगला गान मे 'सुर-विहार' अर्थात् तान-विस्तार के वे पक्षपाती नहीं थे। शोरी मियाँ रचित मूल तीन गान के बगला रूपान्तर को लेकर आलोचना करने पर इस बात का समर्थन मिल जाएगा। तीन गान यथा 'के बसिले आजि', 'हृदय-वासना पूर्ण हल' और 'बन्धु रहो रहो साथे' शोरी मियाँ के तीन गानो के 'सुरो' (स्वर-समष्टि, रागिनी) मे रचित हैं, किन्तु शोरी मियाँ कृत गानो मे जो इतनी गिटकरी या मुरकीयुक्त स्वर-विस्तार एव एक ही पक्ति की पुन -पुन आवृत्ति के समय भिन्न-भिन्न भाव से उसके प्रदर्शन का जो रूप है, वह इनमे नहीं है। भाषा और भाव की बात सोचकर इन कुछ बगला गानो मे सामान्य कुछ अलकार रखे गए हैं तथा मूल टप्पा के कई प्रकार के तान-विस्तार के अलकारो को वर्जित किया गया है।

इन दो पृथक् रूपो का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए गुरुदेव ने ताडवृक्ष और वटवृक्ष की तुलना कर स्वय ही एक स्थल पर कहा है, "वटवृक्ष का विशेषत्व उसकी शाखा-प्रशाखाओ के बहुत विस्तार मे है, जबकि ताडवृक्ष का विशेषत्व उसकी सरलता, सीधे ऊँचे बढने और शाखा-पल्लव की विरलता में निहित है, वटवृक्ष के आदर्श से ताडवृक्ष पर विचार मत करो। वस्तुत ताडवृक्ष के अचानक वटवृक्ष के समान व्यवहार करने पर वह कुश्री हो सकता है। उसके सीधे अनाच्छन्न रूप मे ही उसका सौन्दर्य निहित है। यदि वह सौन्दर्य तुम्हे पसन्द नहीं तो तुम वटवृक्ष के तले आश्रय ग्रहण करो। मुझे दोनो ही अच्छे लगते है, अतएव वटवृक्ष-तल, ताडवृक्ष-तल दोनों ही मेरे मार्ग हैं। किन्तु वटवृक्ष की शाखा-प्रशाखाएँ ताडवृक्ष के गले बाँधकर यदि आनन्द उठाना चाहते हो तो तुम्हे ताडवनविलासियो का शाप लगेगा।"

यहाँ यह स्पष्ट कर देना ठीक होगा कि बगाली उच्चाग (शास्त्रीय) के हिन्दी गान के गायक-दल मे शोरी मियाँ का टप्पा प्रचलित होते हुए भी निधुबाबू द्वारा प्रवर्तित बगला टप्पा के आदर्श से रचित टप्पा-गान का ही बगाल मे प्रसार हुआ था। १९वीं शताब्दी के अत में और २०वीं शताब्दी के आरम्भ मे एक-दो टप्पा-विशारदो को कलकत्ता लाया गया था, किन्तु बगला गान पर उसका कोई प्रभाव नहीं पडा।

गुरुदेव के गानो पर ठुमरी गान का प्रभाव बहुत कम है, क्योकि गुरुदेव के बाल्यकाल के समय कलावन्तों मे आज के समान ठुमरी गान का प्रचलन नहीं था। गायको मे इस शैली या ढग का प्रचलन बहुत बाद मे, २०वीं शताब्दी के आरम्भ मे गणपतराव (कदरपिया) और मौजूद्दीन के प्रयास एव प्रोत्साहन से हुआ। इस समय तक कलकत्ता या बगाल मे उस्तादो मे ध्रुपद, ध्रुपद ढग के खयाल और टप्पा का प्रभाव बहुत अधिक था। उस समय तक भी बंगला गान मे ठुमरी का प्रवेश नहीं हुआ था।

गुरुदेव ने खयाल-टप्पा या बगाल के प्रचलित टप्पा के आदर्श से गानो की रचना करते हुए भी अपने गानों को ध्रुपद के समान चार तुकों के नियम से उनका विभाजन किया है। भैरवी, खमाज, बिहाग, पीलू आदि रागिनियो में रचित उनके कई प्रकार के गानो का विश्लेषण करने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

भैरवी गुरुदेव की एक अन्यतम प्रिय रागिनी रही, उन्होने इस रागिनी मे कई गानो की रचना की। एक शिल्पी ने कहा था कि गुरुदेव भैरवीसिद्ध हैं। यह बात असत्य नही है। केवल भैरवी मे इतने प्रकार के गानो की रचना करनेवाले बंगाल मे और नहीं मिलते। उन्होने भैरवी मे ठुमरी के समान गान-रचना मे शुद्ध और विकृत बारह स्वरो का व्यवहार किया है, कितु सभी स्वरो का एक ही गान मे एक साथ व्यवहार नहीं किया है, विविध गानो मे इनका विविध ढग से प्रयोग किया है। भैरवी के वैचित्र्य का मूल ढॉचा क्या है, इसका काफी अनुमान "केमने फिरिया याओ ना देखि तॉहारे", "आनन्द तुमि स्वामी, मगल तुमि", "केन एलि रे भालोबासिलि", "बन्धु रहो रहो साथे", "हेलाफेला सारा बेला" इत्यादि गानो की सहायता से लगाया जा सकता है। बिहाग और खमाज रागो मे रचित गान भी उनके बहुत हैं, उनमे माधुर्य और वैचित्र्य भी काफी है।

गुरुदेव प्राय कहा करते थे कि हिन्दी गान का व्याकरण भूल सका, इसीलिए 'सुर' सृष्टि करना इतना सहज हो सका। गान का व्याकरण क्या है इसे भी अच्छी तरह समझ लेना ठीक है। हम जानते हैं कि राग-रागिनी का आरोही-अवरोही, वादी-सवादी-विवादी क्या है, हम यह भी जानते हैं कि राग की पकड क्या है। राग-रागिनी का यह सम्पूर्ण मूल परिचय वे पूर्णतया भुला सके, इसीलिए वे एक राग से कई रागिनियो में विचरण करने मे बाधा अनुभव नहीं करते थे। गान-रचना के समय मैंने कई बार देखा है कि मूल रागिनी के नियमो से ध्यान हट जाता है और स्वत प्रवाहित 'सुर' (स्वर-समष्टि, प्रतिमा) की प्रेरणा विविध समप्रकृतिक रागिनियो के मिश्रण के माध्यम से गतिमान है। उस्ताद सामान्य एक-दो स्वरो मे परिवर्तन कर कितने नाम रख देते हैं और नव राग रचना का गौरव प्राप्त करते हैं। इस दृष्टि से रवीन्द्र-सगीत पर विचार करके यदि व्याकरणगत नियम बनाए जाएँ तो पूर्णतया नई प्रकार की अन्तत· बीस-पच्चीस रागिनियो की सृष्टि हो सकती है। किन्तु यह काम सुरकार कवि का नही, गायको का था।

मैंने पहले ही कहा है कि रवीन्द्र-सगीत ध्रुपद के समान चार तुको से रचित है। स्वरसयोजन भी ध्रुपद की भॉति स्थायी और सचारी मध्य सप्तक मे रहते हैं, किन्तु दोनो एक नहीं है। अन्तरा और आभोग के 'सुर' साधारणत एक ही प्रकार के हैं और उच्च स्वरो मे ही उनकी गति है। इस नियम का व्यतिक्रम उनके गानो मे पहले कुछ-कुछ हुआ है। किन्तु गत बीस वर्षो की रचनाओं मे इस नियम का परिवर्तन खूब हुआ था। अर्थात् पूर्वोक्त नियम से स्वर-सयोजन उन्होने प्राय. छोड दिया था। अन्तरे के साथ आभोग का स्वरसज्जा की दृष्टि से मेल रखने का प्रयास उन्होने नहीं किया। वृद्धावस्था मे 'सुर' की साधना उनके समक्ष इस रूप मे परिणत हो गई थी कि स्वर-सयोजन के समय उन्हे विशेष चिन्तन की आवश्यकता नहीं रहती, मुक्त झरने के समान उसकी गति, प्रकृति थी।

साधारणत हम मानते हैं कि गुरुदेव प्राचीन भारतीय सगीत के क्षेत्र मे विद्रोही के समान प्रकट हुए और उन्होने नियमो पर निर्ममता से आघात किया था। किन्तु यह बात सत्य नहीं है। बाहर से देखने पर वे भारतीय सगीत के राज्य में इस युग के विद्रोही ही लगेगे, किन्तु वास्तव में वे इस संगीत के अकृत्रिम बन्धु थे। जहॉ भी उन्होने आघात किया

है या नियम तोडा है, वहाँ असली वस्तु के प्रति ममत्व रखकर जडत्व को तोडा है, विशुद्ध तोडने के उद्देश्य से नियम-भग नहीं किया है। यही भारतीय सगीत का चिरन्तन आदर्श है। भारतीय सगीत के प्राणलोक से वे थोडे भी विच्युत नहीं हुए हैं। यहीं वे भारतीय सगीत के प्रधान भक्त है।

वास्तव मे कुछ धीर भाव से विचार करने पर पता चलता है कि भारतीय सगीत मे भी एक प्रकार का विद्रोही स्वभाव है। इस बात को समझने के लिए उत्तरभारतीय सगीत की विचित्र धारा के इतिहास को लेकर समग्र रूप मे आलोचना प्रयोजनीय है। भारतीय सगीत क्या युग-युग से अचल, अनड, स्थिर होकर ही विराज कर रहा है ? यदि ऐसा होता तो उससे प्रेरणा प्राप्त करने का क्या कोई कारण होता एव गुरुदेव के समान कोई स्रष्टा क्या उससे प्रेरणा प्राप्त करता ? मैं मानता हूँ कि उच्चाग (शास्त्रीय) भारतीय संगीत मे सगीत-पिपासुओ को चिरकाल तक तृप्ति देने जैसा विशेष गुण है; इसीलिए मैंने उसे युग-युग से भारत के सगीत को समृद्ध करने मे सहायक के रूप मे ही देखा।

मुसलमान-युग के पहले का भारतवर्षीय सगीत विविध परिवर्तनो के साथ आज उत्तरभारत के हिन्दुस्थानी सगीत और दक्षिणभारत के कर्णाटक सगीत रूप मे परिचित है। मुसलमान-युग मे प्रचलित ध्रुपद-गान आज गायक-जगत् मे प्राय परित्यक्त है। किन्तु गत चार सौ वर्षो से समग्र उत्तरभारत के सगीत की श्रेष्ठ सम्पद रूप मे उसका आदर था। इसका प्रधान आदर्श था गान मे विपुलता, गभीरता, और दूसरी ओर सयम, सुसगति से अपने वजन की रक्षा करना। इस आदर्श का ठीक-ठीक पालन करने के लिए ध्रुपद को कुछ कठोर नियम मानने पडे हैं। जैसे ध्रुपद के राग-विस्तार की पद्धति निर्धारित थी। ध्रुपदिये सीखे हुए ध्रुपद के स्वरूप को हूबहू कायम रखने की मन-प्राण से चेष्टा करते थे। ध्रुपद मे विशुद्ध गमक के अलावा अन्य किसी प्रकार के अलकार का व्यवहार निषिद्ध है। यहॉ तक भी सुना जाता है कि पहले धमार को छोडकर इसमे दून-चौदून बोलतान लेने की रीति भी नही थी। इसके अलावा ध्रुपद के बडे उस्ताद स्वीकार करते हैं कि ध्रुपद गान की मर्यादा केवल शब्दो को ही प्राप्य नहीं, रागिनी को भी नहीं, 'सुर' (रागिनी) और शब्द के मेल से जो रस-निष्पत्ति होती है, केवल उसे ही प्राप्य है। ये थे ध्रुपद गान के कुछ मूल लक्षण।

आलाप मे रागिनी के समग्र रूप की एक साथ अवधारण सम्भव नहीं है, क्योकि आलाप मे गायक अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार उसे रूप देता चलता है। मात्र व्यक्त करना ही आलाप का मूल काम है, उसे किसी सीमा द्वारा सुनिर्दिष्ट रूप से बॉध देना उचित नहीं। ऐसा करने पर वह गान या गत का रूप ले लेगा। आलाप मे निश्चल होने जैसी बात नहीं है, वह रागिनी का केवल गतिमान प्रकाश है। यह रागिनी का एक पक्ष है। और एक पक्ष है गीत रूप—जहॉ अवधारण-स्पर्श मे ही उसका रूप मिल जाता है। उच्चाग भारतीय सगीत ने इन दो पक्षो को अलग-अलग ग्रहण किया है, इसी कारण पहले के ध्रुपद-गायको ने ध्रुपद को एक तरह से निरलकार रखकर ही सजाया था। अलंकार का दायित्व आलाप पर डाल दिया था। इसीलिए ध्रुपदिये आलाप की भूमिका से ध्रुपद-गान शुरू करते थे। उस

युग के गायक-महल मे आलाप न जानने वाले ध्रुपदियो के लिए कोई स्थान नहीं था।

रागिनी के अलकृत रूप और रागिनी के वाणीरूप के एकत्र मिलन के प्रयास से ही खयाल का उद्भव है। दोनों के जैव मिलन से उसने अन्य रूप ग्रहण किया। खयाल का वास्तविक कृतित्व यहीं है। पहले आलाप और ध्रुपद का अलग-अलग प्रदर्शन करना पडता था, खयाल मे इन दोनो का एक साथ प्रदर्शन होता है, अत आज ध्रुपद और आलाप धीरे-धीरे अनादर की वस्तु बनती जा रही है। इस मिलन के प्रयास मे खयाल, आलाप और ध्रुपद का सब कुछ ग्रहण नहीं कर सका, कुछ अशो को छोडना पडा है। शब्द और 'सुर' का मिलन ध्रुपद का प्रधान विषय था। गायक इस ओर विशेष ध्यान रखते थे। खयाल मे इस प्रकार की चेष्टा होते हुए भी उस्ताद उस स्वरूप को कायम नहीं रख सके। शब्द या काव्य उपलक्ष्यमात्र बनकर रह गया है। इसीलिए ऐसा दिखाई देता है कि ध्रुपद के चार तुको के गान ने खयाल मे छोटा होकर दो तुको से एक तुक और कभी-कभी दो पक्तियो का रूप ले लिया है। शब्द/काव्यहीन रागिनी का स्वर-विहार इतना बडा स्थान ले लेता है कि गायक के समक्ष उस समय दो पक्ति या एक पक्ति भी बेमानी हो जाती है। इसके अलावा खयाल मे आलाप के विभिन्न प्रकार के विस्तार को स्थान नहीं मिला। जिन्होने नसीरुद्दीन से आलाप और पै अल्लादिया खॉ का प्रचलित ढग का खयाल सुना है, वे ही इस बात का तात्पर्य समझ सकेगे। मेरा विश्वास है कि प्राचीन युग की आलापरीति का एक श्रेष्ठ ढग नसीरुद्दीन के साथ ही लुप्त हो गया। किसी एक युग में ध्रुपद अलकारहीन था, यह बात मैंने पहले कही है। किन्तु ध्रुपद के शेष युग मे खयाल गान की अलकरण-रीति के प्रभाव से अलकारयुक्त ध्रुपद की सृष्टि हुई थी, इसी कारण, सुना जाता है, शेष युग में कोई-कोई ध्रुपदिये तान का व्यवहार करते थे। खयाल गायन मे नवीनता आ गई, किन्तु आलाप के समान रागिनी के सर्वागीण विकास और ध्रुपद का अन्तर्मुखी गाम्भीर्य खो गया। इससे भारतीय सगीत की किसी प्रकार की क्षति हुई या नहीं, इस पर विचार रसज्ञ पडित करेगे।

गत लगभग सौ वर्षो से खयाल के क्रमिक विकास ने कौन-सा मार्ग अपनाया है, इस सम्बन्ध मे आलोचना प्रयोजनीय है। पहले खयाल ध्रुपद के प्राय अनुरूप था, अत खयाल-गान मे पुरुषोचित गाम्भीर्य और गभीरता ही विशेष रूप से प्रकट होती थी। आज की तुलना मे उसमे अलकार का बाहुल्य काफी कम था। गायन-शैली मे भी ध्रुपद का प्रभाव खूब रहता था और ध्रुपदियो के समान बोलतान एव विविध छन्द-प्रयोग की रीति थी। आजकल खयाल ठुमरी-ससृष्ट एव अति अलकार बहुल हो गया है। वर्तमान काल मे प्रचलित खयाल का प्रधान लक्षण है नारीसुलभ माधुर्य। ऐतिहासिको का कहना है कि सदारग द्वारा प्रवर्तित खयाल मे राग की शुद्धता को कायम रखते हुए अल्प मात्रा में अलकारो या तानो का प्रयोग किया जाता था। रागालाप की रीति से राग-विस्तार तान करतब की अपेक्षा अधिक किया जाता था, गान की लय विलबित या मध्य रहती थी। इस गान के समय तबले पर परण या उपक्रमणिका नहीं, बल्कि केवल ताल का शुद्ध ठेका बजाने की प्रथा थी। परवर्ती काल के गायक विलम्बिल लय में एक बन्दिश गाकर दुगुन लय मे उसी राग की और एक बन्दिश गाते, तब तबलावादक अपने कायदे का प्रदर्शन करते। सुना जाता है कि इस नूतन-चलन

का प्रवर्तन १९वीं शताब्दी के मध्य भाग मे ग्वालियर के मुहम्मद खॉ, हद्दू खॉ, हस्सू खॉ, नत्थू खॉ आदि विख्यात खयालियो के प्रभाव से हुआ था। इन्होने ही खयाल मे गिटकरी, जमजमा, मुरकी, हलक तान, लागडाट आदि कई प्रकार के तानकरतब के शिल्पकार्यो का प्रवर्तन किया। इस मामले मे हद्दू खॉ विशेष प्रवीण थे। उन दिनो के गायक खयाल गान की विभिन्न प्रकार की उक्त तानो को पृथक् रूप से प्रदर्शित करने मे आनन्द बोध करते थे। ग्वालियर तथा अन्य अचलो के किन्हीं-किन्हीं प्राचीन उस्तादो मे आज भी उसका परिचय कुछ अशो मे मिलता है। इस युग की तानो मे गले के ध्वनि-प्रकाश की क्षमता को विचित्र भगि से सुर मे प्रकट करने की ओर आज के उस्तादो का विशेष ध्यान नही है। सगीतज्ञ इस बात को स्वीकार करते है कि गत पचास वर्षो मे खयाल मे अलकार-वैचित्र्य अधिक बढा है। किन्तु गले के ध्वनि-प्रकाश का इस प्रकार का वैचित्र्य कम हो गया है।

टप्पा-शैली का प्रारम्भ खयाल के बाद हुआ। शोरी मियाँ नामक पजाब के एक गुणी की यह सृष्टि है। कहा जाता है कि उष्ट्र-चालको के गाने के ढग से उन्होने प्रेरणा प्राप्त की थी। गुणियो के प्रयासो से इसी गान ने बाद मे उच्चाग सगीत मे स्थान प्राप्त किया। उन्होने मूल आदर्श को अलकार बाहुल्य से सजा दिया। यहॉ तक कि बाद मे खयाल की श्रेणी मे लाकर उसका नाम दिया टप्-खयाल।

ठुमरी की उत्पत्ति वास्तव मे लखनऊ के नवाबी दरबार के नाच के गान के साथ हुई। इस गान का प्रेरणा-स्रोत है लोक-सगीत। दरबार मे स्थान पाने के कारण धीरे- धीरे उसके जात की बाधा दूर हो गई। दरबार में ठुमरी अधिकतर मध्य और द्रुत लय मे गाई जाती थी। कथक और बाईजी नृत्य और अभिनय के समय इस प्रकार की ठुमरी गाती हैं।

किन्तु और एक प्रकार की ठुमरी का प्रचलन हुआ जो केवल गायको मे प्रचलित है। उस्ताद-जगत् मे उसे 'ठाह की ठुमरी' कहा जाता था। इसकी लय विलम्बित थी। इस गान मे गायक कविता के एक-एक अश को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार की स्वर-सगतियो से उसके अन्तर्निहित भावो को व्यक्त करते है। इसे वे 'बोल बनाना' कहते है। एक बोल लेकर कभी आलाप, कभी मींड आदि कुछ अलकारो द्वारा उसके भावो को अभिव्यक्त करते है। कुछ समय तक गाने के बाद वे लय कुछ बढा देते हैं। भावाभिव्यक्ति मे व्यग्रता प्रकट होती है। ठुमरी मे तान अथवा 'सरगम' का व्यवहार नहीं था। इसमे छोटी-छोटी मुरकियो का प्रयोग और गिटकरी का काम होता था। किन्तु आजकल कई गायको ने खयाल के ढग से तान-सरगम का प्रयोग कर इसे छोटे खयाल का नाम दिया है। इस प्रकार अपात्तेय ठुमरी भी लोकसगीत से उच्चाग संगीत के उस्तादो मे प्रचलित हो गई।

देखा जा रहा है कि वर्तमान काल मे उच्चांग (रागदारी, शास्त्रीय) सगीत के उस्तादो मे 'भजन', 'गीत', 'पद' और 'गजल' जातीय गान स्थान प्राप्त कर रहे हैं और अलकृत होकर किस प्रकार पाक्तेय होने की चेष्टा कर रहे हैं। मैंने देखा है कि बगाल के एक गुणी गायक के मुख से पूर्वबगाल का लोकसंगीत-ढग किस प्रकार हिन्दी संगीत के आदर्श के अनुरूप रूप ले रहा है। मेरे व्यक्तिगत मतानुसार उनके इस प्रयास मे काफी सफलता परिलक्षित हुई है, किन्तु भविष्य में इस स्वरूप को कहॉ तक कायम रखा जा सकेगा, कैसे

कहा जा सकता है। यह बात ठीक है कि वे यथार्थ मे रसिक गायक है, इसीलिए उनकी गायकी मे इतना आनन्द अनुभव करता हूँ। किन्तु अरसिक गायक के लिए यह गायकी मात्र अनुकरण ही रहेगी, अत वह सफल हो सकेगी, ऐसा नही कहा जा सकता।

अत्यन्त सक्षेप मे भारतीय सगीत मे प्रगतिवादी मनोभाव का परिचय देने की चेष्टा मैंने की। यह प्रगतिवादी आदर्श ही गुरुदेव के सागीतिक जीवन का भी प्रधान आदर्श है।

किन्तु आगे बढने या प्रगति के कर्तव्यबोध अथवा अन्य किसी कारण से कमर कसकर चलना नहीं है—इस प्रगति के लिए प्रेरणास्रोत रही है आन्तरिक प्रेरणा।

हिन्दी गान के कुछ आदर्श वे मानकर चलते थे, जैसे उनके गानो मे जहॉ प्रात काल, दिवालोक, जागरण की बात है, वहॉ उन्होने प्राचीन मत को नि सकोच स्वीकार कर तोडी, आशावरी, भैरव, भैरवी, रामकली, कालिगडा आदि प्रात कालीन रागिनियो का प्रचुर व्यवहार किया है। सन्ध्या के लिए यमन किवा पूरबी का व्यवहार है। रात्रि के गानो मे बिहाग, कान्हडा, खमाज आदि रात की रागिनियॉ मिलती हैं। वसन्त ऋतु के साथ बहार का शास्त्रगत योग सम्भवत है, इसीलिए वसन्त ऋतु के वर्णनात्मक कई गानो मे बहार रागिनी का परिचय मिलता है। इस दृष्टिकोण से वे परिवर्तन के पक्षधर बिलकुल नहीं थे। शरद् ऋतु के वर्णन के गानो मे उन्होने विशेषकर प्रात काल की रागिनियो का ही व्यवहार किया है, क्योकि शरद् ऋतु का प्रात काल ही उसकी रमणीयता का विशेष रूप है। कवि ने देश-मल्हार या मियॉ-मल्हार मे घनघोर वर्षा के गानो की भी रचना की और यह प्रतिष्ठापित किया कि वे प्राचीन मत के अनुकूल चल रहे है। रात्रि के वर्णन के गानो मे प्रात कालीन रागिनी या सन्धिकाल (प्रभात-दिन) के वर्णन के गानो मे रात्रि की रागिनी का प्रयोग उनके सयोजन मे दिखाई नहीं देता। १२८७ बगाब्द (ई १८८०) से गुरुदेव ने निवास की उपासना के लिए गानो की रचना शुरू की—माघोत्सव, वर्षशेष, नववर्ष आदि के उपलक्ष्य मे उस समय से ही उन्होने उपासना के दिन प्रात काल गाने के लिए रचित गानो मे प्रात कालीन रागिनियो का और सन्ध्या मे गाने के लिए गानो मे सन्ध्या या रात्रि की रागिनियो का प्रयोग किया है। उनका यह अभ्यास जीवन के अन्त समय तक रहा। १३३६ बगाब्द (ई १९२९) के माघोत्सव के कुछ गान कलकत्ता मे सन्ध्या के समय गाने के लिए लिखे गए, उन सब गानो मे सन्ध्या या रात्रि की रागिनियो का व्यवहार किया गया। जीवन के शेषकाल मे दो गानो—ऐ महामानव आसे', हे नूतन देखा दिक'—की रचना प्रात काल गाने के लिए की गई, अत इन दोनो मे ही भैरवी का व्यवहार किया गया।

राग-रागिनी के साथ विश्वप्रकृति का घनिष्ठ योग है, इस विचार का उनके मन मे पहली बार उदय १२८७ बगाब्द (ई १८८०) मे हुआ था। 'सगीत और भाव' नामक सगीत विषयक एक भाषण मे पहली बार उन्होने इस विषय पर आलोचना का सूत्रपात किया। वहॉ उन्होने कहा था

"विशेष-विशेष रागिनी से विशेष-विशेष भाव की उत्पत्ति क्यो होती है, (सगीतवेत्ता) इसके कारण का पता लगाएँ। इस बात पर भी विचार किया जाए कि पूरबी से सन्ध्याकाल का ध्यान क्यो आता है और भैरव से प्रभात का आभास क्यो होता है ? पूरबी मे कोमल

स्वरो का बाहुल्य है, और भैरव मे भी कोमल स्वरो का बाहुल्य है, फिर दोनो से भिन्न फल क्यो उत्पन्न होता है ?

"प्रथमत , प्रभात की रागिनी और सन्ध्या की रागिनी दोनो में ही कोमल स्वर आवश्यक हैं। प्रभात जिस प्रकार धीरे-धीरे, अति क्रमश नयन उन्मीलित करता है, उसी प्रकार सन्ध्या धीरे-धीरे, अति क्रमश नयन निमीलित करती है। अतएव कोमल स्वरो का, अर्थात् जिन स्वरो के बीच व्यवधान अत्यन्त अल्प है, जो स्वर अत्यन्त धीरे-धीरे, अत्यन्त अलक्षित भाव से परस्पर मिल जाते हैं, सन्ध्या और प्रभात की रागिनियो मे वे स्वर अधिक आवश्यक है। फिर भी प्रभात और सन्ध्या मे किस विषय मे प्रभेद रहना उचित है ? एक मे 'सुर' (स्वरसज्जा, प्रतिमा) का उत्तरोत्तर विकास होना आवश्यक है, जबकि अन्य मे अत्यन्त धीरे-धीरे 'सुर' का क्रमश निमीलित होना आवश्यक है। भैरव और पूरबी मे उस विभिन्नता की रक्षा हुई है, इसीलिए प्रभात और सन्ध्या उक्त दोनो रागिनियो मे मूर्तिमान है।"

वार्धक्य मे उन्होने इस विषय के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा, उसे उद्धृत करता हूँ

"हमारे गुणियो ने भैरव और तोडी मे स्वरसज्जा, गान निबद्ध कर कहा कि वे प्रात काल के गान है। किन्तु उनमे क्या प्रात काल के नवजाग्रत मानव-जगत् की विविधागी ध्वनियो का अनुरणन मिलता है ? बिलकुल नही। तब भैरव को, तोडी को प्रात काल की रागिनी कहने का क्या अर्थ है? उसका अर्थ यह है कि प्रात काल के शब्द, ध्वनि, नि शब्दता के अन्तरतर सगीत को गुणियो ने अपने अन्त करण से सुना है। प्रात काल के किसी बहिरग के साथ इस सगीत को मिलाने का प्रयास विफल होगा। हमारे देश के सगीत का यह विशेषत्व हमे बहुत अच्छा लगता है।

"हमारे देश मे प्रभात, मध्याह्न, अपराह्न, सायाह्न, अर्धरात्रि और वर्षा-वसन्त की रागिनियो की रचना हुई है। ये सभी रागिनियॉ सभी को उपयुक्त लगेगी या नही, मैं नहीं जानता। अन्तत मैं सारग राग को मध्याह्न के राग के रूप मे हृदय मे अनुभव नहीं करता। जो भी हो, किन्तु विश्वेश्वर के खास महल के गुप्त नौबतखाने मे समय-समय पर, ऋतु-ऋतु मे जो नव-नव रागिनियॉ बज रही हैं, हमारे गुणियो के अन्त करण मे उनका प्रवेश हुआ है। बाहर के प्रकाश के अन्तराल मे एक गभीरतर अन्तर का जो प्रकाश है, हमारी तोडी, कान्हडा उसी का सकेत दे रहे हैं।

"भारतवर्ष मे जिस प्रकार बाधाहीन परिष्कार आकाश है, बहुत दूर तक फैली समतल भूमि है, वैसा यूरोप मे कहीं है, इसमे सन्देह है। इसीलिए हमारी पूरबी मे, किवा तोडी मे विशाल समस्त जगत् के अन्तर की हाहाध्वनि व्यक्त होती है, पृथिवी का जो भाव निर्जन, विरल, असीम है, उसने हमे उदासीन कर दिया है। इसीलिए जब सितार पर भैरवी की मींड ली जाती है तब हमारे भारतवर्षीय हृदय मे एक प्रकार के आकर्षण, सिहरन का सचार होता है।

"प्रकृति के साथ हमारे गान का जितना निकट सम्पर्क है वैसा और किसी का नहीं। मै निश्चित रूप से जानता हूँ कि यदि खिडकी के बाहर दृष्टि रखकर रामकली का अभ्यास आरम्भ करूँ तो वह रौद्ररजित सुदूर विस्तृत श्यामल-नील प्रकृति मत्रमुग्ध हरिणी के समान

मेरे मर्म के पास आकर मेरा अवलेहन करने लगेगी।"

गानो के भावो की अभिव्यजना के लिए विविध रसो के गानो मे भी उन्होने हिन्दी राग-रागिनी की सहायता ली है। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि किसी करुण गान मे भैरवी का व्यवहार न कर पीलू या इसी प्रकार किसी अन्य रागिनी का व्यवहार क्यो किया ? उनके गानो को लेकर गभीर भाव से विचार करने पर यह सहज ही समझ मे आ जाएगा कि कौन-सी रागिनी ने उनके अन्तर मे किस प्रकार स्थान पाया और वे उन्हे किस रूप मे अनुभव करते थे।

हिन्दुस्थानी राग-रागिनी को वे किस प्रकार अनुभव करते थे, इसका कुछ परिचय हमे उनके ही कथनो से मिल जाएगा। इन उक्तियो को मै यहाँ उद्धृत करता हूँ

"शहनाई पर कोई भैरवी बजा रहा था, इतना अधिक, विशेष मधुर लग रहा था कि क्या कहूँ—मेरी ऑखो के सामने का शून्य आकाश एव वायु तक एक अन्तर्निरुद्ध क्रन्दन के आवेग से जैसे स्फीत हो उठा था, बडा कातर किन्तु बडा सुन्दर "

"भैरवी रागिनी की सर्पिल मीडयुक्त स्वरसगतियॉ कान मे पडते ही ऐसा लगता है घर्षण-वेदना से समस्त विश्व-ब्रह्माड के मर्मस्थल से एक गम्भीर, कातर, करुण रागिनी उच्छसित, विकसित हो रही है।"

"प्रभात मे शहनाई से बजने वाली भैरवी के आलाप का आज भी पल-प्रतिपल स्मरण हो आता है और मन को उद्वेलित कर देता है।"

"भैरवी जैसे समस्त सृष्टि की अन्तरतम विरह-व्याकुलता है।"

"भैरवी जैसे सगविहीन असीम की चिरविरह वेदना है।"

"हमारे उत्सवदेवता ने प्रतिदिन की निद्रा से आज इस उत्सव के दिन हमे जगाने के लिए द्वार पर आकर भैरव राग मे प्रभाती शुरू की है।"

"भैरव जैसे भोर के आकाश का ही प्रथम जागरण है।"

"एक सगीतकुशल व्यक्ति अर्धरात्रि मे भैरव मे आलाप करने लगा। विविध कारणो से वह बिलकुल असामयिक लगने लगा।"

"रामकली प्रभृति प्रात कालीन रागिनियो का कुछ आभास मिलने मात्र से ऐसी विश्वव्यापी करुणा विगलित होकर चारो दिशाओ को वाष्पाकुल कर देती है कि यह सम्पूर्ण रागिनी सम्पूर्ण आकाश, सम्पूर्ण पृथिवी का गान लगने लगती है।"

"इस ऑधी के आघात, मेघ की छाया, वृष्टि के झर्झर शब्द, वज्र के गर्जन से हमारे अन्तर मे एक प्रकार का तूफान उठा है गला फाडकर कान्हडा किवा मल्लार गाने पर समय ठीक कट सकता है।"

"हमारे अन्तर के सन्ध्याकाश मे भी यह श्रावण घन रूप मे अवतरित हुआ है, किन्तु वहॉ उसका आफिस-वेश नही है, वहॉ गान-समारोह जमाने, केवल लीला-आयोजन हेतु उसका आगमन है। वहॉ वह कवि के दरबार मे उपस्थित है। इसीलिए प्रल-प्रतिपल मेघ-मल्लार मे केवल करुण गान ही मूर्त हो उठता है "

"मेघ-मल्लार जैसे अश्रुगगोत्री के किसी आदि निर्झर का कलकल्लोल है।"

"मेघ-मल्लार मे वर्षा का गान गाया जाता है तब उसमे न तो झर-झर वृष्टि का अनुकरण रहता है और न घडघड़ वज्र की ध्वनि, फिर भी कोई यथार्थ विलासी उसे अवास्तव कहकर उसकी निन्दा नही करता।"

"मेघ-मल्लार विश्व की वर्षा है।" "पद्मा नदी पर जब भी, जितनी बार वर्षा होती है, उतनी ही बार मन करता है कि मेघ-मल्लार मे नवीन वर्षा-गान की रचना करूँ, किन्तु वैसी क्षमता कहाँ ? एव श्रोताओ के मन मे तो वर्षा का नित्यमोह नहीं है, उनके लिए तो ये गान एक ही ढर्रे के लगेगे, क्योकि शब्द तो एक ही प्रकार के है वृष्टि हो रही है, बादल छाए हुए है, बिजली चमक रही है। किन्तु उसकी भीतरी जो नित्य नूतन अनादि, अनन्त विरहवेदना है, वह तो केवल गान के 'सुर' से ही कुछ अभिव्यक्त होती है।"

"मैने जब भी वर्षा का गान गया है, तब उस मेघ-मल्लार मे जगत् की सम्पूर्ण वर्षा की अश्रुपातध्वनि नवतर भाषा एव अपूर्व वेदना मे पूर्ण हो उठी है।"

"वर्षा के मेघ की इच्छा थी कि वह मुझे अपना कजरी जान सुनाएगा—उसके बाद मै भी उसे अपने गान से जवाब दूँगा।"

"कई दिनो बाद ये सजल मेघ देखकर मेरी ऑखे शीतल हो गई। यदि मै तुम्हारे काशी की हिन्दुस्थानी युवती होती तो मैं कजरी गाते हुए शिरीष वृक्ष के झूले पर झूलती रहती।"

"पुन वे मुलतानी बजा रहे है, मन बडा ही उदास हो जाता है। पृथिवी के इस समस्त हरित् दृश्य के ऊपर अश्रुवाष्प का आवरण खींच दिया गया है।"

"बीच-बीच मे निकट ही घटा बजता है, वह घटाध्वनि बडी उदासी का भाव लिये हुए है। वह घटा-ध्वनि जैसे आकाश मे नीरव बज रही है, मुलतानी रागिनी कह रही है कि समय बीत रहा है।"

"मुलतानी जैसे रौद्रतप्त दिनान्त का क्लान्त निश्वास है।"

"पूरबी जैसे शून्यगृहचारिणी विधवा सन्ध्या का अश्रुमोचन है।"

"नौका से बेहाला (वायलिन) पर पहले पूरबी और यमनकल्याण मे आलाप सुना गया, स्थिर नदी एव स्तब्ध आकाश मानव के हृदय मे बिलकुल परिपूर्ण हो गया जैसे ही पूरबी की तान बजने लगी, वैसे ही मैंने अनुभव किया कि यह भी एक आश्चर्यजनक, गभीर एव असीम सुन्दर कार्य है, यह भी एक परम सृष्टि है—सन्ध्या के समस्त इन्द्रजाल के साथ यह रागिनी इतने सहज भाव से फैल गई, कहीं भी कुछ भी भग नहीं हुआ—मेरा अन्तर भर गया।"

"सभी चले जा रहे हैं, हम भी जाते हैं, इस विषाद की छाया मे सर्वत्र करुणा छाई है—चारो ओर पूरबी रागिनी के कोमल स्वर बजाकर हमारे मन को आर्द्र कर दिया है।"

"यद्यपि आज हम समुद्र के पश्चिमी तीर की ओर चल पडे है, मेरा मन अन्य तीर पर सब कुछ भुला देने वाले उस मस्त बालक की खोज मे है। पूरबी गान मे वह अपनी लीला समाप्त न कर सकने पर सन्ध्या व्यर्थ होगी।"

"आज का यह दिन उसी प्रकार का है—है भी, नहीं भी है गौडसारग का यह आलाप, जब समाप्त हो जाएगा तब हिसाब के खाते मे कोई भी अक वह शेष नहीं रखेगा।"

"वातावरण मे भूपाली की स्वरसज्जा से ऐसी एक पुकार सुन रहा हूँ, रुक रे रुक, आ रे आ।"

"परज जैसे अवसन्न रात्रिशेष की निद्राविह्वलता है।"

"सहाना अचचल एव गभीर है, जिसमे आमोद-आह्लाद का उल्लास नहीं है, इसीलिए हमारे विवाहं-उत्सव की रागिनी है।"

"कान्हडा जैसे घनान्धकार मे अभिसारिका निशीथिनी (रात्रि) की पथविस्मृति है।"

"खमाज की करुण तान ने सहर (प्रभात) के आकाश मे ऑचल बिछा दिया।"

मुख्य बात यह है कि भारतीय सगीत का प्राणलोक उनके गान के माध्यम से इसी प्राकर प्रतिभात हुआ है, इसीलिए मैं कह सकता हूँ कि उन्होने भारतीय सगीत को विकृत बिलकुल नहीं किया, उन्होने उसके जडत्व की सम्भावना को समाप्त किया है। ठीक यह रीति ही उनकी शिक्षा के आदर्श मे, धर्म मे, कर्म में, काव्य मे, साहित्य मे, सर्वत्र ही प्रकट हुई है। गुरुदेव के गान प्राचीन का आधार लेकर इस युग के नवप्रकाश मात्र है जैसा कि भारत मे युग-युग से होता आ रहा है। इस कारण ही रवीन्द्र-सगीत एक नवीन धारा का प्रवर्तन स्वरूप होते हुए भी उसे भारतीय सगीत से विच्छिन्न कर देखना उचित नहीं है। कविता के भाव और छन्द बगला गान की प्रधान वस्तु है, एव हिन्दी गान की राग-रागिनी की अपनी भावप्रकाश-क्षमता·का वैचित्र्य है इसीलिए कविता के भाव, भाषा और छन्द के साथ मिलाकर उसका इच्छानुसार सचालन किया जा सकता है। यहीं वे (गुरुदेव) भारतीय सगीत के क्षेत्र में विद्रोही रूप मे दिखाई दिए हैं।

गान के विषय-वैचित्र्य के विषय मे भी रवीन्द्र सगीत अपूर्व है, इस क्षेत्र मे भी वे सम्भवत अद्वितीय रचयिता हैं। मानव मन की सभी अवस्थाओ के गानो की रचना वे कर गए हैं। कितने ही प्रकार के उत्सव, अनुष्ठान, गृहप्रवेश, प्रतिष्ठान, खेती, धान-कटाई, नलकूप-स्थापन, खेल, भ्रमण-पैदल यात्रा, वृक्षरोपण आदि के गाने, राष्ट्रीय सगीत, उद्दीपक सगीत, प्रार्थना सगीत—आदि—उनकी रचनाओ मे कोई भी विषय नहीं छूटा। यहाँ तक कि उन्होने हॅसी के गानो की रचना मे भी विशेष दक्षता दिखाई है। ऐसे गान सख्या मे बहुत अधिक नहीं हैं। इस सम्बन्ध मे भी सक्षेप मे आलोचना की जा सकती है।

सम्भवत कई लोगो का इस ओर ध्यान गया होगा कि उच्च श्रेणी के भारतीय सगीत मे साधारणत हास्यरस के गान नहीं हैं। गुणियो ने इस प्रकार के गानो को सम्मान नहीं दिया, अन्त्यज के समान ही उनकी अवज्ञा की।

हॅसी, रसिकता, ठट्ठा के गान लोकसंगीत मे बराबर रहे। आज भी भारत के विभिन्न प्रदेशो के लोकसगीत मे हास्यरस के विविध प्रकार के गान गाए जाते हैं, किन्तु उनमें अधिकाश कुरुचिपूर्ण हैं। १९वीं शताब्दी के प्रथमार्ध तक भी बगाल मे कवि-गान, हाफ-आखडाई और तर्जा (कविगान जातीय लोकसगीत विशेष) गान मे काफी हॅसी-ठट्ठा और रसिकता मिलती थी। सुना जाता है कि श्रोतागण इस विषय में विशेष उत्साही थे।

आज भी प्रचलित कवि-गान में हॅसी-ठट्ठा के भाव रहते है। किन्तु साधारणतया ये गान असस्कृत एव ग्रामीण है।

अग्रेजी सभ्यता के कारण तथाकथित शिक्षित मध्यम श्रेणी के और धनी लोगो मे और एक प्रकार के हॅसी के गानो का उदय हुआ था,-इन सब गानो मे वर्तमान सभ्यता और शिक्षा-दीखा को लेकर विशेष रूप से व्यग्य किया जाता था। किन्तु व्यग्यरहित, निर्मल, कौतुक सगीत भी उस समय प्रचलित हो गया था। इस प्रकार के गानो का सूत्रपात रूपचॉद पक्षी, धीराज, प्यारीमोहन कविरत्न आदि ने किया।

२०वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे द्विजेन्द्रलाल राय ने हॅसी के स्वरचित गानो से विशेष ख्याति अर्जित की थी। यह बात सभी जानते हैं कि उनके गान विलायत के एक प्रकार के हॅसी-गान के आदर्श के अनुसार रचित है। उनके गानो मे व्यग्य अधिक है, किन्तु रग कम है।

बगाल मे हॅसी के गान बहुत अधिक न होते हुए भी आज तक जितने गानो की रचना हुई है, उन्हे 'सुर' (स्वरसज्जा, रागिनी) की दृष्टि से तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है। इन तीन भागो मे प्रथम है पल्लीगीति के ढग से रचित गान, दूसरा है रागिनी के अवलम्बन से रचित गान और तीसरा है द्विजेन्द्रलाल राय के देशी और विलायती धुनो के मिश्रित रूप मे रचित गान। गुरुदेव ने पल्लीगीति की धुनो और राग-रागिनी की सहायता से हॅसी के गान लिखे है। हॅसी के उनके कुछ गानो से रागिनी और शब्द-विरुद्ध रस के द्वारा हॅसी का उद्रेक होता है। द्विजेन्द्रलाल के भी इस प्रकार के कुछ गान है। गुरुदेव के केवल दो गानो को उद्धृत कर इस तथ्य को स्पष्ट किया जा रहा है। 'वाल्मीकि प्रतिभा' मे दस्युओं की हॅसी व रुदन के गान हैं। अट्टहास—'हा हा ' के शब्दो के लिए उन्होने पीलू राग का व्यवहार किया है। तार-सा से मध्य-सा तक की स्वरसज्जा मे वे ही 'हा हा ' शब्द सुनाई देते हैं जिन्हे सुनकर स्वाभाविक हॅसी का बोध होता है। गौरी राग के रुदन गान का व्यवहार रुदन के 'उ उ ' शब्दो के लिए किया है। वहॉ यह शब्द मध्य सप्तक के कोमल ऋषभ से षड्ज पर विश्रान्ति लेता है। रुदन को स्वरसज्जा से सयोजित कर अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। इसके अलावा 'तासेर देश' नाटक के दो गान—'हाइ' और 'हॉचि' की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूॅ। अधिकाश गानो का स्वर-सयोजन हिन्दी सगीत की बडी-बडी राग-रागिनियो के आधार के बिना सम्भव नहीं है।

हॅसी के इन सब गानो में व्यक्ति, समाज या किसी प्रथा के प्रति तिरस्कार या उपहास प्रकट किया गया है, सामयिक ठट्ठा-उपहास का कारण जब समाप्त हो जाता है, तब इन गानो के प्रति मनुष्य का कोई आकर्षण नहीं रहता। जिस प्रकार सुकुमार राय का गान 'आबोल ताबोल' किसी दिन पुराना नहीं हो सकता, उसी प्रकार हॅसी के गुरुदेव के गान भी उसी श्रेणी के हैं। किन्तु एक भिन्नता है। समालोचक की भाषा मैं,—"ये सुमार्जित रुचि-सम्पन्न हैं, इनका उपभोग बुद्धिगम्य और शिक्षादीक्षा-सापेक्ष है। उस कौतुक से मुॅह नहीं, मन हॅसता है। शब्द-विन्यास के कौशल से, भाव की असगति के अवलम्बन से और तीखे किन्तु पावन रग से और व्यंजना के द्वारा हास्य रस की सृष्टि की है।"

उदाहरण-स्वरूप कुछ और अच्छे गानो का उल्लेख करता हूँ - "आमरा लक्ष्मीछाडार दल, भवेर पद्मपत्रे जल", 'फाल्गुनी' के "आमादेर भय काहारे", "भालो मानुष नइ रे मोरा", "आमादेर पाकबे ना चूल गो", 'गोडाय गलद' प्रहसन का "तोमरा सबाइ भालो", हैहै सघ के गान "आमरा ना-गान-गावार दल रे", "कॉटावनविहारिणी सुर-काना देवी" और "पाछे पडि शोनो भाई गाइये"। इन कुछ गानो से ही अनुमान किया जा सकता है कि उनके गान किस आदर्श से गठित थे। ये सभी गान बगाल मे प्रचलित हलके ढग के खमाज कीर्तन और बाउल गानो के आधार पर रचित हैं। इस प्रकार के गानो की रचना मे वे विदेशी धुनो के प्रयोग के पक्षपाती कभी नही थे।

गुरुदेव ने अपने गानो के काव्य के साथ प्रचलित हिन्दी-सगीत की नियम-विरोधी रागिनी का मिश्रण कर बडे आश्चर्यजनक रस की सृष्टि की है। किन्तु इस मिश्रण को असम्पूर्ण बताकर उसकी अवज्ञा भी सम्भव नहीं है। जैसे उन्होने बागेश्री या यमन, भूपाली मे वर्षा के गानो, भैरवी मे वीर्य के गानो की रचना की है, जो शास्त्र के अनुसार सम्भव नहीं है। प्राचीन राग-रागिनियॉ जिस प्रकार एक और प्रकृति के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, अष्ट प्रहर के एक-एक भाग के साथ एक-एक रागिनी गाने का निश्चित नियम है, उसी प्रकार रागिनी मानव-मन के आनन्द, दु ख के अवलम्बन से मूर्त रूप लेती है। शिल्पी के समक्ष 'सुर' (स्वरसज्जा, रागिनी, प्रतिमा) का जब यह स्वरूप मूर्त्त हो उठता है, तब किसी भी रागिनी को लेकर इच्छानुसार गान की रचना करना शिल्पी के लिए असम्भव नहीं। गुरुदेव इसी प्रकार की लोकोत्तर प्रतिभा के अधिकारी शिल्पी थे। उनके गीतिनाट्य मे विभिन्न रागिनियो के मिश्रण से हास्य-रुदन, सुख-दु ख आदि भावनाओ को अभिव्यक्ति मिली है। भारी क्रोध से जब अभिशाप दिया जा रहा है, तब उस काव्य के साथ शकरा रागिनी मे ध्रुपद शैली का प्रयोग दिखाई देता है, यथा—"कॉदिते हबे रे पापिष्ठा"। इस प्रकार हास्य-रुदन आदि की अभिव्यजना के कितने वैचित्र्य मिलते हैं, उसका उल्लेख मैंने पहले किया है।

गुरुदेव ने गान मे स्वर-सयोजन के कुछ मूल आदर्श निश्चित किए थे। यथा, वीर्यरस पूर्ण सशक्त उल्लास के गानो मे द्रुत छन्द का प्रयोग होगा और स्वर क्रमच्युत कटे-कटे से रहेगे एव कुछ स्वरो का प्रयोग लघन-प्रणाली से किया जाएगा। करुण, विषाद के गानो की लय अपेक्षाकृत धीर होगी, स्वर-सयोजन कटे-कटे या लघन-प्रणाली से नही होगा, किन्तु उसमे मींड का आधिक्य भी नहीं रहता है, छोटे-छोटे स्वरालकार रहते है। विशेष रूप से खमाज, बिहाग, भैरवी, मिश्रमुलतानी इत्यादि रागिनियो में निबद्ध वेदना के गानो को सुनने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। गम्भीर प्रकृति के गानो मे मीड का काम अधिक रहता है, इस प्रकार के गानो की लय भी बहुत धीर है। इस प्रकार के गानो मे ऋतुसगीत और धर्मसगीत दोनो है। इसके अलावा गानो की भाषा मे जहॉ गम्भीर, विस्तार का भाव प्रकट होता है, वहॉ एक-दो स्वरो पर शब्द ठहरते, मूर्त्त होते हैं। इन स्वरो का प्रयोग मींड से, एक से दूसरे स्वर पर धीर भाव से जाने के ढग से होता है। सुनने पर कई बार ऐसा लगेगा कि गायक एक स्वर पर ही खडा है। "तुमि रबे नीरबे" और "जीवन मरणेर सीमाना छाडाये"—इन दो गानो से मेरी बात प्रमाणित हो जाएगी। और एक प्रकार के गान हैं जिनमे

मींड का प्रयोग नहीं है। छोटे-छोटे स्वरालकार हैं, कटे-कटे-से स्वर नही या लघन भी नहीं है, एव छन्द द्रुत है। इस प्रकार के गानो के अच्छे उदाहरण हैं बाउल-आदर्श से रचित गान, इन गानो मे वेदना मिलती है, किन्तु उस वेदना के अन्तर मे जो आनन्द है, उसकी अभिव्यक्ति ही उसका वैशिष्ट्य है।

जब हम भावो का पारस्परिक आदान-प्रदान करते है, तब वाचन की विशेष भगिमा अधिक उपयोगी सिद्ध होती है—जैसे किसी सकल्प का तीन बार उच्चारण कर प्रतिज्ञा करने पर मन की दृढता प्रकट होती है, जिसे ही हम कहते है—"तीन बार कसम उठाना।"—गुरुदेव ने कई गानो मे किसी-किसी शब्द के द्वारा मन की दृढता प्रकट करने के लिए उसी शब्द का एक के बाद एक तीन बार उच्चारण किया है। कई गानो मे ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जैसे

१ *येते यदि हय हबे, हबे, हबे गो*
याब याब याब तबे।
२ *ना, ना गो ना, कोरो ना भावना*
३ *एसो, एसो आमार घरे*
एसो आमार घरे
४ *सब दिबि के, सब दिबि के,*
सब दिबि पाय आय, आय, आय।
५ *येयो ना, येयो ना, येयो ना फिरे।*
६ *एबार*
उजाड करे लओ हे आमार
या किछु सम्बल।
फिरे चाओ, फिरे चाओ,
फिरे चाओ ओगो चञ्चल।
७ *फिरे चल, फिरे चल, फिरे चल माटिर टाने।*

ठीक जिस प्रकार गान मे शब्द का उच्चारण कर गान गाया जाता है, उसी प्रकार उल्लिखित गानो मे शब्द लिखे गए है।

इस प्रकार और भी विविध प्रकार से आलोचना करने पर पता चलेगा कि गान-रचना मे उन्होने हमारे व्यावहारिक जीवन से मन के कई प्रकार के कई अभ्यास ग्रहण किए हैं एव इसी कारण उनके गान प्राण को झकझोरते हैं, ऐसा लगता है कि शब्द बोल रहे हैं।

प्रतिभासम्पन्न कवि होने के कारण किसी भी प्रकार के गान की रचना करने मे उन्हे हर प्रकार से सुविधा थी। पुन , गभीर सगीतानुरागी होने से वे भारतीय सगीत के मर्म तक पहुँचकर उसका रहस्य उद्घाटित कर सके थे, इतने प्रकार के गान सबके सामने रख सके थे।

उच्चांग हिन्दी गान का प्रभाव

उच्चाग हिन्दी गान से गुरुदेव किस प्रकार उपकृत हुए थे, इस विषय मे हमे गुरुदेव की दो बहुमूल्य उक्तियाँ मिलती हैं। उन्होने कहा है

"जनश्रुति है कि मै हिन्दुस्थानी गान जानता नहीं, समझता नहीं। मेरे प्रारम्भिक काल के रचित गानो मे हिन्दुस्थानी ध्रुवपद्धति की राग-रागिनी का साक्ष्य अत्यन्त विशुद्ध प्रमाण के साथ प्रतिभात है जो भावी पुरातत्त्वविदो के निदारुण वाद-विवाद की अपेक्षा कर रहा है। इच्छा होते हुए भी मै उस सगीत को अस्वीकार नहीं कर सकता, उस सगीत से ही मै प्रेरणा प्राप्त करता हूँ, जो यह बात नही जानते, वे हिन्दुस्थानी सगीत नही जानते।"

अन्यत्र उन्होने कहा है

"हम बाल्यकाल से ध्रुपद गान सुनने के अभ्यस्त हैं, उसका आभिजात्य बृहत् सीमा मे अपनी मर्यादा की रक्षा करता है। इस ध्रुपद गान मे हमने दो बाते पाई है—एक ओर उसकी विपुलता, गभीरता, और दूसरी ओर उसका आत्मदमन, सुसगति मे अपने वजन की रक्षा करना।"

ध्रुपद की इस विपुलता, गभीरता, आत्मदमन और सुसगति मे अपनी रक्षा करने की मूल नीति को ही गुरुदेव ने अपने गानो मे विशेष रूप से ग्रहण किया था। ध्रुपद के प्रभाव का यह एक बडा पहलू है। किन्तु यहाँ हमारी आलोचना का विषय है गुरुदेव के गानो मे मिलनेवाले चार कलि के भागमात्र। ध्रुपद के प्रभाव से ही ऐसा हुआ है।

ध्रुपद गान मे हमे स्थायी, अन्तरा, सचारी और आभोग नामक चार कलियाँ मिलती है। स्थायी मे रागिनी जिस रूप मे रहती है, अन्तरा मे उसी रागिनी का भिन्न रूप दिखाई देता है। रागिनी एक ही होते हुए भी सचारी की स्वरसज्जा स्थायी और अन्तरा मे से किसी से मेल नही खाएगी। आभोग की स्वरसज्जा साधारणतया अन्तरे की स्वरसज्जा की पुनरावृत्ति मात्र होगी। एक हिन्दी ध्रुपद गान सुन लेने पर इस बात का अर्थ स्पष्ट हो जाएगा। हिन्दी ध्रुपद गान के अनुकरण से रचित गुरुदेव के बगलाभाषा के चौताल के गान का यहाँ उल्लेख करता हूँ। जैसे

"स्वामी तुमि एसो आज
अन्धकार हृदय माझ।"

पहले ध्रुपद के जो सब गुण गुरुदेव की उक्ति से उद्धृत किए हैं, हिन्दी ध्रुपद के अनुकरण से बगला भाषा मे रचित इस ध्रुपद गान मे वे सभी गुण हैं, यह बात गान सुनने पर अच्छी

तरह से समझ मे आ सकती है। इसके अलावा इस गान मे बिहाग राग जिस प्रकार चार कलियो मे विभाजित होकर सयोजित हुआ है वह भी ध्यान देने का विषय है। यह है ध्रुपदगान-रचना की मूल नीति।

हिन्दी ध्रुपद गान साधारणतया चौताल, आडाचौताल, सूलफॉक्ता तालो मे रचित होते थे। दादरा या कहरवा जैसे लघुतालो मे ध्रुपद-रचना की बात नहीं सुनी जाती। हिन्दी ध्रुपद के अनुकरण से गुरुदेव ने चौताल आदि विविध तालो मे कई गानो की रचना की है। किन्तु दादरा और कहरवा तालो के गानो को भी चार कलियो मे विभक्त कर ध्रुपद के नियम से स्वरसज्जा बिठाकर ध्रुपद के प्रति अपनी निष्ठा का जो परिचय वे दे गए हैं, ऐसा परिचय ध्रुपदियो के युग मे भी नहीं मिलता। अत हमे मानना पडेगा कि इसके द्वारा ध्रुपद गान ने प्रचलित नियम के बन्धन से मुक्ति पाई। इस प्रकार के गानो का नमूना अलग से उद्धृत करने का प्रयोजन नहीं है। दादरा ताल के बाउल और कीर्तनाग गान की धुनो मे रचित गुरुदेव के गानो मे इस प्रकार के चार कलियो वाले प्रचुर गान है।

दो कलियो की समष्टि के इस युग के हिन्दी खयाल-गान के अनुकरण से गुरुदेव ने जब बगला गानो की रचना की, तब देखा गया कि उन पर भी ध्रुपद के समान चार कलियो का प्रभाव है। दो कलियो के त्रिताल के गान के साथ अपनी ओर से और दो कलियॉ जोड दीं। मूल रागिनी को कायम रखते हुए उन्होने सचारी की स्वरसज्जा की नवीन ढग से रचना स्वय की। उसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है "आनन्दधारा बहिछे भुवने"। गान के आरम्भ की स्थायी और अन्तरा त्रिताल मे रचित एक हिन्दी गान के अनुकरण से रचित है, किन्तु सचारी—"बसिया आछ केन आपन मने" से अन्तिम आभोग तक उनकी अपनी रचना है।

ठीक इसी प्रकार जब उन्होने दो कलियो के हिन्दी टप्पा और ठुमरी गान को बगला भाषा मे रूपान्तरित किया, तब भी देखा जा सकता है कि वे उन्हे चार कलियो मे सजा रहे हैं। नमूने के तौर पर मैं दो गानो का उल्लेख करता हूँ, जैसे, "बन्धु रहो रहो साथे" एव "कखन दिले पराये स्वपने वरणमाला"।

अत गुरुदेव के गानों पर हिन्दी गानों के प्रभाव विषय पर विचार करते समय आरम्भ मे उद्धृत गुरुदेव की दो उक्तियों को ध्यान मे रखना होगा।

देशी संगीत का प्रभाव

'लोकसगीत' शब्द का प्रयोग आज अत्यन्त प्रचलित होते हुए भी अग्रेज-शासन के पूर्व भारत मे इस शब्द का व्यवहार था, ऐसा नहीं लगता। यह शब्द हमे उनके शब्द Folksong या Folkmusic के अनुवाद रूप मे मिला है। इस शब्द के पीछे एक इतिहास है।

अठारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में यूरोप मे यत्र-युग (मशीन-युग) का सूत्रपात हुआ। इसके बाद से ही प्राक्यत्रयुग की सभ्यता के साथ यत्रयुग की सभ्यता का पार्थक्य दिखाई दिया। अर्थात् पूर्वकाल की सभ्यता या सस्कृति ग्राम-निर्भर थी, और यत्रयुग की सभ्यता सम्पूर्ण रूप से नगर केन्द्रित हो गई। क्रमश यूरोप की इतने दिनो की ग्राम-निर्भर सभ्यता को नवीन नगर-सभ्यता ने पूर्णतया ग्रास कर लिया और नगर यत्रयुग की सस्कृति के केन्द्र बन गए। इस परिवर्तन का प्रभाव सगीत मे भी दिखाई दिया एव सगीत मे भी युगान्तरकारी परिवर्तन परिलक्षित हुए हैं।

यूरोप का सगीत यत्रयुग के बहुत पहले से ही नगर को केन्द्र मानकर हार्मनी सगीत के रूप मे विकसित हुआ था। किन्तु इस युग मे हार्मनी सगीत का जा रूप हम देखते है, उसका आरम्भ अठारहवीं शताब्दी के मध्य भाग से हुआ। इतने दिनो तक यूरोप की ग्रामजात प्राचीन सगीतधारा के अपने ढग से प्रवाह मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हुई थी। किन्तु यत्रयुग के साथ-साथ ही उसके लिए अपना अस्तित्व बनाए रखना असम्भव हो गया। यूरोप के नवीन युग के नगरजात सगीत ने ग्रामो और नगरो मे एक साथ व्यापक रूप से अपने को प्रतिष्ठित कर लिया जिससे ग्रामो की प्राचीन धारा के सभी स्रोत अवरुद्ध होने लगे। इस प्रकार की अवस्था मे अष्टादश शताब्दी के मध्यभाग मे यूरोप के नगरवासियो की नजर पहली बार ग्राम की प्राचीन प्रथा पर पडी। उस समय सगीत-रसिको के एक वर्ग ने सोचा कि नव युग के धक्के से जब प्राचीन सगीत को बचाया ही नहीं जा सकता, तब अन्तत· ऐसी कोई व्यवस्था की जाए जिससे उसका चिह्न भी पूर्णतया लुप्त न हो जाए। इस चेतना के फलस्वरूप ही प्राचीन धारा की ग्रामनिर्भर सस्कृति के अग संगीत के सग्रह के प्रति रुझान दिखाई दिया। किन्तु इस काम के प्रति व्यापक उत्साह १९वीं शताब्दी के मध्यभाग मे दिखाई दिया। इसका कारण था तत्कालीन यूरोप के रूमानी आन्दोलन मे नवीन स्वादेशिकता-बोध का आविर्भाव। साहित्य और शिल्प के समान सगीत के माध्यम से भी प्रत्येक जाति अपने वैशिष्टय को जानने और उसे सबके समक्ष प्रकट करने की प्रेरणा अनुभव करने लगी। बडे-बड़े सगीत-स्रष्टा अपने देश के सगीत-भडार से विविध प्रकार के उपकरण सग्रह कर नवीन रूप मे उसे सजाने की चेष्टा करने लगे।

उस समय से शुरू कर वर्तमान शताब्दी के आरम्भिक पच्चीस वर्षों मे यूरोप के कई देशो मे सग्रह का काम इतने आग्रह से चल रहा था कि वहाँ के किसी-किसी अचल मे सग्रह के उपयोगी प्राचीन गान-भडार समाप्त हो गया। सग्रहकर्ताओ का उद्देश्य इस सग्रह द्वारा प्राचीन पद्धति के सगीत को नवीन रूप मे समाज मे स्थान दिलाना नही था। वे जानते थे कि ऐसा किसी भी दिन सम्भव नहीं है। वे अपने देश के प्राचीन सगीत का परिचय प्राप्त करना और उसकी सहायता से उस समय के लोगो की प्रकृति और उनके समाज को समझना चाहते थे। इसका और एक उद्देश्य नवसृष्टि के लिए प्रेरणा प्राप्त करना था। इसलिए इस प्रकार प्राचीन पद्धति के ग्राम और नगर-जात सगीत के इन दो पक्षो को समझाने के लिए १९वीं शताब्दी के मध्यभाग मे उनका अलग नामकरण किया गया। ग्रामजात सभ्यता से विकसित सगीत को वे कहते थे Folksong और नगरजात सगीत हुआ artsong । इससे इन दो सगीतपद्धतियों मे यह पार्थक्य दिखाई दिया कि ग्राम-सभ्यताजात सगीत ने शब्द एव 'सुर' (धुन) को एक साथ समान प्राधान्य दिया है एव ऐसे विचित्र 'सुरो' का आविष्कार हुआ जिनका बाह्य रूप सहज सरल होते हुए भी श्रोताओ के मन को आकृष्ट करने की असीम क्षमता इनमे है। दूसरी ओर नगरजात सगीत ने chord, counterpoint आदि के योग से 'सुरो' के इन्द्रजाल से सजी हार्मनी सगीत नामक सम्पूर्ण पृथक् सगीतपद्धति को जन्म दिया। इसके अलावा इस सगीत मे कई विचित्र स्वरो को स्थान मिला। ग्रामजात सगीत प्रधानत एकक सगीत था। नगरजात संगीत विशिष्ट स्थान पर सजा हुआ, बहुजन और बहु वाद्ययन्त्रों के विचित्र स्वरसज्जा-सम्मिलन का सगीत हो गया। यूरोप आज इस हार्मनी सगीत का इतना अभ्यस्त हो गया है कि प्राचीन आदर्श का Folksong गाते समय भी यूरोपीय उसके साथ chord का व्यवहार किए बिना रह नहीं सकते। हार्मनी के आदर्श से सजाए बिना आज वे कोई भी गान सुनना नहीं चाहेगे।

हमारे देश में अंग्रेज-आगमन के पहले के युग तक सस्कृति की समग्रधारा ग्राम के साथ जुडी हुई थी। अग्रेज-युग मे ग्रामकेन्द्रिक यह सस्कृति जब ग्राम का त्याग कर शहरमुखी होने लगी, तब प्राणवान् ग्राम-निर्भर संस्कृति का स्रोत सूखने लगा। अग्रेज-युग के हमारे शहरो मे विदेशी सभ्यता का प्रभाव सुप्रतिष्ठित होते हुए भी विलायत की नगरकेन्द्रित मशीनी सभ्यता के साथ ताल मिलाकर ये चल नहीं सके। इसीलिए विलायत की शहरकेन्द्रित प्राणवान् सभ्यता इस देश मे निर्मित नहीं हो सकी। हमारे शहरो मे ऐसी एक मिश्र और दुर्बल सभ्यता का प्रकाश दिखाई दिया जिसमे यूरोप की नगरसभ्यता के समान ग्राम को पूर्णतया उदरस्थ करने की क्षमता नहीं थी। किन्तु इस देश के नगरो मे विदेश के व्यर्थ अनुकरण से ऐसी अवस्था की सृष्टि होने लगी जिसके फलस्वरूप ग्रामो की उपेक्षा होने लगी एव इस अवहेलना के कारण ही ग्राम और शहर में एक व्यवधान खडा हो गया। इसका एक बडा नमूना है इस युग की शिक्षा-व्यवस्था। यूरोप के अनुकरण से विश्वविद्यालय के माध्यम से जैसी शिक्षापद्धति बनी, उसके साथ पूर्वयुग की ग्रामकेन्द्रित शिक्षा व्यवस्था के साथ कोई योग नहीं रहा। किन्तु भारत के प्रत्येक चिन्ताशील मनीषी ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि अग्रेज युग की यह शिक्षापद्धति हमारे देश के लिए व्यर्थ सिद्ध हुई है। इसीलिए गुरुदेव

और महात्माजी ने जिस नूतन शिक्षापद्धति का आदर्श स्थापित किया, वह है ग्रामकेन्द्रिक।

चित्र, स्थापत्य, मूर्तिकला और शिल्पकला मे भी इसी प्रकार का गलत मार्ग हमने अपनाया था। यूरोपीय शिक्षा के कारण हम ग्रामकेन्द्रिक शिल्पप्रथा की अवहेलना और उपेक्षा करने के अभ्यस्त हो गए थे। ठीक इस प्रकार की अवस्था में विदेशी हेवेल साहब और शिल्पाचार्य अवनीन्द्रनाथ ने हमारे देश को बचाया। विदेशी शिल्प के व्यर्थ अनुकरण की प्रवृत्ति से उन्होने हमारी रक्षा की। इन्होने ग्रामजात प्राचीन प्रथा का आधार लेकर नवीन शिल्पपद्धति की सृष्टि की।

भारतीय नृत्यकला का जो नवयुग आज हम देख रहे हैं, उसकी प्रेरणा का एकमात्र स्रोत है हमारा ग्रामकेन्द्रिक प्राचीन नृत्य और नृत्याभिनयधारा। अंग्रेज-युग के प्रारम्भ से ही हम शहरवासियो के मन में ग्राम के प्रति अवज्ञा का मनोभाव इतना तीव्र हो गया था कि हमने ग्रामकेन्द्रिक भारतीय नृत्यकला का रस ग्रहण करने की कोई चेष्टा ही नही की, उसे निम्नस्तर का शिल्परूप समझकर घृणा की थी। इस मनोभाव के कारण गॉवो का कई प्रकार का नाच नष्ट हो गया। किन्तु गुरुदेव के प्रयास से जब शिक्षितो मे पुन नृत्य-आन्दोलन शुरू हुआ तो सभी को गॉवो के आगे ही हाथ पसारना पडा। आज भारत के सभी नृत्य-आन्दोलनो के लिए प्रेरणा का एकमात्र उत्स-स्थल है ग्राम। मात्र सगीत के क्षेत्र में इसका व्यतिक्रम दिखाई दिया। हमारे शहरवासी शिक्षितो मे यूरोपीय सगीतचिन्तन ने आलोडन, विचारमथन की सृष्टि अवश्य की, किन्तु भारतीय सगीत से हमारा मन विमुख नहीं हुआ। हमने विदेशी संगीत को समझने की चेष्टा की है, उसे ग्रहण भी किया है, विशेष रूप से वाद्ययत्र-सगीत की दृष्टि से, किन्तु उसके प्रभाव से हमारी आत्मविस्मृति नहीं हुई है, हम अपने को नहीं भूले हैं। हमने यह कहना नहीं सीखा कि हमारा सगीत यूरोपियो के सगीत की तुलना मे कुछ नहीं। शहरवासी भी प्राचीन सगीत को मन-प्राण से पसन्द करते हैं।

भारतीय सगीतपद्धति को लेकर पहले जो विस्तृत आलोचना की गई, उसमें हमने देखा कि हम मार्ग या उच्चाग और देशी नामक दो सगीत धाराओ के वाहक हैं। दोनो सगीत 'सुर' (रागिनी) शब्द और छन्द मे रचित गान हैं। किन्तु मार्ग सगीत-पद्धति 'सुर' या रागिनी और छन्द को शब्द की अपेक्षा अधिक प्राधान्य देती है और देशी पद्धति मे शब्द और 'सुर' को समान स्थान दिया जाता है। मार्ग सगीत मे पॉच स्वरो से कम स्वरो के गान के लिए स्थान नहीं है, जबकि देशी सगीत में तीन से सात स्वरो के गान है। भाव की दृष्टि से उच्चाग सगीत ने भक्ति और प्रेम को ही प्राधान्य दिया, जबकि देशी सगीत मे विविध भावो की अभिव्यक्ति दिखाई देती है। गान मे कहानी कहना, व्रतकथा, छड़ा, 'वचन' गान, उत्सव-अनुष्ठानादि के गान, विविध भावो के प्रेम-गान, देवता के प्रति भक्ति और प्रेम के गान-इस प्रकार के विविध भावों के गान हैं। ग्राम्य जीवन की विविध हास्य-रुदन की घटनाओ व विषयो को लेकर कितने ही विचित्र गानो की रचना हुई और वे गाए जाते रहे है। बगाल मे अग्रेज-युग मे देशी संगीत का विषय-वैचित्र्य और भी बढ़ गया है, इस युग की शिक्षा में शिक्षित सगीतकारो की अनुभूति के प्रसार का यह सुफल है। एव बंगाल

के गान मात्र देशी संगीत के आदर्श से परिचालित हैं, मार्ग सगीत का प्रभाव वहाँ फलप्रद नहीं।

हमारे देश मे इन दो पद्धतियों के गान का जन्म प्राचीन काल की सभ्यता के समय मे हुआ एव आज भी उसी आदर्श के अनुसार नगर और ग्राम मे समान प्राधान्य कायम है। ऐसा होने पर ही देखा जाता है कि इस युग की भारतीय नागरिक सभ्यता यूरोपीय प्रभाव से परिचालित होते हुए भी गान के मामले मे भारत की ग्रामजात प्राचीन धारा का ही अनुसरण किया गया। अत जिस कारण से यूरोप मे folksong या artsong शब्द का उद्‌भव हुआ, हमारे देश के संगीत मे इस प्रकार का कोई सशक्त कारण आज तक नहीं रहा। इसीलिए 'लोकसगीत' शब्द का ठीक विलायती अर्थ में व्यवहार न कर, उसके द्वारा हम यह बताना चाहते हैं कि अंग्रेजी शिक्षा मे अशिक्षित ग्रामवासियो के सब गानो मे उच्चाग हिन्दी सगीत का कोई परिचय नहीं मिलता, किन्तु गठनपद्धति और गीतरीति मे बगाल के शहरों एव गॉवो के गान एक ही आदर्श का अनुसरण करते हुए भी शहरवासियो के गान को लोकसगीत कहने का साहस कोई नहीं करेगा। उन्हे आधुनिक गान, रागप्रधान गान, भावप्रधान गान, या प्रगतिवादी गान कहना होगा। यूरोप का 'लोकसगीत' अकेले का गान या एक ही गान को सब मिलकर एक ही ढंग से गाने का गान था। हमारे देश का मार्ग और देशी दोनो प्रकार का सगीत आज भी अकेले गाने के आदर्श को मानकर चलता है। यूरोप के समान विचित्र स्वरसज्जा के जाल मे सजा हार्मनी संगीत यह नहीं है। अत हमारे देश मे यूरोप के folksong शब्द का यदि बगला (हिन्दुस्थानी) प्रतिशब्द की रचना की जाए तो सर्वाधिक उपयुक्त शब्द है 'देशी'। और artsong शब्द का उपयुक्त प्रतिशब्द है 'मार्ग' सगीत।

सगीत के मामले मे हम यूरोप से प्रभावित अवश्य नहीं हुए हैं, किन्तु उच्चाग सगीत के आभिजात्य के गर्व के कारण हमने अपने सगीत के साथ किस प्रकार व्यवहार किया, यह उल्लेख्योग्य है।

एक समय बगाल मे उच्चाग हिन्दी सगीत-अनुरागी उस सगीत के प्रति इतने अनुरक्त थे कि वे यह सोच भी नहीं सकते थे कि भारतीय सगीत का अर्थ और कोई गान भी हो सकता है। शिक्षित धनी नगरवासियों मे प्रचलित कीर्तन या रामप्रसादी गान की प्रथा होते हुए भी उच्चाग सगीत के अनुरागी इनका गान नहीं करते थे, वरच इन्हे निम्न स्तर के गान मानते थे। और पल्ली-अचल के अन्यान्य गानो को तो वे गान ही नहीं मानते थे। उन्होने या तो हिन्दी भाषा में गान लिखे, या उच्चाग हिन्दी गान का हूबहू अनुकरण कर बंगला भाषा मे गान लिखे और उसी आदर्श से उनका गायन किया है। उन्होने हिन्दी टप्पा, ठुमरी, भजन का गान किया, किन्तु बगला के अपने गान को उन्होंने गाने योग्य नहीं समझा; ठीक हिन्दूसमाज के स्पृश्य-अस्पृश्य विचार के समान। कलकत्ता शहर मे इस प्रकार का भेदभाव प्रबल था। १९वीं शताब्दी के कलकत्ता का शिक्षित धनी समाज उच्चाग हिन्दी संगीत का विशेष अनुरागी था। इसीलिए वे उसी आदर्श से सयोजित बंगला गान को अधिक प्रोत्साहित करते थे। मैंने पहले ही कहा है कि जब ग्रामो ने शहरो के प्रभाव से अपना पथ छोडकर शहरों के पदानुसरण

करने का प्रयास किया है, तभी वे अपने मार्ग से हट जाने को बाध्य हुए हैं एव जो गान उनमे प्रचलित थे, धीरे-धीरे वे उन्हे भी भूल गए हैं।

इस प्रकार की अवस्था मे कलकत्ता निवासी ईश्वरचन्द्र गुप्त ने प्रथम बार बगाल के गॉवो के प्राचीन गान और साहित्य की ओर ध्यान दिया और अन्य लोगो का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। उनके द्वारा प्रचारित आन्दोलन के मूल मे यूरोप के इसी युग के इसी प्रकार के आन्दोलन का कोई प्रभाव था या नहीं, ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। उन्होने शहर के शिक्षित वर्ग का ध्यान आकृष्ट करने के लिए ई १८५५ मे अपनी पत्रिका 'सवाद प्रभाकर' मे प्राचीन और लुप्तप्राय 'लोकसाहित्य' या सगीत विषय पर प्रथम बार आलोचना शुरू की। इस पत्रिका के माध्यम से उन्होंने बगाल के प्राचीन सगीत का उद्धार कर उसे प्रकाशित किया। उन्होंने उस समग्र सगीत के भाव, भाषा और इतिहास की आलोचना की थी, उसके 'सुर' (रागिनी, प्रतिमा) और ताल को लेकर कोई आलोचना नही की। उसके पश्चात् आज तक कई गुणियो ने बंगाल के विविध प्रकार के निजस्व देशी सगीत का सग्रह किया है एवं उसके भाव व भाषा को लेकर आलोचना की है, किन्तु उस सग्रह मे 'सुर' और ताल की आलोचना नहीं है।

बाद मे कलकत्ता के 'जातीय मेला' या 'हिन्दूमेला' के आन्दोलनो के द्वारा प्रदेश के सगीत और शिल्प के प्रति शहरवासियो का अनुराग बढाने की चेष्टा की गई, किन्तु वहॉ उच्चाग हिन्दी सगीत के अलावा बगाल के निजस्व देशी अर्थात् पल्ली गान को स्थान मिला या नहीं, ज्ञात नहीं। किन्तु बगला भाषा के स्वदेशी भाव-उद्दीपक गानो का उद्भव पहली बार इस स्वदेशी मेले के शुरू से हुआ। सगीत के क्षेत्र मे स्वदेशी मेले के आन्दोलन का यह एक विशेष अवदान है।

१२७४ बगाब्द (ई १८६८) के मेले के उद्बोधन-संगीत के रूप मे बगला भाषा का प्रथम राष्ट्रीय भाव-उद्दीपक गान गाया गया। देशी संगीत के आदर्श से रचित होते हुए भी इसकी रागिनी उच्चांग हिन्दी सगीत की थी। यथा, "मिले सबे भारत सन्तान" गान की रागिनी है खमाज और ताल है आड़ा ठेका। द्वितीय गान "लज्जाय भारत यश गाइब कि करे" गान की रागिनी थी बहार और ताल यत। इसके पश्चात् इस मेले के उपलक्ष्य मे और भी कई राष्ट्रीय संगीत की रचना हुई, किन्तु विशुद्ध बंगला ढग से और सुर में किसी ने देशी संगीत की रचना की, पता नहीं चलता।

१२९० बगाब्द (ई १८८४) मे प्रथम बार 'भारती' पत्रिका में बगाल के देशी संगीत के लिखित रूप के प्रति गुरुदेव का आग्रह दिखाई दिया, जबकि उनकी आयु बाईस वर्ष थी। बाउल गान के सग्रह-ग्रन्थ की आलोचना के प्रसंग मे गुरुदेव ने लिखा कि ये गान बगाल के निजस्व गान हैं। उन्होने प्रेदशवासियो से इनका संग्रह करने का आह्वान किया, ताकि ये गान लुप्त न हो जाएँ। उन्होने यह भी कहा था कि 'भारती' मे प्रकाशनार्थ भेजने पर उन्हे सानन्द प्रकाशित किया जाएगा। कुछ संग्रह प्रकाशित भी हुआ, किन्तु सभी काव्य मात्र हैं, 'सुर' (रागिनी, स्वरसज्जा) का उल्लेख नहीं है। शब्द या काव्य के रस पर सभी मुग्ध हुए, किन्तु 'सुर' की आलोचना के प्रति किसी का भी ध्यान नहीं गया।

इधर प्रथम गान लिखने से आरम्भ कर सत्ताईस (२७) वर्ष की आयु तक गुरुदेव ने देशी धुन की सहायता से जितने गान लिखे, उनमे प्राय सभी कलकत्ता अचल मे प्रचलित कीर्तन और रामप्रसादी 'सुर' मे रचित हैं। जैसे

१	गहन कुसुम कुज माझे	मिश्र कीर्तन
२	आमि इ शुधु रइनु बाकि	रामप्रसादी
३	आमि जेने शुने तबु	कीर्तन
४	श्यामा एबार छेडे चलेछि	रामप्रसादी
५	आबार मोरे पागल करे	कीर्तन
६	सुखे आछि	मिश्र कीर्तन

इस आयु मे रचित कुल ४०० गानो मे से ये कुछ देशी 'सुर' के गान है।

गुरुदेव राजसाही और कुष्ठिया जिलो की जमीदारी के पर्यविक्षण का भार ग्रहण करने के बाद ग्राम्य अचल के देशी सगीत के प्रत्यक्ष सस्पर्श मे आए। तीस वर्ष की आयु मे इस काम का दायित्व ग्रहण कर उन्होने वहाँ के ग्राम्य अचल मे और नदीपथ पर प्राय दस-ग्यारह वर्षो तक प्रवास किया। उनके सागीतिक जीवन मे यह समय अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योकि उस समय मे ही बगाल के ग्राम-अचल मे रहकर उस वातावरण मे देशी सगीत का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करने का उन्हे सुयोग मिला। किन्तु उस समय तक उनके गानो मे कलकत्ता अचल मे प्रचलित कीर्तन, रामप्रसादी, बगला देशी विभास आदि का काफी प्रभाव परिलक्षित होता है। इस बार पहली बार बाउल के गान नाम से दो गान मिलते है। इस समय मे देशी धुनों में रचित गान है

१	तोमरा सबाइ भालो .	बाउल
२	ख्यापा तुइ आछिस आपन	बाउल
३	आमारे के निबि भाइ	कीर्तन
४	खाँचार पाखि छिल	कीर्तन
५	बडो वेदनार मतो .	कीर्तन
६	ओहे जीवनवल्लभ	कीर्तन
७	भालोबेसे सखी . .	कीर्तन
८	ससारे मन दियेछिनु .	कीर्तन
९	ओगो एत प्रेम आशा .	कीर्तन
१०	चाहि ना सुखे थाकिते हे	कीर्तन
११	एकबार तोरा मा बलिया .	कीर्तन
१२	एबार यमेर दुयोर खोला .	मिश्र
१३	तोमरा हासिया रहिया .	मिश्र

१४	तोमार गोपन कथाटि	मिश्र
१५	आमरा मिलेछि आज मायेर	रामप्रसादी
१६	बँधु तोमाय करब राजा	विभास
१७	आजि शरत तपने	जोगिया विभास
१८	नयन तोमारे पायना	जोगिया विभास
१९	ओलो सइ ओलो सइ .	मिश्र विभास
२०	हृदयेर एकूल ओकूल .	मिश्र विभास

चालीस वर्ष की आयु तक गुरुदेव द्वारा रचित देशी गानो की इन दो तालिकाओ से हम स्पष्टत समझ सकते हैं कि बगाल के कीर्तन की प्रचलित कुछ धुनो में ही इस समय मे उन्होने अधिक गान लिखे हैं, उसके पश्चात् ही उन्होंने बगाल मे प्रचलित उसकी अपनी रागिनी विभास में रचना की। देशी रागिनी के गानो मे इन दो 'सुरो' का प्रभाव उनके परवर्ती जीवन की रचनाओ मे भी मिलता है। किन्तु प्रश्न यह है कि कीर्तन 'सुर' मे रचित जिन गानो का उल्लेख किया गया है एवं वे जिस रूप मे गाए जाते हैं, उनके साथ बगाल मे प्रचलित कीर्तन का विशेष मेल दिखाई नहीं देता। यह बेमल क्या है, इसे समझने के लिए बगाल के कीर्तन गान के विषय मे सक्षिप्त आलोचना की जरूरत है।

प्राचीन काल से भगवान् के नाम गुणलीला का उच्च स्वर मे कीर्तन करने की प्रथा भारत मे सर्वत्र प्रचलित है। मैंने पहले ही कहा है कि उत्तर और पश्चिम भारत मे कुछ वैष्णव-मन्दिरो मे मध्ययुग के भक्तो द्वारा रचित जो गान गाए जाते हैं उन्हे भजन न कहकर कीर्तन कहा जाता है, दक्षिण भारत मे कृति या कीर्तन कहते हैं। महाराष्ट्र अचल मे इस प्रकार की एक रीति के गान को भी कीर्तन कहा जाता है। कुछ लोग मिलकर जब एक निर्दिष्ट 'सुर', ताल, लय मे स्वतत्र पद्धति से राधा-कृष्ण नाम-गुणलीलात्मक जो गान करते हैं, बंगाल में उसे ही कीर्तन कहते हैं।

बगाल मे इस कीर्तन-गान का विशेष प्रचार श्रीचैतन्यदेव के साथ हुआ। उनके द्वारा प्रचलित दलबद्ध रूप मे राधागोबिन्द के नामगान को ही नाम-कीर्तन कहा गया। परवर्तीकाल मे वैष्णव कवियों के काव्यगान को पदावली-कीर्तन या लीला-कीर्तन कहा गया।

पदावली-कीर्तन गान का प्रचार वैष्णवाचार्य श्रीनरोत्तम गोस्वामी ने किया। वे षोडश शताब्दी के आचार्य थे। वृन्दावन से लौटकर उन्होने राजशाही के अन्तर्गत खेतरी मे एक सम्मेलन का आयोजन किया। उस सम्मेलन में ही प्रथम बार प्रणालीबद्ध रूप से गौरचन्द्रिका गान के बाद लीलाकीर्तन या पदावलीकीर्तन की प्रथा का प्रवर्तन हुआ। उनके द्वारा प्रवर्तित उस लीलाकीर्तन गीतपद्धति का नाम दिया गया 'गडेर हाटि' (दुर्ग का पहाड़ी पथ) या गरानहाटि कीर्तन, क्योकि खेतरी ग्राम गडेरहाट परगना में अवस्थित है। इस गीतपद्धति का लय विलबित, दीर्घच्छन्द है। बाद मे मनोहरसाही नाम से कीर्तन गान की और एक पद्धति का उद्भव हुआ, इसका लय और छन्द अपेक्षाकृत सक्षिप्त है, 'सुर' (रागिनी) की कारीगरी और मात्रा की जटिलता में यह समृद्ध हैं। रेनेटि, मन्दारिणी, झारखडी नामक

और तीन पद्धतियो की बात भी सुनी जाती है। ढप नामक कीर्तन के और एक ढग के बारे मे कई लोग जानते हैं। सुना जाता है कि गत शताब्दी मे इसकी उत्पत्ति हुई। यह गान अन्यान्य पद्धति के कीर्तन की अपेक्षा सहज है एव इसका सहज माधुर्य है जिससे वह जनसाधारण को सहज ही आकृष्ट करती है, मुग्ध करती है।

गरानहाटि और मनोहरसाही कीर्तन की सृष्टि सगीत और काव्यरस के उच्चस्तरीय शिल्पियो द्वारा की गई। इन्होने कठोर साधना कर वैष्णव-काव्यरस पर अधिकार प्राप्त किया और निष्ठापूर्ण साधना द्वारा सगीत की विविध रागिनियो और तालो का ज्ञान प्राप्त किया था। यही कारण है कि उपरोक्त इन दो पद्धतियो मे गाई गई वैष्णव पदावली रागिनी और छन्द के ऐश्वर्य और वैचित्र्य से इतनी समृद्ध है एव कलाविद् कीर्तनियो की सहायता के बिना इस कीर्तन-गान का आनन्द ले पाना या उसका रस ग्रहण कर सकना असम्भव है।

पदावली-कीर्तन मे कथा की धारा कायम रखने के लिए या किसी पक्ति को सुन्दर ढग से प्रस्तुत करने के उद्देश्य से कीर्तनिये कथको के समान कभी असम छन्द मे और रागिनी मे या कथा की भगि मे जो कथाएँ कह जाते हैं, वह सब गीत-पद्धति का एक विशेष अग है। इस प्रकार कथा-रचना मे कीर्तनिये पूर्णतया स्वाधीन हैं। यहीं सगीत और काव्यरस के सम्बन्ध मे उनके गान का वास्तविक परिचय मिलता है। कीर्तन का 'आखर'नामक एक विशेष अग है। तान और आलाप मे शब्दहीन 'सुर' (रागिनी) का विस्तार न कर यह गान रागिनी मे शब्द का विस्तार खोल के साथ छन्द कायम रखकर करता है। इसे ही कहा जाता है 'आखर देना'। गुरुदेव ने आखर को कहा है 'कथार तान' (शब्द की तान—बोलतान)। कहा जाता है कि पदावलीकार वैष्णव कवि अपने गानो मे शब्द या आखर स्वतत्र रूप मे लिखते थे। इनकी रचना गायक कीर्तनिया करते हैं। जिस प्रकार उच्चाग हिन्दी गान मे उस्तादो को अपनी इच्छानुसार विविध स्वरसज्जा और छन्द के अलकारो की रचना का सुयोग है, उसी प्रकार कीर्तन के गायक शब्दो के अलकारो की रचना कर इस प्रकार का सुयोग प्राप्त करते हैं।

उच्चाग के कीर्तन में आखर या शब्द-विस्तार का प्राचुर्य था। ऐसा भी देखा जाता है कि मूलगान के शब्द की अपेक्षा आखर के शब्द कई गुना विस्तृत हैं। उच्चाग हिन्दी गान मे जिस प्रकार राग-विस्तार या राग-विहार की क्षमता के ऊपर ही गायक का सम्मान निर्भर करता है, ठीक उसी प्रकार जो कीर्तनिये आखर-रचना के द्वारा शब्द-विस्तार से श्रोताओ को प्रभावित कर सकते थे, उन्हे सम्मान मिलता था।

कीर्तन सगीत से अल्पशिक्षित जनसाधारण की सगीतक्षुधा मिटाने के लिए ढप कीर्तन की उत्पत्ति हुई। अत यह गान सुनकर जिस प्रकार सहज ही उसका रस ग्रहण किया जा सकता है, उसी प्रकार उसे सीखकर गाने मे भी सामान्य सगीतपिपासुओ को कष्ट नहीं होता। रिकार्ड, गीत-कीर्तन-सगीत मे हमे ढप कीर्तन का नमूना मिलता है। ढप कीर्तन मे सहज तालों यथा तीन मात्रा, चार मात्र, पॉच मात्रा और सात मात्रा के तेवडा ताल का अधिक व्यवहार होता है। बड़े तालो मे निबद्ध गान इसमे नही मिलते।

देशी सगीत के आदर्श से रचित होने के कारण ही कीर्तन में सम्भवत उच्चाग हिन्दी गान के समान राग-विस्तार या 'सुर'-विहार, तान, आलाप का सुयोग नही है। यद्यपि बडे ताल के कीर्तन गान के समय शब्द के साथ मिलाकर स्वरसज्जा को घसीटकर गाना पडता है, किन्तु वह बिलकुल ही स्वतंत्र वस्तु है। कहा जा सकता है कि ढप कीर्तन मे बडे ताल के कीर्तन के समान स्वर-कर्षण का गान नहीं है।

सुना जाता है कि पूर्वकाल मे पदावली कीर्तन में उच्चाग हिन्दी गान के समान राग-रागिनी का व्यवहार था। किन्तु आधुनिक कीर्तनियो के गानो मे उनका स्पष्ट परिचय नहीं मिलता। पदावली-कीर्तनिया जब गान करते हैं, तब कभी-कभी किसी-किसी रागिनी का आभास दिखाने का वे प्रयास करते है, किन्तु हिन्दी गान के समान उस रागिनी को पूरे गान के माध्यम से अन्त तक प्रस्फुटित करने का कोई प्रयास दिखाई नही देता। आखर गाते समय इस रागिनी मे निश्चय ही परिवर्तन हो जाता है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि इस युग के कीर्तनियो को राग-रागिनी का ठीक परिचय प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा नही मिली, इसीलिए वे राग-परिचय भूल गए हैं।

वर्तमान काल मे कीर्तन कहने से हम एक प्रकार के, कुछ विशिष्ट स्वरसज्जा के गान ही समझते हैं, जिसके साथ बगाल के ग्रामीण अंचल की धुनो का विशेष मेल मिलता है। इन धुनो को किसी भी प्रकार प्रचलित उच्चाग हिन्दी रागिनी की श्रेणी मे नहीं रखा जा सकता। इसीलिए बंगाली सगीतज्ञ इस 'सुर' (प्रतिमा विशेष, धुन विशेष) के गान के लिए साधारणतया 'कीर्तन का सुर' नाम का व्यवहार करते है। इस प्रकार 'सुर' अधिकतर सहज ताल के कीर्तन मे ही अधिक प्रचलित हैं।

मैंने पहले ही कहा है कि बंगाल मे कीर्तन गान कहने से खोल-करताल के सहयोग से विशेष ढग और 'सुर' के बगला-वैष्णवो के राधा-कृष्ण लीला विषयक भाक्तिरस के विशिष्ट गान ही समझा जाता है। किन्तु ई १८६७ मे साधक विजयकृष्ण गोस्वामी के प्रयासो के फलस्वरूप इस प्रकार के गानो को विषय के इस कठोर बन्धन से प्रथम बार मुक्ति मिली। उस समय वे ब्राह्मसमाज के एक उत्साही प्रचारक थे। उन्होने भक्ति और प्रेम के गानो को राधा-कृष्ण विषय से विच्युत कर निराकार ब्रह्म के प्रति भक्ति और प्रेम के कीर्तन ढग के गानो मे रूपान्तरित किया। इसके बाद ही ब्राह्मसमाज मे वैष्णवो के समान नगर-सकीर्तन शुरू हुआ। कुछ समय बाद व्यवसायी युग के प्रारम्भ से ही कीर्तन की पद्धति मे रगमचीय गानो की रचना होने लगी। इस प्रकार कीर्तन के 'सुर' (धुन विशेष) और ढग ब्राह्मसमाज और रगमच मे स्थान पा जाने से विषय की दृष्टि से वह अधिक विस्तृत हो गया। बाद मे कीर्तन के 'सुर' एव कायदे मे प्रेम और हँसी-ठट्ठा के गान भी रचे जाने लगे हैं। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि ब्राह्मसमाज या थिएटर (रंगमच) मे जिस ढग के कीर्तनो की रचना होने लगी, वे उच्चांग पदावली कीर्तन-गान के समान दुरूह नही, उनमें सहज कीर्तन का प्रभाव था।

गुरुदेव ने 'भानुसिहेर पदावली' मे राधा-कृष्ण के प्रेम को उपलक्ष्य रखकर पहली बार कीर्तन 'सुर' के गानो की रचना की थी। उसके बाद उन्होने कीर्तन 'सुर' मे लौकिक

प्रेम के गानो, आदि ब्राह्मसमाज के लिए उपयोगी उपासना गानो और एक-दो राष्ट्रीय सगीत की रचना की। इस प्रकार उन्होने धीरे-धीरे राधा-कृष्ण लीला-विषय के प्रभाव से अपने को मुक्त कर लिया। जीवन के शेषार्ध मे उन्होने कीर्तन 'सुर' मे प्रेम और धर्मसगीत के अलावा ऋतु सगीत की भी रचना की। किन्तु इन सब गानो को उन्होने मनोहरसाही या गरानहाटि पद्धति के समान बडे तालो के गान बनाना नहीं चाहा। गुरुदेव का लक्ष्य यह था कि सभी सहज धारा से कीर्तन का रस ग्रहण कर सके।

कीर्तन गान मे साधारणतया देखा जाता है कि गान विलबित लय मे शुरू होकर क्रमश उसका लय बढकर द्रुत हो जाता है या द्रुत लय के बजाय अन्य किसी ताल मे परिवर्तित हो जाता है। यहाँ भी एक प्रकार का तालफेर था। उस 'सुर' और लय मे शब्द सयोजित कर गायक को तो गाना पडता है। खोल के बोलो मे भी उसी के अनुसार क्रमश विलबित से द्रुत छन्द के अलंकार बजते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे गान बढता है जिससे गान पूरा करने मे काफी समय लगता है। इस प्रकार की गीत-पद्धति हमें गुरुदेव के कीर्तन-गानो मे नहीं मिलती। उन्होने भी सहज कीर्तन के तीन, चार, पॉच और सात मात्रा के सहज तालो का ही गानो मे व्यवहार किया।

मैने पहले ही उल्लेख किया है कि वैष्णव कवि अपनी कविताओ के लिए आखर (शुरू मे परिचयात्मक टीका) नहीं लिखते थे। १९वीं शताब्दी के शेषार्ध मे गीतकार कीर्तन के आदर्श से गान-रचना के साथ उसके आखर भी खुद लिखकर देने लगे। प्राचीन प्रथा के समान आखर रचना की स्वाधीनता वे गायको को देना नहीं चाहते थे। गुरुदेव ने भी अपने कीर्तन 'सुर' के गानो मे आखर रचना की स्वाधीनता गायको को नहीं दी। उन्होने अपने गान आखर-सह खुद ही लिखे। आखर दिए गए गानो की स्वल्पता से हम समझ सकते हैं कि आखर देकर गाने की इच्छा उनकी नहीं थी। जीवन के प्रथमार्ध मे कुछ गानो के लिए आखर-रचना की थी, किन्तु स्वर-सयोजन की दृष्टि से इन सब गानो मे किसी प्रकार के अपने शिल्पनैपुण्य का परिचय नहीं है। अधिकाश गान कई कलियो मे विभक्त है एव प्रथम दो कलियो के हूबहू अनुकरण से अन्य सब कलियो का स्वर-सयोजन किया है। ऐसे कुछ गान हैं—"नयन तोमारे पाय ना देखिते", "आमि जेनेशुने तबु भूले आछि," "ओहे जीवनवल्लभ", "के जानित तुमि डाकिबे", "आमि ससारे मन दियेछिनु" और "तुमि काछे नाइ बले हेर सखा ताइ"।

गुरुदेव ने अपने परवर्तीकाल के गीतसग्रह पुस्तक से "तुमि काछे नाइ बले" गान निकाल दिया था, सम्भवत अपरिपक्व रचना समझकर। तालिका देखने पर समझा जा सकता है कि ये गान धर्मसगीत-श्रेणी के गान है, राधा-कृष्ण विषयक नहीं। परवर्ती जीवन मे इस प्रकार के आखर दिए हुए गान उन्होने और नहीं लिखे। कई वर्ष बाद मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व, यानी ई १९३७ मे वर्षामगल के लिए रचित, "आमि श्रावण आकाशे ओइ" मल्लार रागिनी आधारित गान में इसका व्यतिक्रम दिखाई देता है। इसमे आखर जोडे गए हैं। इच्छा थी कि आखर-सह गान अनुष्ठान में गाया जाए, किन्तु वैसा नहीं हो सका। आखर समेत गान प्रस्तुति के समय पता चला कि अन्यान्य कीर्तन गान के आखर के समान मूल गान

के साथ ठीक मेल नहीं बैठ रहा है, आखर जैसे अपना स्वातत्र्य कायम रखने के लिए व्यग्र हैं। इसीलिए अन्य गानो के आखर के प्रति ममता न रखते हुए वर्षामगल-अनुष्ठान मे आखर का परित्याग कर मूल गान ही गाया गया था।

आखर आदि वर्जित, बाउल प्रभावयुक्त और गुरुदेव के शान्तिनिकेतन-जीवन मे जिनका सूत्रपात है, इस प्रकार के कीर्तनाग के गान को ही हम यथार्थ रावीन्द्रिक कीर्तन कहते हैं।

गुरुदेव के इन कीर्तन-गानो का ठीक ढग से अनुशीलन करने पर अप्रचलित देशी 'सुर' के कई अच्छे नमूने मिल जाते हैं, जो आज कीर्तनियो मे भी प्राय सुने नही जाते। अनुमान किया जाता है कि इन सब 'सुरो' (धुनो) का इगित उन्होने पूर्ववर्ती रचयिताओ के कीर्तन-गानो से ही पाया था। उन्होने उनमे कुछ का अपने गानो मे हूबहू अनुकरण किया, कुछ मे उस 'सुर' में सामान्य परिवर्तन कर उसे नए रूप मे सजाने का प्रयास किया।

१३१२ बगाब्द (ई १९०५) मे बगभग रद्द करने का आन्दोलन शुरू हुआ। गुरुदेव की आयु उस समय प्राय चवालीस (४४) वर्ष के आसपास थी। उन्होने पूर्व बगाल के बाउल-गायको के एक प्रकार के गान की धुनो मे कुछ गानो की रचना की। वे गान है

१ आमार सोनार बागला
२. ओ आमार देशेर माटि
३ ओरे, तोरा नेइ बा कथा बललि
४ घरे मुख मलिन देखे
५ छि छि, चोखेर जले
६ ये तोमाय छाडे छाडुक
७ ये तोरे पागल बले
८ यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे

साधारण लोकसगीत के समान तीन, चार या पॉच स्वरों के ये गान नही हैं। इनमें पूरे सात स्वरो का व्यवहार है एव बीच-बीच मे कोमल स्वरो का भी प्रयोग है। मन्द्र सप्तक की ओर जिस प्रकार यह गान उतरता है, उसी प्रकार तार सप्तक के दो-तीन स्वरो तक इसकी ऊर्ध्व गति है। उपरोक्त गान बगाल की अपनी धुनो में रचित हैं। इनमे अन्य किसी रूप का मिश्रण नहीं है। ये धुने सहज और सरल हैं। गम्भीर भारी धुन या ताल के ये गान नहीं हैं। इस स्वरसज्जा मे बसी के समान उदास कर देने वाली व्यथा से भरा आवेग है। कुछ गानो की भाषा और स्वरसज्जा का सामजस्य मन को आकृष्ट करता है। लोकसगीत का यही विशेषत्व है। गुरुदेव के इन गानो मे उस आदर्श का पालन हुआ है—यद्यपि ये जातीय सगीत हैं। यहॉ यह बता देना प्रयोजनीय है कि इस प्रकार की प्राचीन बाउल-धारा और 'सुर' के गान आज कम ही सुने जाते है। गत शताब्दी के अन्त मे बगाल 'बाउलखेदा' (बाउल को भगाना) आन्दोलन के कारण अच्छे-बुरे कई गान नष्ट हो गए।

इसके अलावा इस युग के थिएटर, यात्रा और रिकार्ड-सगीत का प्रभाव साधारण बाउल-गायको पर पडा और उससे भी इस विधा को क्षति पहुँची। उस युग के बाउल 'सुर' के गान आजकल सामान्यतया सुने नहीं जाते, फिर भी उस गान का विशुद्ध 'सुर' रूप गुरुदेव के कई गानो मे व्याप्त है।

बाउल-गायको के जीवनादर्श और उनके गानो की स्वरसज्जा और ढग ने गुरुदेव के जीवन को विशेष प्रभावित किया था, इस सम्बन्ध मे वे स्वय ही लिख गए हैं

"जिन्होने मेरा साहित्य पढा है, वे जानते हैं कि मैंने अपने अनेक प्रबन्धो मे बाउल पदावली के प्रति अपना अनुराग प्रकट किया है। जब मै शिलाइदह मे था, बाउल-दल के साथ सर्वदा ही मेरी मुलाकात और विचार-विमर्श होता था। मैंने अपने कई गानो मे बाउल का 'सुर' ग्रहण किया है एव कई गानो में अन्य राग-रागिनियो के साथ जाने-अनजाने बाउल 'सुर' का मिश्रण हुआ है। इससे पता चलेगा कि बाउल के 'सुर' और वाणी किसी समय मेरे मन मे सहज भाव से मिल गई है।

" मैंने ऐसे बाउल गान सुने हैं, भाषा की सरलता, भाव की गभीरता, 'सुर' के दरद मे जिसकी तुलना नहीं है उसमे जिस प्रकार ज्ञान का तत्त्व है उसी प्रकार काव्यरचना है, वैसा ही भक्ति रस उसमे ओतप्रोत है। विश्वास नहीं होता कि लोकसाहित्य मे ऐसी अपूर्वता और कहीं मिलती है।"

बाउल के आदर्श से रचित गान की आलोचना के पूर्व हमे जानना होगा कि बगाल का बाउल क्या है, और बाउल सगीत क्या है।

बाउल बगाल के मुक्तिपागल सगीतसाधक हैं। इनके जीवन मे 'सुर' ही प्राण है, 'सुर' ही आनन्द है, 'सुर' ही शब्द है, ये लोग 'सुर' के माध्यम से जीवन के मूल सत्य को समझने की कोशिश करते हैं।

ये लोग साम्प्रदायिक धर्म का पालन नहीं करते, इनमे हिन्दू, मुसलमान नहीं हैं। विधि-नियम, आचार-अनुष्ठान ये लोग नहीं मानते। शास्त्र के अनुशासन से ये नियन्त्रित नहीं हैं। कष्टसाध्य व्रत से भी ये सहमत नहीं है। इसीलिए बाउलो की साधना का नाम है 'सहजिया' साधना। इन्हें रसिक कहा जाता है, क्योकि ये रसोपलब्धि की साधना करते हैं, ये आनन्दरस के अनुयायी हैं। ये लोग प्रेम की साधना करते हैं, जिस प्रेम का उद्देश्य केवल अनुरक्ति, प्रीति है। इनकी प्रीति 'अधरा' (जिसे धारण, ग्रहण नहीं किया जा सकता या अपार्थिव, अमूर्त) के प्रति है। किन्तु इस 'अधरा' को वे रूप के जगत् की सहायता से प्राप्त करना चाहते हैं। इसीलिए वे कहते हैं कि 'अधरा' की उपलब्धि के लिए 'धरा' (पृथिवी जगत्) का साथ करना चाहिए धरा के जगत्, रूप के जगत् के आनन्द को पहले समझने का प्रयास करो, तभी 'अधरा' की उपलब्धि कर सकोगे, तभी 'अधरा' के प्रति तुम्हारी अनुरक्ति सार्थक होगी। यह 'अधरा' ही है अन्य भाषा में 'मनेर मानुष' (आत्मज्ञ पुरुष, मन के मीत, अन्तर्यामी—'अन्तरतरं यदयमात्मा')। इस 'मनेर मानुष' के प्रति भक्ति, श्रद्धा, पूजा का भाव बिलकुल नहीं है; बन्धु, सखाभाव के साथ भी पूर्ण मेल नहीं है, यद्यपि वह उसके निकट है। विरहकातर प्रेमिक-प्रेमिका के प्रेम के साथ इनके प्रेम का तत्त्व मिलता है, किन्तु

उसमे मिलन जैसी कोई बात नही है। मिलन होने पर क्या होगा, क्या करेगे, इस बारे मे सोचने का उनके पास अवसर ही नहीं है। यह सम्प्रदाय इतना प्रेमपागल है। इनका कहना है कि इस 'मनेर मानुष' अधरा का स्थान इस देह मे है—इसमे ही वह विद्यमान है, हम मूर्ख के समान भ्रम मे पडकर बाहर ढूँढ रहे है। अर्थात् हम उसे बाहर की वस्तु मानकर विविध प्रकार के आचार-विचार, प्रक्रिया की सहायता से उसे प्राप्त करना चाह रहे हैं। किन्तु वह 'अधरा', वह 'प्राणेर मानुष' हमारे अन्तर मे ही ओतप्रोत रूप से जुडा हुआ हैं। इस प्रकार अनुभूति की सहायता से उन्हे जानना इस सम्प्रदाय के लोगो का मूल सिद्धान्त है।

यह साधना गुरुपरम्परा की साधना है, इसीलिए ये लोग मानते है कि इस साधना मे अग्रसर होने के लिए गुरु ही प्रधान अवलम्बन है। गुरु के अलावा अन्य कोई इस पथ पर अग्रसर होने का मार्ग दिखा नहीं सकता। इसीलिए इन्होने अपनी साधना मे गुरु को विशेष स्थान दिया है। कभी-कभी वे ऐसा भी कहते हैं कि 'अधरा' की उपलब्धि के लिए 'धरा' का साथ करना होगा, अत वह 'धरा' ही हुई गुरु। और इस गुरु के श्रीचरणो की पूजा से ही अधरा का सन्धान मिल सकता है। इस प्रकार गुरुवाद का बडा कारण यह है, लिखे-पढे न होने की वजह से गुरु ही बाउलों के लिए वास्तव मे शास्त्र है। पडित, ज्ञानी ग्रन्थो का अध्ययन कर मन की क्षुधा मिटा सकते हैं, किन्तु अशिक्षितो के लिए ऐसा सम्भव नहीं है। यह सम्प्रदाय लिखने-पढने वाला सम्प्रदाय नहीं है अत इनके गुरु भी कुछ लिखने मे समर्थ नही, उनके ज्ञान की बात, गूढ तत्त्व की बातं केवल गान की भाषा मे ही वे बोलते रहे हैं। इसीलिए मैंने कहा है कि उनके सम्प्रदाय के लिए गुरु ही लिखित धार्मिक पुस्तको के समान हैं, जिस कारण हिन्दुओ के लिए वेद, ईसाइयो के लिए बाइबल, मुसलमानो के लिए कुरान और सिखो के ग्रन्थ साहब अपने-अपने सम्प्रदाय के ईश्वर-समतुल्य पूजा-ग्रन्थ हो गए हैं।

आजकल हम साधारणत उन्हें किस रूप मे देखते हैं। मुँह पर दाढी-मूँछ, लम्बे बाल, सिर पर जूडा बँधा हुआ, शरीर पर साधारणतया हाथकटा लम्बा जब्बा जानु के कुछ नीचे तक झूलता हुआ। भिक्षाजीवी। गान सुनकर जनसाधारण जो कुछ दे देते हैं उसी मे वे खुश हैं। जो गीतवाद्य अनुशीलनस्थल के प्रमुख (आखडाधिपति) गुरु स्थानीय है, वे अपने स्थल को छोडकर अधिकतर बाहर नही निकलते। पूर्वबगाल के प्रसिद्ध बाउलों मे ऐसे अनेक थे जो शारीरिक परिश्रम द्वारा अपने जीविकोपार्जन की व्यवस्था करते थे। गगन हरकरा गुरुदेव का चाकर था, लालन फकीर की पान की थोक दुकान थी और उनके गुरु पालकी-वाहक थे। बाउल स्त्री-पुत्र के साथ निवास करते हैं, गृहस्थी भी बसाते हैं, किन्तु ये जैसे हँस के समान हैं। जल मे डुबकी लगाते हुए भी जल इनकी देह को भिगो नहीं सकता। वे जिस प्रकार घर बसाते है, उसी प्रकार किसी भी क्षण गृहस्थी समाप्त करने मे भी उतने ही दक्ष हैं। ऐसे आत्मविस्मृत लोग ये हैं।

पडितो के मतानुसार कहा जाता है कि इस प्रकार की साधना की धारा भारत की अत्यन्त प्राचीन प्रथा है। कहा जाता है कि वैदिक युग मे भी इस प्रकार के एक सम्प्रदाय

का अस्तित्व था, उस सम्प्रदाय के लोग भी आचार-विचार नहीं जानते थे, अपनी इच्छा से ही चलते थे। कहा जाता है कि इसके बाद नाथयोगी का भी इस प्रकार का आत्मविस्मृत एव त्यागी सम्प्रदाय था। कहा जाता है कि भाव की दृष्टि से बौद्धगान और दोहा के साथ भी बाउलो के गान का काफी सादृश्य है। उस युग की बौद्ध सहजिया-साधना के साथ बाउलो की सहजिया-साधना का मेल कई लोगो ने अनुभव किया है। इसके अलावा सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मुसलमान युग के सूफियो ने इनकी चिन्तनधारा और जीवनयात्रा-प्रणाली को विशेष रूप परिचालित किया है। तात्रिक युग के बौद्ध यद्यपि मुसलमान-सभ्यता के दबाव से मुसलमान हो गए, किन्तु वे तात्रिक बौद्धो के कई प्रकार के विन्यास को छोड नहीं सके। उस साधना की कई प्रकार की गुप्त प्रक्रियाओ को अपनी इस साधना का अग बना लिया है। पडितो का यह भी विश्वास है कि ·ाग्म के सूफियो मे इस अचल के प्राचीन बौद्ध मत का प्रभाव फैला था। ऐसा न होने पर गुरुवाद मे विश्वास करना और इस्लाम नीति-विरोधी नाच-गान को साधना के अग रूप मे ग्रहण करना उनके लिए सम्भव नहीं होता। जो भी हो, भारत मे इस प्रकार सूफी और बौद्ध भावापन्न हिन्दूसाधना के सम्मिश्रण से हमने बाउल नामक एक विशेष सम्प्रदाय पाया है।

जब सभी धर्ममत मूल आदर्श से च्युत हो जाने हैं, तब उनसे कई प्रकार के मतवाद और दल की सृष्टि होती है। इन बाउलो मे भी ऐसा ही हुआ था। इसी के फलस्वरूप आउल, नेडानेडा-दल, कर्ताबजा-दल, वैष्णव-बाउल या फकीर इत्यादि का आविर्भाव हुआ। बाउल गान पर भी यह दलगत प्रभाव काफी पडा। इसका बडा उदाहरण पश्चिम बगाल मे बाउलो के राधा-कृष्ण प्रेम के गानो, गौरनिताई विषयक भक्ति के गानो मे मिला है।

इनमे प्रचलित गुप्त साधनप्रणाली मैंने देखी नहीं और मैं जानता भी नहीं। किन्तु जब ये गान की भाषा मे आपस मे भावो का आदान-प्रदान करने मे विभोर हो जाते हैं, उस समय के वातावरण मे मैने घटो बिताए हैं। मैने देखा है कि ये दल बनाकर गोलाकार मे बैठ जाते हैं, बीच में काफी बडी जगह रहती है। प्राय प्रत्येक के हाथ मे एकतारा रहता है, किन्तु यह एकतारा पश्चिम भारत के भजन-गायको का एकतारा नहीं है, पश्चिम के एकतारा को तानपुरा का छोटा सस्करण कहा जा सकता है। तानपुरे के चार तार के बदले इस पर एक तार या दो तार रहते हैं। बगाल के बाउलो मे प्रचलित एकतारा पूर्णतया भिन्न है एव मेरा व्यक्तिगत मत यह है कि पश्चिम बगाल अचल के बाउलो का एकतारा सम्पूर्ण रूप से बगाल की निजस्व वस्तु है। बंगाल के बाउलो का यह एकतारा मात्र उनके हाथो मे ही देखा जाता है, भारत के अन्य किसी प्रदेश मे यह दिखाई नहीं देता।

इस एकतारा के बॉस के दो पतले दाण्डो मे से किसी एक डॉड को एक हाथ मे दबाकर दूसरे हाथ की द्वितीय अंगुली से गान के छन्द-छन्द पर आघात कर तार झंकृत किया जाता है। तुम्बे का अंश कान के पास ले जाकर एकतारा बजाते हुए देखा गया है। इसका एक प्रधान कारण यह है कि तुम्बे के भीतर से एकतारा की झकार जिस प्रकार कान में विशेष रूप से सुनी जा सकती है, वैसी अन्य किसी उपाय से सुनी नहीं जा सकती। तब ऐसा लगता है जैसे ससार विराट् 'सुर' मे डूबा हुआ है।

कमर पर एक छोटा बायाँ बँधा रहता है, जो सामने की ओर थोडा झुका रहता है, कमर और बाएँ कँधे से फीते से झूलते वस्त्र के छोर से वह मजबूती से बाँधा रहता है। गान के साथ मेल बिठाते हुए मात्र बाएँ हाथ से बाएँ के ऊपर विविध प्रकार के बोलो से छन्द-प्रदर्शन करना होता है। बगाल के इस दल के बाउलो का बहुत बडा गुण है बाएँ हाथ से बाएँ के ऊपर ताल देना, दाएँ हाथ की एक अगुली से एकतारा पर ताल-ताल पर तार झकृत करना, पाँव मे कास्य नूपुर के शब्द के साथ नृत्य करना और साथ ही गायन करना। इस प्रकार स्वावलम्बन की इन बाउलो की क्षमता आश्चर्यजनक है। मेरे मत से बाउलो का यह विशेषत्व भी बगाल का एक निजस्व विशेष गुण है।

बाउल का नाच एक प्रकार का पाँचाली (पाँचाली रीति मे रचित गीत विशेष, पाँच-छ समासो से युक्त कातिपूर्ण पदावली) नाच है। किसी एक विशेष रीति मे बँधा नाच यह नहीं है, यानी यह विविध रगी है। बाउल ने जहाँ भी जैसा भी नृत्य-छन्द पाया, उसी को उसने सहज रूप मे ग्रहण कर लिया। जहाँ तक विदित हो सका है, किसी प्रकार के प्रयास से प्राप्त किसी नृत्य रूप को ये लोग पसन्द नहीं करते। गायन की रीति मे जितने प्रकार के छन्द इन्होने पाए हैं, उन्हीं को नृत्य मे रूप प्रदान करने की चेष्टा से ही इनके नाच का उद्भव है, उसी मे वैचित्र्य और उत्कर्ष निहित है। जिन्हें नाचना अच्छा लगा है वे नाचते हैं, जिन्हे यह अच्छा नहीं लगता वे नहीं नाचते। गान के आनन्द को एक साथ गायन और नृत्य मे प्रस्फुटित करने की इनकी आकाक्षा से ही इस नाच का उद्भव है। उनका गान और नाच देखकर ऐसा नही लगता कि यह सूफी दरवेशो की 'समा' की प्रेमोन्मत्तता है। जब वे भक्त दरदी या मरमियो का 'संग' करते हैं तब उनकी आलाप-आलोचना की भाषा होती है गान। तब गायन करते या गायन सुनते उन्हे जो आनन्द अनुभव होता है, वह आनन्द ही उनके नाच के लिए मूल प्रेरणा है—यह प्रेमोन्माद से बाह्यज्ञानशून्य हो जाना नहीं है।

बाउल गान की धुन मे हमे दो भाग मिलते हैं। साधारण नियम से इस गान मे कितनी ही कलियाँ क्यो न हो, 'सुर' (धुन) पार्थक्य केवल प्रथम और द्वितीय कलि मे देखा जाता है। बाद की सभी कलियो का 'सुर' द्वितीय कलि का अनुसरण कर ही चलता है एव प्रथम कलि को छोडकर अन्यान्य सभी कलियो का छन्द भी एक ही है।

मैंने अन्यत्र कहा है कि जमींदारी के समय ग्रामाचल मे रहने के दौरान गुरुदेव वहाँ के वैरागियो और बाउलो के गानो के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे और उन गानो ने उनकी रचना को प्रेरणा दी। उनके उन सहज सरल प्राण-मुग्धकारी गानो के माध्यम से उन्होने जिस आनन्द का सन्धान पाया था, वह उनके जीवन मे चिरदिन के सम्पद स्वरूप रहा था। उन्होंने वहाँ संभवत और भी कई प्रकार के गान सुने थे, किन्तु इन गानो के समान इन अन्य गानो ने उनके मन को इतने गभीर रूप से आकृष्ट नहीं किया। इस अचल के 'सुरों' (धुनो) में एक अविमिश्र निजस्व रूप था, जो वहाँ के प्राण का 'सुर' था।

सम्पूर्ण लोकसगीत की भाषा सब समय सहज पल्लीप्राण की भाषा होगी। जिन लोगो के मुख से ये गान भाषा व 'सुर' द्वारा नि सृत होते है, वे चिरकाल से ही इस युग की

शिक्षा के आदर्श मे शिक्षित नहीं, इसीलिए उनके गानो मे कभी उच्च श्रेणी की साहित्यिक भाषा का स्पर्श नहीं रहता। विशुद्ध बाउल और अन्यान्य पल्लीगानो मे राष्ट्रीय सगीत के समान उद्दीपन की वाणी नहीं रहती। इनका आदर्श पूर्णतया विपरीत है। इनके गान सर्वदा एक विशेष उन्माद के भाव के अवलम्बन से गठित है। कभी किसी अन्य भाव के साथ इस 'सुर' के मिलने का प्रयोजन नहीं रहता, क्योकि ये एक ही भाव के भावुक है। गुरुदेव ने ही पहली बार बाउल गान की इस धारा मे परिवर्तन किया है। स्वदेशी युग की प्रेरणा से इस गान के 'सुर' का अनुकरण कर उपरोक्त राष्ट्रीय सगीत की रचना कर उन्होने बगाल की गान-परम्परा के लिए एक नया मार्ग उद्घाटित कर दिया। इस समय के राष्ट्रीय संगीत मे हम आशा-उद्दीपन की वाणी पाते है, जो शब्द, छन्द, भाव की बलिष्ठता से भरपूर है। प्रचलित सहज भाषा मे रचित जातीय सगीत के साथ बाउल और अन्यान्य पल्लीगान का 'सुर' और ढग सुन्दर ढग से सामजस्य रखता है। इस दृष्टि से उन्हे पथप्रदर्शक कहा जाता है। मैने पहले ही कहा है कि १९वी शताब्दी मे रूमानी आन्दोलन के युग मे यूरोप मे एक प्रकार के स्वादेशिकता-बोध का उन्मेष हुआ। उस समय कइयो का ग्रामसस्कृति के प्रति विशेष आग्रह दिखाई दिया। उस प्रेरणा से कई बडे-बडे स्रष्टाओ ने अपनी सृष्टि के कार्य मे ग्रामो से सहायता ली। यूरोप के विराट् आधुनिक वाद्ययत्र सगीत सिम्फनी के प्रवर्तक हैडन (HAYDN) ने, जिन्हे "father of modern symphony" कहा जाता है, उस सगीत के लिए अपने देश मे उस समय प्रचलित लोकसगीत की कई धुने एकत्र कीं और उसके साथ प्राचीन उच्च श्रेणी की सगीत-पद्धति का मिश्रण किया। अनुमान किया जाता है कि इसी प्रकार की कोई प्रेरणा सभवत गुरुदेव को उस समय बगाल के पल्लीगान की धुनो और ढग से मिली और इसने उन्हे जातीय सगीत की रचना के लिए प्रोत्साहित किया।

स्वदेशी युग की प्रेरणा ने उनके गान के लिए नया उत्स खोल दिया था, जिसकी धारा वैचित्र्य के साथ शेष जीवन तक प्रवाहित रही। ऋतुसगीत, जातीय सगीत, प्रेमसगीत, पूजा व धर्मसगीत, यहाँ तक कि गीत-नाट्य मे भी यह 'सुर' और ढग अत्यन्त सहज भाव से, सुन्दर ढग से शोभन लगा है। पुन विशुद्ध बाउल तत्त्वादर्श से रचित उनके बाउल गान इतने सुन्दर बन पडे हैं कि भाव, भाषा एव 'सुर' (धुन) के सम्मिलन से सभी गान किसी भी श्रेष्ठ बाउल गान की श्रेणी मे स्थान ग्रहण कर सकते हैं, जैसे "आमि तारेइ खूँजे बेडाइ" और "आमि कान पेते रइ"।

गुरुदेव की कलम से बाउलों के गानो का ढंग अपेक्षाकृत सकीर्ण सीमा से ऊपर उठकर इस प्रकार बडा और विविधागी हो उठा है। उनके बाउल 'सुर' के कई गान ध्रुपद के समान चार अशो के हैं। स्थायी, अन्तरा और संचारी मे स्वरसज्जा का वैचित्र्य है और आभोग ठीक ध्रुपद के समान अन्तरे का अनुसरण करता है। अधिकाश गानो मे संचारी की स्वरसज्जा गुरुदेव की नवीन सृष्टि है। उन्होंने बाउलों के 'सुर' की गठन-प्रणाली के साथ मेल रख कर ही इनकी रचना की थी। इस कार्य मे गुरुदेव को कई बार प्राचीन राग-रागिनियो और कीर्तन की धुनो की सहायता लेनी पडी है। बाउल का वैशिष्ट्य भी उसमे है, किन्तु

गानो की स्वरसज्जा मे वैचित्र्य की सृष्टि हुई है। उनके बाउल-गानो मे राग-रागिनियो का मिश्रण हुआ है, किन्तु बाउल-धुन के साथ उनका अद्‌भुत सामजस्य है। नमूने के तौर पर मै कुछ गानो का उल्लेख करता हूँ

'वज्रमानिक दिये गॉथा, आषाढ, तोमार माला' गान के सचारी यानी तृतीय अश मे जो स्वर-सयोजन है, उसमे देश रागिनी का रूप मिलता है। 'आमि तारेइ जानि तारेइ जानि आमाय जे-जन आपन जाने' गान के सचारी मे पीलू रागिनी का सयोजन है। 'रागिये दिये जाओ जाओ गो एबार याबार आगे' गान गुरुदेव के बाउल 'सुर' के गान का एक उत्कृष्ट निदर्शन है। बाउल 'सुर' के साथ पीलू रागिनी इसमे भी मिश्रित हुई है, किन्तु ध्रुपद नियमानुयायी चार-भागो मे यह 'सुर' (स्वरसज्जा) गठित नहीं है। गान बाउल 'सुर' मे आरम्भ हुआ है, किन्तु गान किसी विशेष सुनिर्दिष्ट भाव से विभक्त नहीं है, अत स्वर-सयोजन भी किसी निर्धारित नियमानुसार नहीं हुआ है, दो रागिनियॉ एक-दूसरे के साथ सश्लिष्ट हैं। गान के शब्दो के साथ जिस प्रकार स्वर-सयोजन आवश्यक समझा गया, उसी रूप मे स्वरो ने अपने स्थान बनाए हैं। गान के प्रथम अश मे जिस वेदना की अभिव्यक्ति होती है, 'सुर' भी उसी के अनुकूल सयोजित है एव शेष अश मे जहॉ उन्मत्त भाव की अभिव्यजना शब्दों से हुई है, वे स्वर भी इसी भाव को उभारने मे सहायक हुए हैं।

बाउलो का प्रधान लक्ष्य रहा शब्दो की छन्दोबद्ध सहज गति। इसीलिए अन्यान्य लोकसगीत की तुलना मे बाउलगान छन्दोबहुल हैं। इसका एकमात्र कारण सम्भवत बाउलो का नृत्य-आवेग है। भावो के आवेग से जब वे नाच उठते है, तब उस उन्मत्तता के लिए उस प्रकार के छन्द का प्रयोजन होता है। जिस छन्द को मनुष्य ने सहज ही स्वत पाया है, वही सहज छन्द बाउलो का एकमात्र लक्ष्य है। सहज भाषा और सहज धुन के गान का छन्द भी सहज होना वाछनीय है। इसीलिए बाउलो के गान में हम तीन मात्रा के दादरा या कभी चार मात्रा के कहरवा जाति के छन्द का परिचय पाते हैं। इसी कारण गुरुदेव ने ताल की दृष्टि से बाउल गान में कुछ नवसृष्टि का प्रयोजन अनुभव नहीं किया।

१३१२ बगाब्द (ई १९०५) के स्वदेशी आन्दोलन के युग मे पूर्वबगाल के सारि गान की धुन मे रचित एक जातीय सगीत हमे मिलता है। वह गान है "एबार तोर मरा गागे बान एसेछे"। सारि गान की धुन में बाद में अधिक गानो की रचना उन्होने नहीं की। परवर्ती काल की रचनाओ मे दो गान—"वसन्ते कि शुधु केवल फोटा फूलेर मेला" और "धानेर क्षेते रौद्रछायाय" सुपरिचित हैं। "आज धानेर क्षेते" गान की सहायता से ही गुरुदेव ने अपनी ४७ वर्ष की आयु मे सारि गान को ऋतु-सगीत मे परिणत किया।

बाउल, सारिगान और भटियाली मे कई लोगो को पार्थक्य अनुभव नहीं होता, किन्तु असल मे स्थिति ऐसी नहीं है। इनका स्वरविन्यास प्राय एक ही है, किन्तु छन्द की गति में ये अलग हैं। भटियाली गान को लम्बा खींचकर या घर्षण से गाना होता है, इसीलिए उसका छन्द अत्यन्त विलम्बित लय का है। निर्धारित छन्द का ताल प्राय. रहता ही नहीं। सारिगान की उत्पत्ति पूर्व बंग की नौकादौड के खेल से है, इसीलिए यह गान छन्द प्रधान है एव सारि गान के प्रभाव से रचित गुरुदेव के सभी गान चार मात्रा के द्रुत छन्द

मे निबद्ध है। स्वदेशी युग मे गुरुदेव द्वारा रचित बाउल धुन के सभी गानो मे तीन मात्रा का छन्द है।

पश्चिम बगाल के बाउलो मे पूर्वबगाल के बाउलो के 'सुर' भटियाली 'सुर' या सारि गान के 'सुर' सुनाई नहीं देते। यहाँ के गानो पर यात्रा-प्रभावित राग-रागिनी की छाप अधिक है। किन्तु कुछ ऐसे 'सुर' सुने गए हैं जिनकी स्वरगठन-प्रणाली पूर्वबगाल के बाउल, भटियाली और सारि गान की समगोत्रीय है।

बगाल के निजस्व 'सुर' और ढग मे रचित गुरुदेव की एक नवीन गान-सृष्टि परिलक्षित होती है जिसे हम रावीन्द्रिक कीर्तन या रावीन्द्रिक बाउल कहते हैं। अर्थात् वे गान, जो आखर आदि वर्जित हैं, बाउल प्रभावयुक्त हैं और गुरुदेव के शान्तिनिकेतन-जीवन मे जिनका सूत्रपात है। वास्तव मे ये कीर्तन और पूर्वबगाल के बाउल के 'सुर' के मिश्रण से उद्भूत एक विशेष 'सुर' (स्वरसज्जा, प्रतिमा) के गान हैं। जीवन के शेषार्ध मे ही इस प्रकार के गानो की सर्वाधिक रचना उन्होने की है। इन गानो मे बाउल और सारि गान के समान जलद (द्रुत) लय का छन्द मिलेगा, किन्तु वे बाउल के समान केवल चार या तीन मात्रा के छन्द के ताल मे निबद्ध नहीं, इनमे तेवडा (७ मात्रा), झपताल का भी व्यवहार हुआ है। किन्तु त्रिताल, चौताल, धमार, आडाचौताल, सूलफॉक्ता आदि उच्चाग सगीत के तालो का प्रयोग इन गानो मे बिलकुल नहीं है। इस प्रकार के गानो के कुछ नमूने यहाँ दिए जा रहे हैं

१	ओरा अकारणे चचल	चार मात्रा का छन्द।
२	आमार की वेदना से कि जानो	तीन मात्रा का छन्द।
३	येते येते चाय ना येते	झपताल का छन्द।
४	लहो लहो तुले लहो	तेवडा ताल का छन्द।

हिन्दी मार्ग-संगीत के प्रभाव से रचित एक सम्पूर्ण नवीन ढग का कीर्तन गान है। यहाँ ध्रुपद के समान चार कलियॉ हैं एव स्वरसज्जा मे भी ध्रुपद के समान भाग दिखाई देते हैं। ५४ वर्ष की आयु मे रचित गान—"एइ तो भालो लेगेछिल" बाउल-कीर्तन मिश्रित 'सुर' का एक अपूर्व निदर्शन है। इतने बडे गान के साथ देशी 'सुर' बडे सहज भाव से मिल गया है। 'सुर' की पुनरुक्ति नहीं है। इस प्रकार की रचना का नमूना पहले नहीं मिलता।

विषय-वैचित्र्य की दृष्टि से इसके पूर्व रचित देशी धुन के गानो मे धर्म-सगीत की सख्या सर्वाधिक है, उसके बाद जातीय सगीत और मानविक प्रेम के गान हैं। ऋतु-विषयक गान मात्र एक-दो है। किन्तु इस समय से ऋतु सगीत को जिस प्रकार प्राधान्य मिलने लगा, उसी क्रम से इसी 'सुर' मे रचित जातीय सगीत की रचना बन्द हो गई। जीवन के आरम्भिक काल मे रामप्रसादी 'सुर' के कुछ गान मिलते हैं, किन्तु शेषार्ध में उस 'सुर' मे एक गान की रचना करते भी नहीं देखा गया। आरम्भ मे कीर्तन की विभिन्न धुनो और ढग के अनुसरण से कुछ गान लिखे गए किन्तु परवर्ती काल में इस प्रकार की रचना दिखाई

नहीं दी। बाद मे नवीन ढग के देशी, मिश्र 'सुर' के गान रचित हुए। जैसे—"आजि ए निराला कुजे", "पुरानो जानिया चेयो ना", "रोदनभरा ए वसन्त" इत्यादि गान। "गहनकुसुमकुजमाझे"या "एकबार तोरा मा बलिया डाक"—इन दो गानो मे जिस प्रकार प्रचलित कीर्तन 'सुर' सुनाई देता है, ठीक इसी 'सुर' के गानो की रचना उन्होने और नहीं की। इन दो गानो के 'सुर' (रागिनी) का नाम है झिझोटी। किन्तु उच्चाग हिन्दी गान की प्रचलित रागिनी झिझोटी के साथ इस कीर्तन के 'सुर' का अधिक मेल नहीं दिखाई देता, जैसे हिन्दी गान की रागिनी झिझोटी के अनुसरण से गुरुदेव द्वारा रचित गान है—"तोमारि मधुर रूपे"। इसके साथ तुलना करने पर मेरी बात की सार्थकता का पता चल जाएगा।

जीवन के शेष २५ वर्षो मे बाउल, कीर्तन या अन्य देशी गान के अनुकरण से गानो की रचना करते नहीं देखा गया। अर्थात् स्थायी के बाद अन्य कलियो मे एक ही प्रकार के स्वर-सयोजन को वे पसन्द नहीं करते थे। ध्रुपद के समान रागिनी को चार भागो मे सजाकर कविता के भिन्न अशो मे देशी धुन और उच्चाग राग-रागिनी को साथ-साथ रखकर स्वर-संयोजन करने की चेष्टा की है। इसका ही एक उत्कृष्ट निदर्शन है, पूर्व उल्लिखित गान—"कृष्णकलि आमि तारेइ बलि"। किन्तु गान निबद्ध छन्द मे गाने का नही, बल्कि इसे शब्द के अनुकरण से छन्द मे गाया जाता है।

कई व्यक्तियो के मन मे यह प्रश्न उठ सकता है कि आरम्भ मे मैंने गुरुदेव के जीवन के प्रथमार्ध मे रचित देशी 'सुर' के गानो की तालिका मे विभास रागिनी के कुछ गानो को स्थान क्यो दिया है। पूर्व और पश्चिम बगाल के कई प्रकार के गान सुनकर यह समझा जा सकता है कि बगाल का विभास इस अचल का ही 'सुर' (रागिनी) है। पल्ली अचल मे विभास 'सुर' ऐसे अपने विशिष्ट रूप मे अभिव्यक्त हुआ कि उसे पल्लीगान् का सुर होना मान लेने का भ्रम होना स्वाभाविक है। पश्चिम के उस्ताद बगाल के इस विभास से परिचित नहीं है, इसीलिए पडित भातखडे जिसे विभास कहते हैं वह पूर्णतया अलग है। उनके मत से बगाल का विभास और देशकार रागिनी एक ही है।

बंगाल की विभास रागिनी की जाति औडव-षाडव है। आरोहण मे मध्यम और निषाद वर्जित हैं तथा अवरोहण मे मध्यम वर्जित है। राग की मूल गति है—सा रे ग प ध सा नि ध प ग रे सा। प्रचलित स्वरविन्यास इस प्रकार है—सारेगपध, पधनिध, पधपनिध, पगरे, सारगेगरेसा, सारे, रेग, गप, पध, धसा, निध, पधसा, निध, पसानिध, पगरे, सारेगरेसा। भातखंडे ने कहा है कि इस रागिनी मे रे और ध कोमल होगे। बगाल के विभास मे सभी स्वर शुद्ध है।

गुरुदेव के कुछ गानो को विभास रागिनी के गान कहा जाता है, किन्तु इनकी स्वरसज्जा मे बंगाल के पल्ली अचल की धुन की ऐसी छाप है कि इसे रागिनी-सगीत बताकर अलग नहीं रखा जा सकता, यथा, मिश्र विभास मे उनके दो गान—"हृदयेर ए कूल ओ कूल" और "ओलो सइ, आमार इच्छा करे"। दूसरी ओर उस्तादी शैली मे रचित विभास रागिनी व चौताल का गान—"ओठो ओठो रे—बिफले प्रभात बहे जाय रे" पल्ली अचल का गान

नहीं लगेगा। परवर्ती काल मे गुरुदेव ने बगाल की विभास रागिनी मे और कई गानो की रचना की है। उस्तादी शैली मे रचित न होने से कई गुणी स्वभावत ऐसा मानेगे कि ये बाउल या इसी प्रकार की किसी पल्ली धुन के गान है। इसके कुछ नमूने है—"डाक्ब ना, अमन करे बाइरे थेके", "ए बेला डाक पडेछे", "निशिदिन भरसा राखिस" और "मेघेर कोले रोद हेसेछे"। इन्हे कई बार गलती से बाउल गान मे पाई जाने वाली धुने माना जाता है, किन्तु ये गान बगाल के देशी विभास के गान है, जिन्होने उच्च-निम्न सभी श्रेणियो के गायको मे स्थान बना लिया है।

बगाल के निजस्व देशी 'सुर' की प्रेरणा से गुरुदेव द्वारा रचित गानो की सख्या लगभग दो सौ है। सख्या की दृष्टि से अनुमान किया जाता है कि इस प्रकार के गानो मे बगाली सुरकारो मे वे अग्रणी हैं। स्वरसज्जा और भावो के वैचित्र्य मे भी गुरुदेव सबसे आगे निकल गए है। रवीन्द्रकीर्तन या रवीन्द्रबाउल नाम से जो 'सुर' इन गानो के माध्यम से हमे आज मिलते है, नियमो के बन्धन के अन्तर्गत रखकर उन्हे अन्यान्य रागिनियो के समान नाम दिए जा सकते हैं, किन्तु यह कार्य गुणी सगीत-पडितो का है।

उनके गानो की इस समीक्षा से यह बात समझ मे आती है कि बगला गान के जडत्व की सम्भावना दूर करने के पथ पर अग्रसर होकर उन्होने नवसृष्टि का मार्ग दिखाया है। गुरुदेव के अलावा उनके समसामयिक अन्य रचयिताओ मे किसी-किसी ने इन देशी 'सुरो' (धुनो) मे गानो की रचना की है, किन्तु उनमे गुरुदेव के समान इतना वैचित्र्य और प्राचुर्य नही था। इस युग मे गीत-रचयिताओ मे जिन्होने लोकसगीत की धुनो के आधार पर गानो की रचना की है, उनमे अधिकाश जन 'सुर' और भाव की दृष्टि से अनुकरणकारी ही रहे। किन्तु आशा है कि जब इस दिशा मे प्रयास किए जा रहे हैं तो सम्भवत भविष्य मे कोई सशक्त रचयिता इस क्षेत्र मे सक्रिय होगा और गुरुदेव के समान नवीन पथ पर सफलमनोरथ होगा।

गान का विषयवैचित्र्य और कलिविभाग

बगाल मे गत दो सौ वर्षो मे गीतकार के रूप मे जो विख्यात हुए है, उनमे से प्रत्येक की रचनाओ पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने पर पता चलेगा कि उनके गानो मे विषयवैचित्र्य का अभाव है। वे प्राय सभी एक-दो विषयो को लेकर ही गानो की रचना कर गए है। वे सम्भवत किसी एक विषय के गानो की रचना मे सफल हुए है, अन्य विषय के गानो मे उन्हे सफलता नहीं मिली। जैसे, प्रेम के गानो की रचना मे जो विख्यात हुए है, भगवद्भक्ति या पूजा के उनके गान वैसे जम नहीं सके। पूजा के गानो की रचना मे जिन्होने दक्षता का परिचय दिया, प्रेम के गानो मे उनकी वैसी दक्षता प्रकट नही हुई। इस प्रकार विषयो की दृष्टि से उनके गान सीमाबद्ध थे। जैसे गत शताब्दी के निधुबाबू, वे बगला भाषा के टप्पा गान के प्रवर्तक थे। वे कई उत्कृष्ट बगला टप्पा गानो के रचयिता थे एव उन गानो का प्रभाव समस्त ऊनविंश शताब्दी के बगला गानो पर प्रबल रूप मे दिखाई दिया। किन्तु विषय की दृष्टि से उनके सभी गान एक ही आदर्श के विरह-वेदन के गान थे। बगाल के प्राचीन कीर्तन गानो मे राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का वैचित्र्य ही अभिव्यक्त हुआ है। शक्ति-उपासक और एक प्रकार की भक्ति के गानो का प्रचार कर गए। ब्राह्मधर्म के आन्दोलन के साथ हिन्दी ध्रुपद, खयाल की भगी मे बगला भाषा मे कई उपासना-गानो की रचना हुई। गुरुदेव के समसामयिक बगाली रचनाकारो मे जिन्होने बगला गानो मे वैशिष्ट्य का प्रवर्तन किया था एव ख्याति अर्जित की थी, उनमे से द्विजेन्द्रलाल, अतुलप्रसाद और नजरुल के नामो का ही मैं उल्लेख करूँगा। इन सभी ने एक से अधिक विषय लेकर गानो की रचना की। फिर भी द्विजेन्द्रलाल ने स्वदेशी और हास्य गानो के कवि रूप मे जितनी ख्याति पाई थी, प्रेम या भक्ति के गानो मे उन्हे उतनी ख्याति नहीं मिली। अतुलप्रसाद के भक्ति और प्रेम के गानो ने ही बगालियो को अधिक मुग्ध किया है। नजरुल के कुछ भावोत्तेजक गान और उर्दू गजल के आदर्श से रचित प्रेम के गान लोकप्रिय हुए, किन्तु उनके अन्य गानो ने जनसाधारण के अन्तर मे वैसा स्थान नहीं बनाया।

विषयवैचित्र्य की दृष्टि से गुरुदेव के गान बहुमुखी है। एव यह भी कहा जा सकता है कि प्राय प्रत्येक विषय के गान रसोत्तीर्ण हुए हैं। गीतवितान के पूजा अश के भिन्न-भिन्न विषयो के नाम है, गान, बन्धु, प्रार्थना, विरह, साधना और सकल्प, दु ख, आश्वास, अन्तर्मुख, आत्मबोधन, जागरण, नि सशय, साधक, उत्सव, आनन्द, विश्व, विविध, सुन्दर, बाउल, पथ, शेष, परिणय। इस अश मे ही सब विख्यात स्वदेशी गान हैं। और द्वितीय खड की प्रेम-रेणी मे प्रेमवैचित्र्य और विभिन्न ऋतुओ व प्रकृति को लेकर गान मिलते हैं। इसके

अलावा इस भाग के विचित्र अश मे ऐसे कई गान हैं जो विषय की दृष्टि से ऊपर की किसी श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आते। यह बात सभी जानते है कि लिरिक कविता के हिसाब से ये सब गान बगला की चिरकाल की सम्पद के रूप मे गिने गए हैं। ऐसा नि सन्देह कहा जा सकता है कि इसके अलावा छह पूर्णाग नृत्यनाट्य की रचना कर बगला गान मे वे एक नया अध्याय आरम्भ कर गए हैं। ये गीतिनाट्य लम्बे अर्से तक बगला सगीत के प्रेरणास्रोत रहेगे। गुरुदेव और भी ऐसे कई विषयो के गानो की रचना कर गए हैं जिन्हे लेकर गान-रचना की बात उनके पूर्व किसी ने सोची भी नहीं। जैसे, खेल के गान, चलने के गान, पथ के गान, जन्मदिन के गान, विवाह के गान, मृत्युलोक की शान्ति के गान, खेती करने के गान, गृहप्रवेश के गान, खेती के गान, हँसीमजाक के गान, तृष्णा के जल के गान, दीन से भी दीन मनुष्य के प्रति समवेदना के गान, इनके अलावा शान्तिनिकेतन विद्यालय के विविध उत्सवो के लिए उपयोगी विविध गान। इस प्रकार मनुष्य के वास्तविक कठोर जीवन को विभिन्न दृष्टिकोणो से सगीत के रस से सिचित करने का प्रयास बगाल मे अन्य किसी एक गीतकार ने कभी नहीं किया।

गान के कलिविभाग और उसके साथ मिलाकर स्वर-सयोजन मे भी गुरुदेव के गानो से बगला गानो मे कई प्रकार का वैचित्र्य आ गया है। अब उस वैचित्र्य को लेकर ही आलोचना करूँगा।

श्री कृष्णधन बन्द्योपाध्याय ने अपने ग्रथ 'गीतसूत्रसार' मे ध्रुपद और खयाल का परिचय देते हुए कहा है, "ध्रुपद की रचना विस्तृत है एव वह चार अंशो या कलियो मे विभक्त है। चार तुको के चार भिन्न-भिन्न नाम हैं, यथा स्थायी, अन्तरा, सचारी और आभोग कई ध्रुपदो मे केवल दो तुक ही मिलते हैं, यह विस्मृति या शिक्षा की त्रुटि का फल है।

"गान के प्रथम भाग का नाम है स्थायी, जिसे मुखडा किवा ध्रुवा (ध्रुव) कहा जाता है, इसे आरम्भ करने के लिए कोई 'सुर' निर्दिष्ट नहीं है।

"गान की द्वितीय कलि का नाम है अन्तरा, इसमे 'सुर' का एक नियम निर्दिष्ट है और वह यह कि यह प्राय मध्य सप्तक के मध्य स्थान से आरम्भ होता है और तार सप्तक के सा तक आरोहण कर, तथा वहाँ (तार-सा) कुछ विश्राम कर राग विशेष के अनुसार कुछ और ऊपर जाकर अवरोहण करता है या इस तार-सा से ही अवरोहण कर स्थायी के 'सुर' के साथ मिलकर समाप्त होता है।

"गान की तृतीय कलि का नाम है सचारी, इसका नियम यह है कि मध्य सप्तक से सम्पादित होने वाले गान के स्थायी भाग के ही उच्चाश से अवरोहण कर गायक की क्षमतानुसार मन्द्र सप्तक मे कुछ दूर अवरोहण कर, पुन आरोहण कर वह सा पर समाप्त होता है। इसके बाद गान पुन आरोहण गति अपना लेता है और तार सप्तक मे कुछ दूर विचरण कर, पुन अवरोहण कर मध्य सप्तक के किसी स्थान पर समाप्त होता है। इस प्रकार अवस्थापन्न कलि को आभोग कहा जाता है, यह गान की अन्तिम कलि है।

"रचना-कौशल के अभाव मे आभोग की स्वर-सज्जा प्राय अन्तरे के समान दिखाई देती है। इन चार कलियो के गायन का नियम इस प्रकार है स्थायी को बार-बार गाना

पडता है, उसके बाद अन्तरा गाकर पुन स्थायी गाई जाती है, उसके बाद सचारी उसके बाद आभोग और पश्चात् फिर स्थायी गाकर गान का समापन किया जाता है, सचारी गाने के बाद स्थायी गाने की रीति नही है, सचारी के बाद आभोग गाया जाता है।

"खयाल की रचना ध्रुपद की अपेक्षा सक्षिप्त है, इसमे सचरावर दो तुको से अधिक का व्यवहार नही है, अर्थात् इसमे केवल स्थायी और अन्तरा का व्यवहार है। कभी-कभी इसमे तीन-चार कलियॉ भी रहती है किन्तु उन सबकी स्वरसज्जा अन्तरे के समान रहती है।"

टप्पा और ठुमरी मे भी मात्र दो कलियॉ या तुक रहते है। खयाल के स्थायी और अन्तरा के नियम से ही स्वर-सयोजन किया जाता है।

ध्रुपद, खयाल, टप्पा और ठुमरी गान की कुल पक्तियो की सख्या के विषय मे विचार करने पर पता चलेगा कि ध्रुपद गान की पक्तियो की कुल सख्या अधिकतर आठ रहती है, प्रत्येक कलि की दो पक्तियॉ। और खयाल, टप्पा और ठुमरी मे कुल चार पक्तियॉ रहती है—प्रत्येक कलि दो पंक्तियो से गठित। इन चार प्रकार के गानो का स्वर-सयोजन एक ही रीति से किया जाता है।

हिन्दीभाषी अचल के पल्लीसमाज मे प्रचलित विविध प्रकार के गानो का स्वर-सयोजन खयाल के समान ही दो भागो मे विभक्त कर किया जाता है। ग्रामीण अचलो मे कई कलियों की समष्टि के लम्बे गान भी खूब चलते है, किन्तु स्वर सयोजन आरम्भ के स्थायी-अन्तरे के अनुकरण से ही किया जाता है। प्रत्येक कलि के परिवर्तन के समय स्थायी गाकर अन्य कलि उठाई जाती है। भारत के सभी प्रकार के पल्ली गानो मे इसी प्रकार से स्वर-सयोजन होता है। पल्ली (छोटे गॉव) मे दो पक्तियो के गानो से शुरू कर कई पक्तियो की समष्टि के बडे गान भी मिलते है। प्रथम पक्ति बार-बार गाने की रीति ध्रुपद, खयाल, टप्पा, ठुमरी और देशी गान सब मे है और स्थायी-अन्तरा के समान कलि-भाग तथा एक ही रीति से स्वर-सयोजन की इच्छा भी। मोटे तौर पर यहॉ है भारतीय उच्चाग और देशी आदर्श से रचित गानों का कलि-विभाग और उसके 'सुर' - गठन पद्धति का अधिक प्रचलित नियम।

गुरुदेव के गानो के कलिविभाग, पक्ति-समष्टि और उसके साथ मिलाकर स्वर-सयोजन की रीति की ओर ध्यान देने से पता चलेगा कि उच्चाग एव देशी, दोनो सगीत-पद्धतियो मे प्रचलित सभी नमूने इसमे मिलेगे और इसके साथ उनका निजस्व नवसृष्टि का निदर्शन भी मिलेगा। इस दृष्टि से सब मिलाकर वैचित्र्य का जो नमूना उनके गानो मे मिलता है, उस प्रकार का वैचित्र्य और किसी अकेले रचयिता के गानो मे दिखाई नहीं देता एव अनुमान किया जाता है कि इस पथ पर भी वे 'एकमेवाद्वितीयम्' है।

कुल तीन पक्तियो के गान से शुरू कर सोलह पक्तियो के गान का कलि-भाग गुरुदेव ने किस प्रकार किया है, उसके कुछ नमूने मैं यहॉ दे रहा हूँ। इनमे कुछ गान हिन्दी गानो के अनुकरण से रचित हैं। अन्य गानो की रचना उन्होने स्वय स्वाधीन भाव से की है।

कुल दो कलियों के गान

		कितनी पक्तियो से कलि विभक्त		
		स्थायी	अन्तरा	पक्ति-सख्या
१ नूतन प्राण दाओ	लाचारी तोडी-धमार	१	२	३
२ विमल आनन्दे जागो रे	बहादुरी तोडी-धीमा तीनताल	२	२	४
३ बन्धु तोमाय करब राजा	विभास-एकताल	२	३	५
४ बाजाओ तुमि कवि	बहार-शूलफॉक्ता	३	३	६
५ शुभ्र आसने विराज	भैरव-आडाचौताल	३	४	७

यहॉ गानो का पक्ति-विभाग खयाल के नियम से किया गया है। अर्थात् इनकी कलियॉ खयाल के समान दो भागो मे विभक्त है। स्वर-सयोजन भी इसी नियम से किया गया है। इस पक्ति-विभाग और स्वर-सयोजन मे उनका विशेष हाथ नहीं है, क्योकि तृतीय सख्यक गान को छोडकर अन्य सभी गान हिन्दी गान के अनुसरण से रचित है।

कुल चार कलियों के गान

		कितनी पक्तियो से कलि विभक्त				
	राग और ताल	स्थायी	अन्तरा	सचारी	आभोग	कुल पक्ति-सख्या
१ केमने फिरिया जाओ	भैरवी-चौताल	२	२	२	२	८
२ ए भारते राखो नित्य	सुरट-चौताल	३	२	२	२	९
३ दीप निबे गेछे मम	बिहाग-झपताल	२	३	२	३	१०
४ मम अन्तर उदासे	त्रिताल—	२	३	३	३	११
५ तुमि केमन करे गान	मि खमाज-कहरवा	२	४	२	४	१२
६ जारा काछे आछे तारा	मि सहाना-एकताल	२	४	३	४	१३
७ सफल करो हे प्रभु	मल्लार-त्रिताल	२	४	४	४	१४
८. भय हते तव अभयमाझे	बिहाग-चौताल	२	४	४	४	१४
९ आमि केमन करिया	आशावरी-एकताल	४	४	३	४	१५
१० एसो हे एसो सजल	मल्लार-झपताल	४	४	४	४	१६

इस प्रकार उपरोक्त आठ से सोलह पंक्तियों के बाद भी चार कलियो मे विभक्त और भी गान है, किन्तु अधिक नमूने देने की आवश्यकता नहीं है।

ऊपर के सभी गानो की कलियॉ चार भागो में विभक्त हैं। इस दृष्टि से प्रचलित ध्रुपद के नियम के साथ इनका मेल है एव चार कलियो मे स्वर-सयोजन ध्रुपद के नियम से किया गया है। इस प्रकार के चार कलियो के गानो की रचना गुरुदेव ने सर्वाधिक की है। किन्तु यहॉ एक बात ध्यान देने योग्य है कि विशेष रूप से चार कलियो के गानो मे

ऐसे अन्य सब ताल भी समाहित हैं, जो ध्रुपद के चौताल मे नहीं हैं। चौताल के हिन्दी ध्रुपद मे केवल चार कलियो का प्रयोग श्रेष्ठ है। अन्य तालो के गानो मे वैसा दिखाई नहीं देता। किन्तु यहाँ देखा जाता है कि इस प्रकार के चार कलि-गानो मे चौताल के अलावा झपताल का छन्द, तीन मात्रा एकताल का छन्द, चार मात्रा त्रिताल का छन्द, सभी मिल जाते है। इस दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि गुरुदेव के गान हिन्दी गान को मुक्ति का सकेत दे रहे हैं।

चार कलियो मे विभक्त हिन्दी ध्रुपद गान की कविता के आदर्श से आवृत्ति करने पर ऐसा लगेगा जैसे वह बगला कविता के समान मुक्त-छन्द, गद्य-छन्द या अभित्राक्षर छन्द की कविता है। इसी कारण हिन्दी गान के अनुसरण से गुरुदेव द्वारा रचित कई बगला गान काव्यरसिकों को मुक्त-छन्द, गद्य-छन्द या अमित्राक्षर छन्द की कविता के समान लगते हैं। किन्तु चार कलियो मे विभक्त उपरोक्त गानो मे व्यतिक्रम मिलेगा। दो गानो— 'केमने फिरिया जाओ' और 'ए भारते' को छोडकर शेष गान छन्द और मेल से निबद्ध सुगठित कविता हैं। उच्चाग सगीत के चार कलियो के हिन्दी गानो के शब्द ठीक इस प्रकार छन्द से, नियम से सजे हुए नहीं हैं। गुरुदेव ने अपने गानों के कलि-विभाजन की प्रेरणा हिन्दी ध्रुपद गान से पाई थी, उस प्रभाव के कारण हिन्दी गान के अनुसरण से उस छन्द मे गानो की रचना भी की थी, किन्तु उस प्रभाव से मुक्त होकर वे ऊपर उठ गए थे। इसीलिए चार कलियो के गान होते हुए भी बगला गान के शब्दो को बगला कविता के आदर्श, छन्द और मेल (पद्य के दो चरणो के अन्त मे अक्षरसाम्य, तुक) की दृष्टि से विशुद्ध रूप प्रदान कर सके थे। यह भी उनका एक बडा कृतित्व था। छन्द और मेल की दृष्टि से विशुद्ध, चार कलियो मे विभक्त बगला गानो के शब्द-सयोजन का यह जो रूप हमें मिला, गुरुदेव के पूर्व इस प्रकार का व्यापक प्रचार बगाल मे किसी ने किया था या नहीं, हमे विदित नहीं। उनके गानो मे मुक्त छन्द के कई प्रकार के नमूने देखकर काव्यरसिक मानते हैं कि यह छन्द उन्होने बडे परिश्रम, कष्ट से पाया है। किन्तु गानो मे मुक्त छन्द के अनुरूप शब्द- सयोजन ही गुरुदेव के लिए स्वाभाविक था, क्योंकि किशोरावस्था से ही हिन्दी गानो के अनुसरण से बगला गानो की रचना करते हुए, शिशुकाल से ही भ्राताओ के मुक्त छन्द मे रचित हिन्दी गान के अनुसरण के ब्रह्मसगीत का गान करते हुए मुक्त छन्द के गानो की गति के साथ उनकी घनिष्ठता हो गई थी। इसीलिए जीवन के अन्तिम काल मे हिन्दी ध्रुपद के प्रभाव से मुक्त विविध गानो के शब्दो का मुक्त छन्द मे सयोजन बिना किसी सकोच के कर सके थे। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि चार कलियो के गानो के शब्दो को कविता के छन्द मे सुन्दर ढग से सजाना मुक्त छन्द की अपेक्षा कठिन है।

ऊपर के सभी गान राग-रागिनियो के अवलम्बन से रचित हैं। देशी धुनो के गान भी इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य हैं।

१ 'नमो नमो निर्दय अति करुणा तोमार' कुल पाँच पंक्तियों का गान है। स्थायी तीन पंक्तियो की है और अन्तरा दो पक्तियों का है। यह गान कीर्तन की धुन मे सयोजित

है। केवल स्थायी और अन्तरायुक्त इतना छोटा गान कीर्तन की धुन मे नहीं मिलता।

२ 'ये तोरे पागल बले' कुल दस पक्तियो का गान है। स्थायी मे दो पक्तियाँ हैं, प्रथम अन्तरा चार पक्तियो का और द्वितीय अन्तरा अतिम चार पक्तियो का है। इसकी स्वरसज्जा अविकल रूप से प्रथम अन्तरे के समान है। दोनो अन्तरे पास-पास युक्त हैं, इसी धुन मे रचित गान उच्चाग हिन्दी खयाल मे भी मिलता है। यह गान बाउल धुन मे रचित है।

३ 'भेगे मोर घरेर चारि' कुल ४ कलियो और १५ पक्तियो का गान है। स्थायी दो पक्तियो की है, प्रथम अन्तरे मे चार पक्तियाँ हैं, द्वितीय अन्तरे मे पक्तियाँ चार ही हैं, तृतीय अन्तरे मे पाँच पक्तियाँ है। द्वितीय और तृतीय अन्तरो की स्वरसज्जा अविकल रूप से प्रथम अन्तरे की स्वर-सज्जा के समान है। यह भी बाउल की धुन का गान है। कलि और उसके स्वर-सयोजन की दृष्टि से उपरोक्त गान और यह गान देशी पद्धति का एक अत्यन्त प्रचलित नमूना है।

४ 'आमार सोनार बागला' कुल ३९ पक्तियो का गान है। स्थायी तीन पक्तियो की है, शेष नौ कलियो मे प्रत्येक चार पक्तियो की है। बाउल 'सुर' के इस गान की प्रथम तीन कलियो मे स्वर-सयोजन तीन ढग से हुआ है। चतुर्थ कलि का स्वर-सयोजन द्वितीय कलि के समान है। इसके बाद से प्रति दो कलियो मे एक के बाद एक तृतीय और द्वितीय या चतुर्थ कलि के स्वर-सयोजन की हूबहू पुनरावृत्ति हुई है। इस गान का उल्लेखयोग्य विषय यह है कि इस गान की प्रथम चार कलियो को अलग कर स्वर-सज्जा ('सुर') की दृष्टि से विचार करने पर पता चलेगा कि ध्रुपद के समान ही बाउल-'सुर' के चार भाग हैं। ध्रुपद का सयोजन जिस प्रकार स्थायी, अन्तरा, सचारी और आभोग मे किया जाता है, उसी प्रकार इस गान मे भी चार कलियाँ रहती हैं।

५ 'एबार तोर मरा गाँगे' कुल तेरह पक्तियो का गान है। स्थायी दो पक्तियो की है, अन्तरे मे चार पक्तियाँ हैं, सचारी मे तीन पक्तियाँ और आभोग मे चार पक्तियाँ मिलती हैं। यह गान पूर्वबगाल के सारि गान के अनुकरण से रचित है, किन्तु इसमे ध्रुपद के समान चार भाग मिलते हैं। जैसे स्थायी, अन्तरा और सचारी का स्वर-सयोजन अलग-अलग हुआ है, आभोग का स्वर-संयोजन अन्तरे के समान है। इसके अलावा ध्रुपद के ही समान सचारी से स्थायी न गाकर सीधे आभोग गाना होता है। इस दृष्टि से यह भी एक उल्ल्खयोग्य गान है।

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट समझ मे आ जाएगा कि गान के दो और चार कलियो मे विभाजन और उसके साथ मिलकर स्वर-सयोजन करने मे गुरुदेव ने पूर्वप्रचलित उच्चांग हिन्दी और देशी सगीत-पद्धति का विविध ढग से प्रयोग किया है। इस दृष्टि से उल्लेखयोग्य और कुछ गानो का उल्लेख अब मैं यहाँ करता हूँ।

"आमार प्राणेर' परे चले गेल के" कुल २९ पक्तियो का गान है। किन्तु कलियाँ मात्र दो हैं। स्थायी चार पक्तियो की है और शेष पक्तियो (२५) का अन्तरा है। इसे अन्तरा

इस कारण कह रहा हूँ कि इसकी प्रथम पक्ति से अन्तिम पक्ति तक अविराम एक ही ढग से गाना पडता है। बीच की किसी भी पंक्ति से स्थायी पर लौटने का कोई उपाय नहीं है। एव इस अन्तरे मे भी स्वर-सज्जा की पुनरावृत्ति नहीं है। राग है मिश्र बिहाग।

'एशुधु अलस माया' कुल १६ पक्तियो का गान है एव पूरी पक्तियो की स्थायी है। इसमे कहीं भी दो भागो मे गाने की व्यवस्था नहीं है। आरम्भ की पक्ति से अन्त तक एक ही ढग से गाकर गान समाप्त करना होगा। एक ही रागिनी इस गान के शब्दो के साथ विविध रूप मे प्रस्फुटित हुई है। इसमे स्थायी, अन्तरा के समान स्वर-सज्जा का विभाजन नहीं है या पुनरावृत्ति भी नहीं है। रागिनी है मिश्र यमन।

'एइ तो भालो लेगेछिल' कुल २४ पक्तियो का गान है और पक्तियाँ इस प्रकार विभक्त हैं—२,४,६,६,६। गान की धुन बाउल और कीर्तन की मिश्रित धुन है। पॉच भाग होते हुए भी इसके प्रत्येक भाग मे स्वर-सयोजन भिन्न-भिन्न है। और प्रत्येक कलि समाप्त कर बाद की कलि गाते समय मात्र 'एइ तो' शब्द गाना होता है। प्रथम पक्ति या कलि पूर्ण रूप से नहीं गाई जाती।

'एसो एसो वसन्त धरातले' गान की पक्तियो की कुल सख्या है २३। यह गान ८,४,३,३,५ पक्तियो के पॉच अशो मे विभक्त है। गान का राग है मिश्र वसन्त। सम्पूर्ण गान मे यह मिश्र राग विचित्र रूप मे मूर्त हुआ है। कही भी, किसी भी कलि मे स्वर-सज्जा की पुनरावृत्ति नहीं है। कलि के अन्त मे स्थायी पर भी लौटा नहीं जाता। प्रत्येक कलि के अन्त मे केवल 'एसो एसो' एक बार गाना पडता है।

'कृष्णकलि आमि तारेइ बलि' कुल ४० पक्तियो का गान है। यह गान पॉच भागो मे विभक्त है और प्रत्येक भाग मे आठ पक्तियॉ हैं। इन आठ पक्तियो के अन्त मे दो पक्तियॉ —'कालो ? ता से यतइ कालो होक, देखेछि तार कालो हरिण चोख'—प्रत्येक कलि के अन्त मे व्यवहृत हुई है एक ही स्वर-सज्जा में । कलि के अंत मे गाई जाने वाली ये दो पक्तियॉ ही इस गान मे स्थायी का काम करती हैं। गान की पॉच कलियो मे प्रथम कलि और अन्तिम कलि की स्वरसज्जा एक समान है। शेष तीन कलियो मे प्रत्येक की स्वरसज्जा पृथक् है। इसमे उच्चांग हिन्दी गान की रागिनी और देशी धुन का मिश्रण हुआ है। सुनने पर यह अशोभन बिलकुल नहीं लगेगा। इस गान को गाने का ढग बगाल की कथकता के समान है। यह गान तबला या पखावज के ताल मे निबद्ध नहीं है। इसे आवृत्ति के छन्द मे गाना पडता है। इसके अलावा उल्लिखित सभी गान किसी-न-किसी ताल के छन्द मे निबद्ध हैं।

गुरुदेव के गानो के रस का यथार्थ आस्वादन करने के लिए सगीत और काव्य रस का समान अनुभूतिशील मन चाहिए। जो श्रोता या गायक गुरुदेव के गानो की रागिनी और छन्द को अधिक महत्त्व देते हैं और शब्दो को उसके बाद में स्थान देते है, वे इस सगीत के वास्तविक रसिक नहीं हैं। पुन , जो उनके गान के काव्यरस पर जोर देते हैं और स्वरसज्जा व छन्द को गौण रूप मे मानते हैं, वे भी इस गान का पूर्ण रस ग्रहण करने में अक्षम हैं। दो रसो के समान अधिकारी रवीन्द्र सगीत रसिको की सख्या बगाल

मे बहुत कम है। वास्तव मे रवीन्द्र सगीत रसिक गायको और श्रोताओ मे अधिकतर गान की स्वरसज्जा और छन्द के माधुर्य को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। काव्यरसिक लिरिक कविता के आदर्श से इन गानो का उपभोग करते हैं। किन्तु वे यह नही सोचते कि परिपूर्ण गान के रूप मे उसका उपभोग करने के लिए गान की रागिनी और छन्द का व्यापक परिचय भी प्रयोजनीय है। रवीन्द्र सगीतरसिको के लिए सब प्रकार के सगीत के सुर या रागिनी के घनिष्ठ परिचय के साथ-साथ काव्यरस के आस्वादन की चर्चा करना भी उचित है। उच्चाग सगीत के समान केवल राग-रागिनी के अलकारो की ही इन गानो मे प्रयोजनीयता नहीं है, इस प्रकार के गानो के लिए 'देशी' सगीत के आदर्श से काव्य और स्वरसज्जा को समान स्थान प्रदान करने की आवश्यकता है, जिससे जनसाधारण की सगीत रस-पिपासा मिटाई जा सके।

काव्यगीति

हमारे दशे मे बडी कविता का स्वर-सयोजन के साथ गान करने की रीति बहुत दिनो से प्रचलित है। इस देश मे यूरोपीय साहित्य का प्रभाव फैलने के पूर्व तक प्रत्येक प्रदेश मे कविता ही 'सुर' मे गाई जाती थी। आज भी आधुनिक हिन्दी और उर्दू कवियो मे यह प्रथा प्रचलित है।

दक्षिण भारत मे मैने विभिन्न भाषाओ की कविताओ को गान के रूप मे पाठ करते हुए कवियो को सुना है। जयदेव के 'गीत गोविन्द' के समान काव्य आज भी गाकर सुनाया जाता है। दक्षिणभारत के नृत्यनाट्य विभिन्न रागिनियो और तालो मे निबद्ध गीतकाव्यो पर निर्भर हैं। लोक साहित्य की गाथाएँ आज भी ग्राम-ग्राम मे सुर मे गाई जाती है और लोगो का मनोरजन किया जाता है। गुरुदेव ने भी बडी कविता मे स्वर-सयोजन कर कई गानो की रचना की—जो किसी कवि के गानो के अनुकरण से रचित नही हैं, सम्पूर्ण रूप से रावीन्द्रिक है।

इस विषय मे गुरुदेव के गानो और पूर्वकृत कवियो की रचनाओ मे कहाँ मेल नहीं है, यह सोचने का विषय है।

हिन्दी ध्रुपद, खयाल और ठुमरी मे बडे गानो की रचना का चलन नही है। यद्यपि पहले ध्रुपद आकार मे बडा होता था, किन्तु आजकल चार तुको का गान ही प्रसिद्ध है। हिन्दी या उर्दू कविता मे जो 'सुर' व्यवहृत होता है, उसमे वैचित्र्य नही रहता, उसमे एक सहज 'सुर' की पुनरावृत्ति मात्र रहती है। बगाल की बडी-बडी पल्लीगीतियो की भी यही धारा है। बगाल मे युगो से ही उच्च श्रेणी के सगीतानुरागी गानरचयिताओ मे हिन्दी गान का प्रभाव दिखाई देता है। इसीलिए उनके गान हिन्दी मार्ग-सगीत के समान आकार मे अनिवार्यत छोटे है। इस कारण बगला ध्रुपद, खयाल, टप्पा और ठुमरी जातीय सभी गानो ने इन हिन्दी गानो के अनुकरण से ही आकार ग्रहण किया है। बगाल के प्राचीन सगीत-कीर्तन मे बडे गान हैं, उनमे कई बार स्वर-सयोजन मे वैचित्र्य दिखाई देता है। छोटे गानो मे आखर सयोजित कर गान को बडा करने की प्रथा कीर्तनियो मे है। इससे स्वरसज्जा और ढग मे पुनरावृत्ति अधिक सामने आती है। किसी-किसी कीर्तनगान मे प्रथम कलि का 'सुर' अन्य सभी कलियो के 'सुर' के समान रहता है। हिन्दी गान मे 'रागमाला' नामक एक प्रकार का बडा गान है, किन्तु उसका प्रधान दोष यह है कि शब्द के साथ रागिनी के मेल का कोई प्रयास नहीं है, ऐसा लगता है जैसे विभिन्न राग-रागिनियो को शब्दो के द्वारा बॉधने के लिए ही गानो की रचना की गई हो। हमारे देश मे स्वादेशिकताबोध जाग्रत होने

के साथ-साथ कई रचयिताओ ने बडे-बडे गानो की रचना की है, इन गानो के 'सुर' अधिकतर हिन्दी राग-रागिनी से गृहीत है, किन्तु उनमे प्राय एक ही प्रकार की स्वर-सज्जा की पुनरावृत्ति दिखाई देती है।

छोटी लिरिक-कविता मे 'सुर' जिस प्रकार रूप ग्रहण करता है, बडी लिरिक-कविता मे वैसा होना उचित नहीं है। गुरुदेव के पूर्व भी बगाल मे बडी-बडी लिरिक-कविताओ मे एक ही 'सुर' (धुन या रागिनी) की पुनरावृत्ति अधिक देखी गई है। छोटे गान के अल्प परिसर मे एक ही रागिनी का रूप कायम रख कर स्वर-सयोजन मे वैचित्र्य का सचार करना सहज है, इसे लिखकर समझाने का प्रयोजन नहीं है। किन्तु बडी लिरिक-कविता मे एक ही रागिनी या कई रागिनियो के सामजस्य, मिश्रण से सुरवैचित्र्य लाना बहुत ही कठिन है।

मुझे लगता है कि बडी लिरिक-कविता मे हिन्दी राग-रागिनियो की सहायता से सब कलियो मे एक ही 'सुर' की पुनरावृत्ति द्वारा गानो की रचना न कर गुरुदेव ने इस देश मे नवीन प्रयास का शुभारम्भ किया। किन्तु उससे गान के भावो के साथ 'सुर' का ऐक्य भी स्थापित हुआ है। मेरा अनुमान है कि बगाल ही क्या, भारत के अन्य अंचलो मे भी अन्य किसी रचयिता ने इस पद्धति मे गानो की रचना नहीं की।

इस प्रकार के गान की कविता जिस प्रकार किसी एक विशेष हृदयावेग के विविध रूपो के साथ आगे बढी है, उसी रस की अनुगामी रागिनी भी भाव के साथ मेल रखते हुए विविध रूप मे अपना विस्तार करती हुई कविता के साथ चली है। इसीलिए एक ही स्वरसज्जा की पुनरावृत्ति नहीं दिखाई देती। इसके अलावा कविता-पाठ के समय आरम्भ से अन्त तक एक ही ढर्रे से जिस प्रकार पढना होता है, इन सब गानो की गायकी-रीति ने भी कई क्षेत्रो मे इसी नियम को कायम रखना चाहा है।

अत सहज ही ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रकार की रचनापद्धति में विलायती स्वर-सयोजन के आदर्श का प्रभाव रहा है। स्वर-सयोजन के सम्बन्ध मे वेगनर और स्पेसर ने जिस मतवाद का प्रचार किया था, उसका प्रभाव इस प्रकार के गानो मे दिखाई देता है। इस प्रकार के गानो की रचना के लिए वे उस समय उत्साहित हुए जब वे वेगनर और स्पेसर के मत से परिचित हुए और उसी आदर्श से 'वाल्मीकि प्रतिभा' और 'कालमृगया' के स्वर-सयोजन मे प्रवृत्त हुए।

उस समय उन्होने ऐसा सोचा था कि जिस प्रकार कविता 'भाव से भावान्तर', 'अवस्था से अवस्थान्तर' मे गमन कर सकती है, उसी मार्ग से राग-रागिनी को परिचालित कर गान को भी चलनशील बनाना सम्भव है। इसीलिए उस उम्र मे भी साहस के साथ उन्होंने लिखा था, "गतिशील भाव सगीत के लिए बिलकुल अननुसरणीय है, ऐसा नहीं है।" इसी मनोभाव के युग मे ही उन्होने चलनशील भाव के प्रथम गान की रचना की—"आमार प्राणेर' परे चले गेल के"। यह गान खमाज, परज एव कालिगडा रागिनियो के मिश्रण से रचित है। इस गान का स्वर-सयोजन भाव के साथ मेल रखकर विविध रूप से अपना विस्तार करता हुआ कविता की पक्ति के साथ-साथ चला है, इसमे एक ही प्रकार की स्वरसज्जा की पुनरावृत्ति नहीं है। कविता-पाठ के समय आरम्भ से अन्त तक एक ही ढर्रे से जिस

प्रकार पढना पडता है, इस गान की गायकी रीति मे भी वैसी ही अवस्था है। यद्यपि उपरोक्त गान मे स्वर-सयोजन का नैपुण्य है, फिर भी इसे रावीन्द्रिक मिश्रण कहने मे संकोच होता है। इस गान मे स्वर-सज्जा को शब्दो के साथ अच्छी तरह से समायोजित किए जाने के बावजूद परिवर्तित रागिनी आपको स्पष्टतया समझा देती है कि इस अश मे उसने वह स्थान ग्रहण किया। इस मिश्रण मे परीक्षामूलक मनोभाव का परिचय नही मिलता। इसके बावजूद स्वर-सयोजन की दृष्टि से उनके आरम्भिक जीवन की यह एक विशेष रचना है।

मोटे हिसाब से देखा जाता है कि १२९१ बगाब्द (ई १८८४) की 'मानुसिह ठाकुरेर पदावली' मे शुरू कर 'छवि ओ गान', 'कडि ओ कोमल', 'मानसी', 'सोनार तरी', 'चित्रा', 'कल्पना', 'क्षणिका', 'खेया', 'गीताजलि', 'उत्सर्ग', 'बलाका', 'पूरबी', 'महुया' और 'ऋतुरग' तक उन्होने कई ग्रथो की कविताओ मे उपर्युक्त प्रणाली से स्वर-सयोजन किया हैं। सर्वाधिक गानो की रचना 'क्षणिका' और 'महुया' से की है।

'भानुसिहेर पदावली' मे हमे सात गान मिलते है, जो आज भी गाए जाते हैं। जैसे, "गहनकुसुमकुज-माझे", "मरण रे, तुँहुँ मम श्यामसमान," "सजनि सजनि राधिका लो", "शुन लो शुन लो बालिका", "आजु सखि मुहु मुहु", शाङ्नगगने घोर घनघटा" और "बजाओ रे मोहन बॉशि"। इन गानो के 'सुर' मे एक प्रकार का माधुर्य है और उसका शब्दो के साथ उपयुक्त मेल शोभन है कितु अल्प वय की रचना होने के कारण स्वर-सयोजन की दृष्टि से शिल्पी की सहजात निपुणता प्रकट नही हुई है। लगता है कि रचना के साथ-साथ ही कविताओ के लिए स्वर-सयोजन नहीं किया गया, स्वर-सयोजन बहुत बाद मे किया गया।

इन गानो मे पाश्चात्य स्वर-सयोजन-पद्धति का कोई प्रभाव है, ऐसा नहीं लगता। प्राय सभी गान किसी-न-किसी देशी प्रचलित रागिनी और ढग मे गठित है एव एक-एक गान के अन्यान्य प्राय सभी तुको में एक प्रकार की स्वरसज्जा की पुनरावृत्ति है। 'सुर' (रागिनी, धुन, स्वरसज्जा) की दृष्टि से इनमे किसी प्रकार की कल्पना का कोई प्रयास दिखाई नहीं देता।

'कडि ओ कोमल' मे 'ए शुधु अलस माया' गान मिलता है। इसे १३२६ बगाब्द (ई १९१९) मे ही पहली बार गान की श्रेणी मे स्थान पाते देखा गया, इसलिए अनुमान किया जाता है कि इस वर्ष के कुछ पूर्व ही यह गानरूप मे परिणत हुआ था।

स्वर-सयोजन की दृष्टि से यह गान एक सुन्दर रचना है। यमन-भूपाली रागिनी मे रचित यह गान है। इसमे शाम का वर्णन है, इसीलिए गुरुदेव ने यह रागिनी ग्रहण की है, क्योकि शाम के समय ही यह रागिनी हमारे देश मे प्रचलित है।

यह गान गाते समय भी प्रथम पक्ति पर बार-बार लौटना नहीं होता, अत मे उसे एक बार गाया जाता है। गान के गतिशील भाव के साथ 'सुर' का अच्छा मिश्रण हुआ है, इसीलिए एक ही रागिनी मे सयोजित होते हुए भी समग्र रूप से इस गान मे विशेष स्वर-वैचित्र्य प्रस्फुटित हुआ है, पुनरावृत्ति का प्रश्न मन मे जाग्रत नहीं होता।

'मानसी' का गान "के आमारे येन एनेछे डाकिया" पहले कविता रूप मे ही गण्य होता था, १३२६ बगाब्द (ई १९१९) मे प्रथम बार इसे गान की श्रेणी मे रखा गया। गान

रामकली, परज एव वसन्त रागिनियो के मिश्रित स्वरूप मे सयोजित है। इसमे एक ही प्रकार के 'सुर' की अनावश्यक पुनरावृत्ति नहीं है। यह भी एक ही ढर्रे से गाया जाने वाला गान है, किन्तु इस गान मे दो-तीन रागिनियो का समावेश होते हुए भी पारस्परिक आत्मिक योग कहीं है, अत गान के साथ शब्दो का पार्थक्य वैसा स्पष्ट नही हुआ है। बडा गान होते हुए भी शब्द और भाव के साथ-साथ रागिनियॉं उसी प्रकार सयोजित हुई है। यह भी एक सार्थक रचना है।

१३१६ बगाब्द (ई १९०९) मे रचित "ओगो शेफालिवनेर मनेर कामना" गान भी उस दृष्टि से एक अच्छा गान है, मिश्र तोडी या तोडी भैरवी के स्वर चार स्तबक मे स्वच्छदता से विचरण करते हैं। गान काफी बडा है, किन्तु स्वर-सयोजन मे पुनरावृत्ति नही है। प्रथम पक्ति को एक-दो बार पुन गाना पडता है।

१३२२ बगाब्द (ई १९१५) मे रचित गान "एइ तो भालो लेगेछिल" की बाउल धुन मे भी वैचित्र्य प्रस्फुटित हुआ है। यह बहुत बडी कविता है, इसीलिए यह धुन आरम्भ से कविता के साथ-साथ विविध रूप धारण करते हुए अन्त मे जाकर रुकी है। बाउल धुन मे रचित यह एक उल्लेखयोग्य गान है, क्योंकि साधारणतया इस धुन के गान मे पुनरावृत्ति अधिक रहती है। १३२२ बगाब्द (ई १९१५) के पहले से ही हमे गुरुदेव के बडे गानो मे स्वर-सयोजन की पद्धति मे परिवर्तन दिखाई दिया है और यह अच्छी तरह समझ मे आ गया कि स्वर-सयोजन की उनकी शक्ति ने परिणति, पूर्णता प्राप्त कर ली है एव गान-रचना की एक विशेष धारा दिखाई देने लगी है।

'चित्रा' की विख्यात कविता 'उर्वशी' के पहले कुछ स्तबको को गुरुदेव ने १३४७ बगाब्द (ई १९४०) के पौष माह मे 'शापमोचन' के अभिनय के समय रागिनी मे निबद्ध किया। इसकी रागिनी है मिश्र कान्हडा। गान बडी गम्भीर प्रकृति का है और इसके स्वर-सयोजन के माध्यम से इसका स्वकीय वैचित्र्य प्रस्फुटित हुआ है। यद्यपि यह बहुत बडा गान नही है, फिर भी स्वर-सयोजन मे स्थायी-अन्तरा का नियम इसमे नहीं है। रागिनी (सुर) गान के भाव के साथ एकाकार हो गई है और उसने एक विशेष रूप धारण किया है। 'कल्पना' की कविता 'ओइ आसे ओइ अति भैरव हरषे' मे रवीन्द्रनाथ ने १३२३ बगाब्द (ई १९१६) मे 'शेषवर्षण' के गीताभिनय' के समय स्वर-सयोजन किया। इसकी रागिनी है मिश्र कान्हडा, भावों के साथ मेल रखते हुए बीच-बीच मे कुछ स्तबको मे ताल का परिवर्तन किया गया है। कविता के भाव की दृष्टि से विचार करने पर गान 'सुर', छन्द और भाव के सामजस्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। किन्तु प्रथम पक्ति पर लौटने के विषय मे अन्य गानो के समान निर्धारित नियम इसमे नही है।

इसके बाद हमे 'क्षणिका' के छह गान मिलते हैं, जैसे 'याबई आमि याबइ ओगो, वाणिज्येते याबइ', 'नील नवघने आषाढ-गगने', 'हृदय आमार नाचे रे आजि के', 'हे निरुपमा', 'कृष्ण-कलि आमि तारेइ बलि', 'भोर थेके आज बादल छुटेछे' एव 'गीताजलि' का 'आज बरषार रूप हेरि मानवेर माझे'। इन गानो का स्वर-सयोजन १३३८ और १३४४ बगाब्द (ई १९३१ और १९३७) के बीच विभिन्न अवसरो पर किया गया। कुछ वर्ष पूर्व

(ठीक तारीख सन् याद नहीं) किसी समय गुरुदेव ने अपनी विख्यात कविता 'विदाय अभिशापे' मे ठीक इसी आदर्श से स्वर-सयोजन का प्रयास किया था, यह कार्य कुछ अग्रसर भी हुआ था। उन्होने इसे दिनेन्द्रनाथ को सुनाया था, मैं भी उस समय उपस्थित था। उनकी इच्छा थी कि इसी प्रकार गान गाकर उस कविता पर अभिनय कराएँगे। इस कविता मे स्वर-सयोजन के समय कविता के छन्द को कायम रखने की चेष्टा की थी, अन्य गानो के समान इसे निर्धारित छन्द मे निबद्ध करने की चेष्टा उन्होने नहीं की किन्तु अन्तत इस इच्छा का उन्होने परित्याग कर दिया, क्योकि इस काम के लिए जितने समय की आवश्यकता थी उतना समय उन्हे नही मिला। इसके कुछ समय बाद उन्होने अपेक्षाकृत एक छोटी कविता लेकर और एक बार 'सुर' मे आवृत्ति कराने की चेष्टा की। ई १९३१ मे वर्षामगल के उपलक्ष्य मे 'क्षणिका' की कविता 'कृष्णकलि' का स्वर-सयोजन कीर्तन और विभिन्न रागिनियो को मिलाकर किया—वर्तमान लेखक से उसका परीक्षण कराया। गान के निर्धारित छन्द को तोडकर आवृत्ति की रीति को कायम रखते हुए मुझे सबके सामने गाना पडा। वहाँ प्रश्नसूचक 'कालो ?' शब्द को उन्होने शब्द के अविकल 'सुर' मे ही रखा, उसे थोडा भी नहीं बदला। इस प्रकार का नवीन आवृत्ति-रूप सब को अच्छा लगा था। गान सुनने के बाद कई गुणियो को हमारे देश की प्राचीन कथकता-पद्धति (भावभगिमा-गीतादि के साथ पाठ) का स्मरण आ सकता है। भाव के साथ सामजस्य रखकर एक-एक कलि मे एक-एक रागिनी का व्यवहार कितना सार्थक हुआ है, यह गान सुनने पर ही समझा जा सकता है—और कहने की आवश्यकता नही कि पश्चिमी आदर्श से शब्दो के भावो के साथ मिलाकर स्वर-संयोजन की चेष्टा की गई है, 'कालो' शब्द के विविध प्रकार के उच्चारण से इसका पता चल जाता है।'धानेर क्षेते खेलिये गेल ढेउ' पक्ति मे स्वर के आन्दोलन से लहर के आन्दोलन का सकेत लक्षणीय है। ध्यान देने पर इस गान में इसी प्रकार के और भी परिचय मिल जाएँगे। 'कृष्णकलि' गान मे रागिनी का मिश्रण गान के प्रत्येक स्तबक मे अलग-अलग ढंग से हुआ है। केवल ध्रुया-ध्रुव मे एक ही 'सुर' घूमकर आता है। रागिनियो का सुन्दर प्रदर्शन स्तबक के भावो के साथ मिलाकर किया गया है। ध्रुव मे ऐसा नहीं हुआ है। इस गान को एक बार गाकर देखना चाहिए। इसी समय 'यदि भरिया लइबे कुम्भ' कविता मे इसी प्रणाली से स्वर-सयोजन की इच्छा उनकी थी, एक-दो पक्तियाँ उन्होने स्वर-सयोजन कर सुनाई भी थीं, किन्तु इस कार्य को वे पूरा नहीं कर सके।

'याबइ आमि याबइ' गान की रचना १३४० बगाब्द (ई १९३३) मे 'तासेर देश' की रचना के समय हुई। यह सम्पूर्ण कविता खमाज रागिनी मे निबद्ध है। 'हे निरुपमा' कविता भी इसी समय गान मे परिणत हुई। गुरुदेव ने इसकी चार कलियो मे चार रागिनियो का व्यवहार किया है, प्रथम कलि मे मिश्र वसन्त, द्वितीय कलि मे मिश्र रामकली, तृतीय कलि मे सिन्धु और चतुर्थ कलि मे देश का व्यवहार हुआ है, प्रत्येक कलि का छन्द भिन्न है। चार मात्रा, तीन मात्रा और सात मात्रा का तेवडा ताल का छन्द इसमे है, मुझे लगता है कि यहाँ विभिन्न छन्द और रागिनी के व्यवहार का एकमात्र कारण प्रत्येक कलि के साथ

कवि के अन्तर मे भिन्न आवेदन का उदय और उसके साथ सामजस्य रखने की चेष्टा है, इसी कारण छन्द और रागिनी की दृष्टि से चार कलियाँ भिन्न हैं। 'नील नवघने आषाढगगने' और 'हृदय आमार नाचे रे आजिके' मे स्वर-सयोजन १३४२ बगाब्द (ई १९३५) मे किया गया। ये दोनो मिश्र यमनकल्याण रागिनी के गान हैं। दोनो को साथ-साथ रखकर गाने से यमन के दो भिन्न रूप सामने आते है—एक धीर गम्भीर, दूसरा चचल प्राणवान्। कहने की आवश्यकता नहीं कि कविता के भाव ही गान और रागिनी मे इस प्रकार के पार्थक्य का कारण हैं, दोनो ही एक ही मात्रा और छन्द के गान हैं, किन्तु उनकी गति और रागिनी के गठन मे विशेष पार्थक्य है। हिन्दी 'रागमाला' गान मे तालफेर (ताल-परिवर्तन) नहीं दिखाई देता, जबकि 'हे निरुपमा' गान मे ताल-परिवर्तन है। प्रत्येक कलि मे रागिनी बदलने के साथ-साथ छन्द बदला है, यहीं हिन्दी-रागमाला और गुरुदेव के रागमाला-जातीय गान मे प्रधान अन्तर है।

'भोर थेके आज बादल छुटेछे' कविता मे स्वर-सयोजन किया १३४३-बगाब्द (ई१९३६) मे। यह भैरवी रागिनी का गान है, स्वरसज्जा का विविध रूप मे विचरण है। 'आजि बरषार रूप हेरि' गान मे स्वर-सयोजन का वैचित्र्य है। इसके पीछे जो इतिहास है उसे जान लेना जरूरी है।

१३४२ बगाब्द (ई १९३५) के 'पहला वैशाख' (प्रतिपदा) के उत्सव के लिए वेद के विख्यात स्तव 'ऊषोवाजेन वाजिणी' के स्वर-सयोजन का गुरुदेव ने निश्चय किया। वैदिक मत्र के शब्दो के उदात्त और अनुदात्त स्वरो के चिह्नस्वरूप शब्दो के ऊपर और नीचे खडी और आडी रेखा अकित कर उन्हे समझाया जाता है। उसी नियम के साथ सामजस्य रखकर भैरवी रागिनी मे स्वर-सयोजन हेतु वे प्रवृत्त हुए। उन्होने इसकी रचना निर्धारित मात्रा के छन्द मे नहीं की, मत्र-आवृत्ति के छन्द मे इसकी रचना हुई, उदात्त और अनुदात्त स्वरों के साथ मेल रख कर आरोहण-अवरोहण निश्चित किया है, भैरवी थाट को कायम रखकर रागिनी के इस प्रकार आरोहण-अवरोहण के माध्यम से भी उस मत्र का गाम्भीर्य अव्याहत है, मत्र का 'सुर' सुनकर लगेगा कि यह विदेशी ढग के अनुकरण से रचित है। इसी वर्ष वर्षा के समय जब गुरुदेव गान-रचना मे मग्न थे, तब एक दिन मैने उनके समक्ष यह इच्छा व्यक्त की कि उस मत्र के ढग से बगला गान की रचना की जा सकती है क्या? उसी की परीक्षास्वरूप उन्होने उस मत्र के ढग से 'आज बरषार रूप हेरि मानवेर माझे' का मिश्र यमन में स्वर-सयोजन किया। रचना के पूर्व उन्होने कविता के कई शब्दो के ऊपर व नीचे खडी व पडी रेखा अकित कर दी थी, किन्तु किस नियम से उन्होने ऐसा किया था, कहा नहीं जा सकता। अतत, इस गान में वे वैदिक मत्र के ढग का अविकल व्यवहार नहीं कर सके, इसमे निर्धारित छन्द रखा गया, जिसका प्रयोग मत्र में नहीं किया गया। इसके अलावा 'सुर' (रागिनी) को काफी सयत किया गया था, क्योकि इस प्रकार की बगला कविता मे निबद्ध 'सुर' मे द्रुत आरोहण-अवरोहण सुनने मे अच्छा नहीं लगता। किन्तु निर्धारित छन्द के माध्यम से भी 'सुर' के आरोहण-अवरोहण का परिचय इस गान की विशेष उल्लेखयोग्य बात है।

'खेया' की कविता 'आमार गोधूलिलगन एल बुझि काछे' को गीत रूप १३२६ बगाब्द (ई १९१९) के कुछ पूर्व यमन-पूरबी राग मे दिया गया। मैंने अन्यत्र कहा है कि प्रकृति के साथ राग-रागिनी के सामजस्य का जो नियम हमारे देश मे इतने वर्षो से चला आ रहा है, उसे व्यर्थ ही तोडने के पक्षपाती वे नहीं थे, गोधूलि बेला के साथ दिन के अवसान का जो शान्त भाव प्रकट होता है, उसकी विशेष परिपोषक है पूरबी रागिनी, ऐसी उनकी मान्यता थी। इसीलिए उन्होने इस गान को इस रागिनी मे निबद्ध किया। यह कविता काफी बडी है और शब्दो के साथ विविध रूपो मे यह रागिनी प्रवाहित है।

'गीताजलि' गान की पुस्तक रूप मे परिचित होते हुए भी इसकी कई कविताएँ वस्तुत गान नहीं हैं। कविताओ की श्रेणी मे ही थे 'हे मोर चित पुण्यतीर्थे' और 'येथाय थाके सबार अधम दीनेर हते दीन' गान। १३३३ बगाब्द (ई १९२६) के पौष माह की सप्तमी के उत्सव पर इन दो कविताओ को गाने की इच्छा जाग्रत हुई, इसीलिए इन्हे रागिनी मे निबद्ध किया गया। 'हे मोर चित' गान को प्रभाती रागिनी मे और 'येथाय थाके' गान को भैरवी रागिनी में बिठाया गया।

'बलाका' की कविता—'तुमि कि केवलि छति' और 'पूरबी' की कविता 'आनमना आनमना' को स्वर-सयोजन द्वारा गान रूप १३३८ बगाब्द (ई १९३१) मे कलकत्ता मे 'शापमोचन' नृत्यनाट्य की प्रथम बार प्रस्तुति के समय दिया गया। नाटक के राजपुत्र के छवि देखने के अभिनय के लिए इस कविता के जितने अश की आवश्यकता थी, उसी अंश के लिए स्वर-सयोजन किया गया। 'पूरबी' की कविता की सहायता से राजकुमार ने अपनी मनोवासना राजकुमारी के समक्ष प्रकट की थी। 'छवि' कविता का राग था मिश्र कान्हडा, 'पूरबी' की कविता कीर्तन की धुन मे निबद्ध थी। 'शिशु' (१३१० बगाब्द, ई १९०३) की कविता 'तोमार कटितटेर धटि के दिल रागिया' को शिशुओ के नाच के लिए १३३८ बंगाब्द (ई १९३१) मे 'सुर' दिया गया। गान के साथ वह नाच उस वर्ष ही वर्षा के समय कलकत्ता के 'वर्षामगल' और 'शिशु-तीर्थ' उत्सवो मे प्रथम बार अनुष्ठित हुआ।

१३४० बंगाब्द (ई १९३३) के फाल्गुन मास मे बडी कविताओ को राग-रागिनी मे निबद्ध करने की प्रवृत्ति उनके मन मे जाग्रत हुई थी। उसी माह के अन्तिम सप्ताह मे उन्होने 'महुया' की सात कविताओ को 'सुर' (राग या धुन) मे निबद्ध किया—कीर्तन की धुन मे 'आजि ए निराला कुंजे', मिश्र परज, वसन्त भैरवी राग मे 'अजाना खनिर नूतन मणिर गेथेछि हार'। इस गान मे सब रागिनियो का एक अद्‌भुत सामजस्य उन्होने दिखाया है। खमाज राग मे जोरदार ढंग के गान की रचना की है—'आमरा दुजना स्वर्ग-खेलना गडिब ना', भैरवी मे 'प्रागणे मोर शिरीष शाखाय', मिश्र देश मे 'आरो किछुक्षण ना हय बसियो काछे', मिश्र सारग मे 'बाहिर पथे विवागी हिया किसेर खोजे गेलि', पीलू रागिनी में 'आमार नयन तव नयनेर निविड छायाय'। बडी कविता में स्वर-संयोजन की दृष्टि से ये गान उनकी रचना के बहुत ही अच्छे निदर्शन हैं।

'महुया' के 'आमार नयन तव नयनेर' गान के साथ 'परित्राण' नाटक के गान 'आमार नयन तोमार नयनतले मनेर कथा खोजे' का भावगत मेल है। 'परित्राण' का गान आकार

मे काफी छोटा है एव उसकी रागिनी है छायानट। उसी प्रकार 'महुया' के गान 'अजाना खनिर नूतन मणिर गेथेछि हार' के साथ 'काहार गलाय पराबि गानेर रतनहार' गान का भावगत ऐक्य दिखाई देता है। 'महुया' की कविता को जिस रागिनी मे निबद्ध किया, 'काहार गलाय पराबि' के लिए वह रागिनी उपयुक्त नहीं सिद्ध हुई, अत उसे भैरवी मे रखा, 'अजाना खनिर नूतन मणिर' गान के स्वर-सयोजन मे भी विदेशी आदर्श की छाप दिखाई देती है। इस ओर 'काहार गलाय पराबि' गान मे प्रचलित हिन्दी गान के आदर्श से स्वर-सयोजन किया गया है। ये दो गान और 'महुया' की दो कविताओ का स्वर-सयोजन एक ही वर्ष का रचना-कार्य है।

१३३४ बगाब्द (ई १९२७) में 'ऋतुरग' गीतनाट्य मे 'ओगो किशोर आजि तोमार द्वारे पराण मम जागे' कविता की गुरुदेव ने आवृत्ति की। उनके सभी गानो मे पक्ति हिसाब से सबसे बडा यह गान था। १३४५ बगाब्द (ई १९३८) के चैत्र मास मे उन्होने इस कविता मे स्वर-सयोजन किया। इसमे यमन, पीलू, खमाज और कान्हडा का मिश्रण हुआ है और ताल है तेवडा। इतना बडा गान गाते समय बीच मे एक बार भी प्रथम पक्ति पर लौटा नहीं जाता।

वार्धक्य मे गुरुदेव ने इसी आदर्श से बडे गानो मे स्वर-सयोजन किया था एव इसी समय कुछ छोटे गानो की भी इसी आदर्श से रचना की थी। किन्तु प्रथम पक्ति की पुनरावृत्ति न करने को लेकर बाद मे वे इतने कठोर नहीं थे। ध्रुपद के नियम से सुरगठन न करते हुए भी कई गानो मे प्रथम पक्ति पर लौटकर उसे गाया जाता है। वार्धक्य मे रचित बडे-छोटे सभी गानो मे इसी प्रथा का चलन रहा। यहॉ जिन गानो को लेकर मैने आलोचना की, वे सब तो नहीं, और भी कई गान हैं। इसके बाद उन्हे सुनकर समझने मे किसी प्रकार की असुविधा होगी, ऐसा मुझे नहीं लगता, इसीलिए और नामो की तालिका देकर इस परिच्छेद के आयतन मे मैंने वृद्धि नहीं की है।

यह प्रश्न उठ सकता है कि इस अध्याय मे आलोचित गानों के साथ गुरुदेव के अन्य गानो का पार्थक्य कहॉ है। मैने पहले ही कहा है कि भाषा के साथ 'सुर' का और छन्द का जिस प्रकार मिलन उनके अन्य गानो मे दिखाई देता है, वैसा इनमे भी है, किन्तु आकार मे छोटे गानो की रचना मे जो सुविधा है, वैसी सुविधा बडे गानों की रचना मे नही है। उसमे अधिकतर दक्षता का प्रयोजन है। गुरुदेव के लिए विशेषतया वृद्धावस्था मे, बडी कविताओ मे विविध रागिनियो का स्वर-सयोजन करना आवृत्ति के समान सहज हो गया था। इसीलिए 'श्यामा' और 'चण्डालिका' के समान गीतनाट्य मे स्वर-सयोजन करना उनके लिए बिलकुल ही कष्टकर नहीं हुआ।

किन्तु यहॉ यह जान लेना उचित है कि कोई यह न सोचे कि उन्होने 'सुर' (रागिनी, धुन) का कविता के अनुचर के समान व्यवहार किया है। वे जानते थे कि कविता जिस प्रकार हृदयावेग की भाषा है, राग-रागिनी (सुर) भी उसी प्रकार हृदयावेग की भाषा है। यदि कविता और रागिनी मे भावो का मेल मिलता है तो उस रागिनी का उस कविता मे व्यवहार करना अन्याय नहीं, वरन् कविता के भाव अधिक घनिष्ठ रूप से अनुभव किए जा सकेगे।

स्वदेशी गान

भारतवर्ष मे ब्रिटिश शासन-काल मे स्वदेशी गान का पहली बार सुस्पष्ट इगित हिन्दूमेला के युग मे, ई १८६७ से मिला। इस समय हम अपनी शक्ति के प्रति, अपनी सस्कृति के प्रति अविश्वास और अश्रद्धा का भाव पोषण करने के अभ्यस्त हो गए थे। लगता है कि इस प्रकार के निर्जीव नैराश्य का भाव दूर करने की प्रचेष्टा को लेकर ही हिन्दूमेला-आन्दोलन का उद्‌भव है। बाहर से इस आन्दोलन का रूप आज की तुलना मे अत्यन्त नगण्य है। किन्तु उन दिनो बगाल के कई मनीषी ही इस आन्दोलन के साथ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध थे अथवा उनकी इसके प्रति सहानुभूति थी। गुरुदेव के परिवार के सभी सदस्य इस सम्बन्ध में उत्साही थे। इस हिन्दूमेला के प्रयास से ज्योतिरिन्द्रनाथ के सम्पादकत्व मे ई १८७६ मे 'जातीय सगीत' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई। उस पुस्तक मे द्विजेन्द्रनाथ, सत्येन्द्रनाथ, ज्योतिरिन्द्रनाथ, गुणेन्द्रनाथ, गोविन्दचन्द्र राय प्रभृति के लेख एव भारतमाता, सुरेन्द्रमोहिनी, सरोजिनी-नाटक नीलदर्पण प्रभृति ग्रथो से सग्रहीत प्राय उनतीस राष्ट्रीय सगीत हैं। इनका पाठ करने से पता चलता है कि उस समय के शिक्षित व्यक्ति ऐसा सोचने लगे हैं कि वे जिस ढग से जीवन बिता रहे है, वह ठीक मनुष्य के समान जीवनयापन करना नहीं है। इसीलिए इन गानो मे अन्य देशो के साथ स्वदेश की तुलना की गई है और अपने देश की हिन्दू गौरवगाथा का वर्णन किया गया है, यह वस्तुत देशवासियो को उद्‌बुद्ध करने की चेष्टा है।

उपर्युक्त युग के कुछ गानों से आज भी कई व्यक्ति सुपरिचित हैं, यथा, हेमचन्द्र का 'बाज् रे शिंगा बाज एइ रबे', गोविन्दचन्द्र का 'कतकाल परे बल भारत रे', और सत्येन्द्रनाथ ठाकुर का 'मिले सबे भारतसन्तान'। इनमे सत्येन्द्रनाथ ठाकुर के इस गान ने किस प्रकार के उत्साह का सचार किया था, इसका पता बकिमचन्द्र की प्रशस्ति से चलता है। 'बगदर्शन' मे उन्होने कहा है, "यह गान भारत के सभी अचलो मे ध्वनित हो,—बीस करोड भारतवासियो का हृदय-तत्र इसके साथ झकृत हो।" राजनारायण बसु ने कहा था, "सत्येन्द्रबाबू ने स्वदेश प्रेमोत्तेजक गीतो की रचना कर इस (स्वदेशी गान का) अभाव को कुछ अशो मे दूर किया है।" इस गान मे भी भारत के प्राचीन हिन्दू गौरव की बात कही गई है। हिन्दूमेला की स्वादेशिकता की आबहवा, इसके अलावा 'जीवनस्मृति' पुस्तक मे उल्लिखित सजीवनीसभा की आबहवा मे गुरुदेव ने उस अल्पायु मे कुछ कविताओ और गानो की रचना की थी, यह हम जानते हैं। उस समय से ही उनके गानो मे हिन्दूगौरव के उल्लेख की अपेक्षा निर्भय चित्त की उन्मत्तता, सघबद्धता की शक्ति मे शब्दो की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। सजीवनीसभा के उपलक्ष्य मे रचित उनका

गान 'एकसूत्रे बॉधा आछि' एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उन्होने इसी समय मे कुछ और गानो की रचना की थी, जैसे, 'तोमारि तरे मा सॅपिनु ए देह', 'अयि विषादिनी वीणा' और 'भारत रे तोर कलकित परमाणुराशि'। यौवन के प्रारम्भ मे, अर्थात् १२९१ बगाब्द (ई १८८४) के मध्य मे गुरुदेव ने और कई स्वदेशी सगीत की रचना की थी, किन्तु उनमे प्राय सभी रचनाओ को अक्षम, अपरिपक्व मानकर परवर्ती काल मे प्रकाशित गान पुस्तक मे उन्हे शामिल नहीं किया। यहॉ उन गानो के नामो का उल्लेख कर रहा हूँ—'ढाको रे मुखचन्द्रमा', 'ए कि अन्धकार ए भारतभूमि', 'मायेर विमल यशे', 'देशे देशे भ्रमि तव यशोगान गाहिये', 'ओ गान आर गास् ने गास् ने', 'शोनो शोनो आमादेर व्यथा'।

मेरे मतानुसार इन सब गानो मे 'एकसूत्रे बॉधा आछि' गान सबसे अच्छा और उल्लेखयोग्य रचना है एव यह चिरकाल के मानव के गान के रूप मे सम्मान पाने के योग्य है—भाव, भाषा ओर स्वरसज्जा की दृष्टि से। 'शोनो शोनो आमादेर व्यथा' गान की रचना माघोत्सव के गान के रूप मे १२९१ बगाब्द (ई १८८४) मे हुई। बाद मे इस गान को 'जातीय-सगीत' मे स्थान मिला।

इसके पश्चात् १२९९ बगाब्द (ई १८९२) तक जिस स्वदेशी-सगीत की रचना गुरुदेव ने की, उनमे कुछ हैं

'आगे चल् आगे चल् भाई'
'आनन्दध्वनि जागाओ गगने'
'आमरा मिलेछि आज मायेर डाके'
'अमाय बोलो ना गाहिते बोलो ना'
'एकबार तोरा मा बलिया डाक'
'तबु पारि ने सॅपिते प्राण'

इनमे दो गानो—'आगे चल्' और 'तबु पारि ने सॅपिते प्राण' की रचना १२९३ बगाब्द (ई १८८६) के एक छात्र-सम्मेलन के उपलक्ष्य मे की गई। इन्हे उन्होने स्वय गाया था। 'आमरा मिलेछि आज मायेर डाके' गान को इसी वर्ष के कलकत्ता के द्वितीय काग्रेस अधिवेशन मे उन्होने स्वय गाकर सुनाया। 'एकबार तोरा मा बलिया डाक' गान की रचना मूलत तीन समाजो के ब्राह्मो की एकत्र उपासना—१२९२, माघ नवमी (ई १८८५) के उपलक्ष्य मे की गई। इसके पहले के वर्ष से कलकत्ता के तीन ब्राह्म समाजो के सम्मिलन का प्रयास हुआ था—इस सम्मेलन के उपलक्ष्य मे ही जोडासॉको-निवास पर एक उपासना-सभा का आयोजन हुआ। गुरुदेव ने इस उपलक्ष्य मे ही इस गान की रचना की और सुना जाता है कि इसे उन्होने स्वय गाया था।

बकिमचन्द्र के विख्यात गान 'वन्देमातरम्' गान के सम्बन्ध मे यहॉ कुछ कहना है। इसे स्वदेशी गान के रूप मे पहली बार सुप्रचलित गुरुदेव ने किया। सुना जाता है कि उन्होने १२९२ बंगाब्द (ई १८८५) में देश रागिनी मे इस गान का स्वर-सयोजन किया था। बकिमचन्द्र की उपस्थिति मे किसी एक सभा मे उन्होने इसे गाकर उन्हे सुनाया था एव

१३०३ बगाब्द (ई १८९६) के काग्रेस में उन्होने इसका गान किया था। वर्तमान भारतीय काग्रेस मे 'वन्देमातरम्' का जो अश गाया जाता है, गुरुदेव ने मात्र उसी अश के लिए स्वर-सयोजन किया था। गुरुदेव प्रदत्त 'सुर' (स्वर-सयोजन) आशिक परिवर्तन सहित क्रमश देश मे फैल गया था। बकिमचन्द्र ने स्वय इसे मल्हार राग और कव्वाली ताल मे बिठाया था, सुना जाता है कि वे अपने बन्धुओ के समक्ष इसे गाकर सुनाते थे। किन्तु बकिम-प्रदत्त स्वर-सयोजन कहीं सुनाई नहीं देता। बगभग-आदोलन के समय इसमे कई प्रकार के नये 'सुर' जोडे गए थे, एव गत कुछ वर्षों मे कुछ नया स्वर-सयोजन भी किया गया है। गुरुदेव प्रदत्त 'सुर' (रागिनी) और अन्यो के 'सुर' (स्वर-सज्जा) मे पार्थक्य यह है कि गुरुदेव ने 'देश' रागिनी की सहायता से गान मे भक्ति का आवेग जाग्रत किया है, जबकि अन्यो मे अधिकतर ने स्वर-सयोजन के समय सैन्यदल की कूच-ध्वनि की बात ही सोची, लगता है। १३१० बगाब्द (ई १९०३) तक उन्होने 'अयि भुवनमनोमोहिनी', 'के एसे जाय फिरे फिरे', 'आजि ऐ भारत लज्जित हे', 'जननीर द्वारे आजि ओइ', 'नव वत्सरे करिलाम पण', हे भारत आजि नवीन वर्षे' जैसे कुछ राष्ट्रीय गानो की रचना की।

गुरुदेव के जीवन मे १३१२ बगाब्द (ई १९०५) के बगभग-आन्दोलन के समय स्वदेशी गान की जो बाढ आई थी, वह युग स्वदेशी गान-रचना के इतिहास का एक प्रधान अध्याय है। इस समय के गानो की अकृत्रिमता और उन्मत्तता अधिक प्रस्फुटित हो उठी थी। स्वदेशी युग मे लिखे गए गुरुदेव के गानों के सम्बन्ध मे रामेन्द्र सुन्दर ने कहा था, "'एबार तोर मरा गांगे बान एसेछे' गान सुनकर कइयो के मन मे यह प्रवृत्ति जाग्रत हुई है कि नदी में नौका का सचरण किया जाय या गगा के तल मे डुबकी लगाई जाय।" उन दिनों यह उन्मत्तता ही प्रमुख थी, क्योकि देश के लिए कष्ट उठाने, आवश्यकता होने पर मृत्यु का भी निर्भय होकर वरण करने की प्रवृत्ति यदि जाग्रत नहीं होती तो राष्ट्रीय आत्मचेतना के भारतव्यापी विस्तार मे और भी विलम्ब होता। स्वदेशी युग मे उन्होने और भी कई गानो की रचना कर देशवासियो के अन्तर मे उन्मत्तता जाग्रत की है, उन्हे निर्भय, आत्मनिर्भर करने की चेष्टा की है।

स्वर-सयोजन की दृष्टि से गुरुदेव के स्वदेशी गानो मे दो धाराएँ परिलक्षित होती हैं, बगभग-आंदोलन के पहले तक अपने गानो मे वे हिन्दी राग-रागिनी मे स्वर-सयोजन करने के पक्षपाती थे, अत उन्होने राग-रागिनियो को यथासम्भव कायम रखते हुए ही सब गानो की रचना की है। केवल दो गानो, यथा, कीर्तनाग धुन में 'एकबार तोरा मा बलिया डाक' और रामप्रसादी प्रथा मे 'मिलेछि आज मायेर डाके'—मे बगाल की निजस्व धुनो का रूप मिलता है। स्वदेशी आन्दोलन के समय से ही पहली बार बाउल, सारि आदि बगाल की निजस्व धुनो का प्राधान्य प्रबल रूप से दिखाई दिया था। परवर्ती जीवन मे इन सब गानो ने उनके जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया है, इस सम्बन्ध में मैंने विस्तृत आलोचना की है।

बगभग-आन्दोलन के परवर्ती काल के गानों के स्वर-सयोजन की ओर ध्यान देने पर दिखाई देता है कि उन्होने बाउल धुन में गान-रचना की और चेष्टा नहीं की। मुझे

ऐसा लगता है कि इसका कारण था भाषा, क्योकि बाउल धुन के गानो मे वे साधारणतया सयुक्ताक्षर-बहुल शब्दो का व्यवहार नहीं करते थे, बाउलो के समान ही सहज शब्दो की भाषा उस धुन का अवलम्बन था। प्रथम से १३१० बगाब्द (ई १९०३) तक गुरुदेव ने कुल प्राय २४ राष्ट्रीय संगीत की (राष्ट्रीय गानो की) रचना की थी, जिनमे बाउल धुन का गान एक भी नहीं था, किन्तु १३१२ बगाब्द (ई १९०५) के बगभग-आन्दोलन के समय बाउल धुन के गानो की सर्वाधिक रचना की। कुल बाईस गानो मे बाउल धुन मे रचित गानो की सख्या दस थी।

इस वर्ष के राष्ट्रीय सगीत की रचना के बाद गुरुदेव के राष्ट्रीय सगीत के जीवन मे एक अद्भुत परिवर्तन आया। इसके बाद उनके मन मे इस प्रकार के गानो की रचना के प्रति वैसा उत्साह दिखाई नहीं दिया। सख्या की दृष्टि से परवर्ती जीवन का राष्ट्रीय सगीत बहुत कम है। इसके अलावा महात्मा गाधी प्रवर्तित असहयोग आन्दोलन के उपलक्ष्य मे उन्होने इस युग मे एक गान की भी रचना नहीं की। बगभग-आन्दोलन के बाद से गुरुदेव ने जिन कुछ राष्ट्रीय सगीत की रचना की, उनमे 'जनगणमन' और 'देश-देश नन्दित करि' को छोड कर अन्य सब गानो की रचना उपासना या शान्ति-निकेतन के विविध प्रकार के अनुष्ठानो के उपलक्ष्य मे की गई। इनमे 'संकोचेरे विह्वलता निजेरे अपमान', 'सर्व खर्वतारे दहे', 'शुभ कर्मपथे धरो' आदि गानों से कई परिचित हैं। इसके अलावा अधिकतर गानो की रचना बाउल के समान सहज भाषा और धुन मे न कर उन्होने इन गानो मे सस्कृत-बहुल, सयुक्ताक्षरविशिष्ट गम्भीर प्रकृति के शब्दो और गम्भीर रागिनी का व्यवहार किया है। गुरुगम्भीर रागिनी ध्वनिबहुल सयुक्ताक्षर शब्दो के लिए ही उपयुक्त है।

बगभग-आन्दोलन के समय के गानो मे जो सहज आवेग धुन और शब्द मे अभिव्यक्त हुआ था, परवर्ती गानो मे वैसी बात नहीं थी।

बकिमचन्द्र का गान 'वन्देमातरम्' हमारे समक्ष मातृपूजा का पक्ष ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बनाता है। देशवासियो को मातृपूजा का व्रत लेने हेतु प्रेरित करना ही जैसे उसका प्रधान लक्ष्य है, "पवित्र स्वदेशप्रेम दीपशिखा के समान स्वर्ग की ओर, भगवान् की ओर, उत्थित, समर्पित करता है।" गुरुदेव के काव्य 'नैवेद्य' मे और उसके परवर्ती राष्ट्रीय सगीत मे इसी बात का परिचय मिलता है। 'जनगणमन अधिनायक जय हे' की रचना १३१८ बगाब्द (ई १९११) मे हुई, इसके बाद ही इसे प्रसिद्धि मिली एव यह राष्ट्रीय सगीत के हिसाब से गण्य हुआ और गाया गया। एक बगाली मनीषी ने कहा था, "स्वदेश प्रेम मनुष्य को स्वदेश के साथ जोडता है"। गुरुदेव के परवर्ती जीवन के राष्ट्रीय सगीत मे धर्म का भाव और स्वदेश प्रेम एकीभूत हुआ है और उस सगीत ने मानवमात्र के अन्तर मे स्थान बनाया है। "ओ आमार देशेर माटि तोमार 'परे ठेकाई माथा" गान मे उन्होने 'विश्वमाता के ऑचल' की जो बात कही है, उसमें उनका देशप्रेम कितने उच्चस्तर पर है, समझा जा सकता है। 'हे मोर चित्त पुण्य तीर्थे' गान मे भी सकीर्णता को प्रश्रय नही दिया गया है, उदार महाभारत की बात हमें सुनाकर उन्होने हमारे मन को महत्तर भारत की कल्पना का बोध कराना चाहा है।

गान के क्षेत्र मे बगाल की स्वादेशिकता का बडा अवदान है पौरुष का तेज, गुरुदेव की रचनाओ मे इसकी श्रेष्ठ अभिव्यजना दिखाई देती है। स्वदेश के सम्बन्ध मे उनकी समस्त रचनाओ का मूल सुर है निर्भीकता, गानो मे भी वैसी ही बात है। जब तक हम आत्मशक्ति मे अपने को दुर्बल समझेगे, तब तक हम असहाय रहेगे, खुद को बलहीन मानना ही मनुष्य की सबसे बडी पराधीनता है, इस बन्धन से जब मनुष्य मुक्ति पा जाता है, तब किसी प्रकार का बन्धन उसे बन्धन नहीं लगता। गुरुदेव के राष्ट्रीय सगीत मे मुक्ति का यह सुर ही ध्वनित हुआ है। 'सुर' (रागिनी, धुन), शब्द और छन्द के एक साथ विचार से यह बात नि सन्देह कही जा सकती है कि 'सार्थक जनम आमार', 'यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे', 'निशिदिन भरसा राखिस' एव 'आपन जने छाडबे तोरे' गान 'वन्देमातरम्' किवा 'जनगणमन अधिनायक जय हे' गानो की अपेक्षा उच्च स्थान पाने के योग्य है, क्योकि पूर्वोक्त गान सर्वकाल के, मानव की मुक्ति के गान हैं, भाव, 'सुर' और छन्द मिलाकर इनका जो गान-रूप दिखाई देता है, उसका प्रयोजन कभी कम हो सकता है, विश्वास नही होता। वार्धक्य की शेष अवधि मे उन्होने उद्दीपन-प्रधान जिस सगीत की रचना की थी, उनमे 'सकोचेर विह्वलता निजेरे अपमान', 'खरवायु बय वेगे चासि दिक छाय मेघे', और 'शुभ कर्मपथे धरो निर्भय गान' उल्लेखयोग्य है। इन कुछ गानो से हम समझ सकेगे कि उनके स्वदेश प्रेम ने देश को किस प्रकार की प्रेरणा से उद्बुद्ध किया था, जिसके फलस्वरूप ये गान भी मानव के चिरकाल के जागरण के गान हो गए थे।

वर्तमान काल मे किसी-किसी लेखक ने गुरुदेव के गानो मे 'हिन्दू भावाप्लावन' अनुभव किया है। उनके मतानुसार गुरुदेव के स्वदेशी गानो की यह एक त्रुटि है। किन्तु ऊपर मैंने जिन गानो का उल्लेख किया है, वे और इसी जाति के अन्यान्य कई गान क्या स्वदेशी गान नहीं हैं ? ये सब गान क्या स्वदेशी गान के रूप मे समालोचना के योग्य नही है ? किसी भी धर्म के, किसी भी प्रदेश के लोग क्या निर्विवाद रूप से इन्हे गा नहीं सकते ? केवल एक पद्धति के कुछ गानो को उदाहरणस्वरूप रखकर गुरुदेव के स्वदेशी गानो पर विचार करना गुरुदेव के प्रति अन्याय करना होगा। वरन्, धर्म और प्रदेश की सीमा से ऊपर उठकर या निरपेक्ष भाव से उन्होने सार्वकालिक मानव के गानो की ही सर्वाधिक सख्या मे रचना की है, जिस प्रकार का रचना-कार्य आज तक अन्य कोई भारतीय कवि कर सका है, सुना नहीं गया।

ऋतुसंगीत

गुरुदेव मानते थे कि आनन्द की साधना के लिए प्रकृति मनुष्य का एक बडा अवलम्बन है। प्रकृति ऋतु-ऋतु मे हमारे चारो ओर जिस सौन्दर्य या आनन्द का वितरण करती है, वह हमारे भोग के लिए ही है। यदि हम उसे ग्रहण न करे तो हम मन के एक अति प्रयोजनीय खाद्य से वचित होते हैं। गुरुदेव प्रकृति के इस सत्य का हमे बार-बार स्मरण करा गए है। किन्तु प्रश्न यह है कि उन्होने स्वय अन्तर की उपलब्धि से यह सत्य प्रकट किया था, या यह उनकी बुद्धिजात कल्पना थी, या हमारे प्राचीन भारत के ऋषियो से यह चिन्तन ग्रहण कर हमे उससे अवगतमात्र कराया था। यदि उन्होने अन्तर की अनुभूति से ही इस सत्य की उपलब्धि की है तो उन्हे यह अनुभूति किस प्रकार हुई ? इस प्रश्न का ही उत्तर मैंने गुरुदेव के ऋतुओ के गान से पाने की चेष्टा की है।

किसी व्यक्ति को अनजाने मे यदि आघात लग जाए तो स्वत ही उसके कठ से आर्तनाद का स्वर निकलता है। किन्तु इस आर्तनाद के लिए उसका मन आघात के क्षण हेतु प्रस्तुत भी नहीं था। वह जानता भी नहीं था कि उसे आर्तनाद करना होगा एव वेदना मे आर्तनाद के समय भी वह समझ भी नहीं पाता कि वह आर्तनाद कर रहा है। यह स्वत स्फूर्त आर्तनाद मनुष्य के हृदयावेग को स्पष्ट और सरल भाव से प्रकट करता है, इसीलिए वह अन्य के अन्तर को भी गभीरभाव से उद्वेलित करता है। इसी कारण हम अन्य व्यक्ति की किसी भी प्रकार की वेदना की कातरता से आन्तरिक व्यथा अनुभव करते है।

चिन्तनशील व्यक्ति सगीत को भी अन्तर की उसी प्रकार की अज्ञात वेदना की स्वत स्फूर्त अभिव्यक्ति मानते है। इस वेदना के सुर के प्रकाश के लिए भी स्रष्टा-शिल्पी का मन पहले से तैयार नहीं रहता, वह समझ भी नहीं सकता। हठात् न जाने किस वेदना के कारण स्वत ही उसका अन्तर गा उठता है या अपने हृदय की वेदना को गान के 'सुर' मे बाहर प्रकट करता है। इसीलिए गान मनुष्य के हृदयावेग को सरल और सहज रूप में प्रकट करने का एक उत्कृष्ट अवलम्बन है। बुद्धि और चिन्तन के अनजाने मे ही आघात की वेदना जिस प्रकार मनुष्य के कठ से आर्तनाद रूप मे प्रकट होती है, उसी प्रकार सगीत की सहायता से मनुष्य का हृदयावेग भी मनुष्य की बुद्धि या ज्ञान के अनजाने मे ही अपने को प्रकट करता है। इसीलिए उसे मै निर्मल आनन्द रूप मे देखता हूँ एव मै अनुभव करता हूँ कि गान का वह स्वत स्फूर्त आवेग भी अन्यो के मनहरण की असीम क्षमता रखता है।

गुरुदेव के विविध हृदयावेग का यदि ठीक परिचय पाना हो तो उसका सर्वाधिक अच्छा

उपाय है उनके गान। ऋतुओ के सम्बन्ध में उनके चिन्तन को जानना हो या यह अनुभव करना हो कि बगाल की छह ऋतुओ ने उनके अन्तर को किस प्रकार आनन्दित किया है, तो उनके ऋतु-गानो को अच्छी तरह सुनना होगा। इसके अलावा इन सब गानो की विस्तृत आलोचना करने पर पता चलेगा कि गुरुदेव के मन मे ऋतु के आनन्द ने सहज ही स्थान नहीं बनाया, इस आनन्द की उपलब्धि के लिए उन्हे विशेष प्रयास करना पडा था।

हम अपने जीवन से सर्वदा ही अनुभव करते हैं कि प्रकृति के अत्यन्त निकट परिवेष्टन मे रहते हुए भी मनुष्य मे उसके रस-वैचित्र्य की अनुभूति प्राप्त करने का सामर्थ्य नहीं होता। इसीलिए प्रकृति मन के अनुकूल होते हुए भी मन को भी उसके अनुकूल बनाना पडता है।

ऐसे सितार या इसराज का, जिसके तरब के तार मिले हुए नहीं हैं, एक मुख्य तार मिलाकर हम गान गाकर या गत बजाकर एक स्वर की आबहवा बना सकते है, किन्तु उससे बेसुरे तरब-तार गान के सुर मे कभी नहीं बजेगे। उसे (तरब को) गान के थाट मे मिलाना होगा। यह स्वर मिलाना ही हुआ तरब-तार के लिए (तडप के लिए) साधना। इस प्रकार ऋतु के आवेष्टन मे रहने से ही हमारा अन्तर ऋतु के अनुकूल सुर मे मिल जाएगा, ऐसा सोचना भूल है। साधना के द्वारा ही उसे सफल करना होगा। अर्थात् अनुकूल ऋतु के परिवेश में रहकर भी उस ऋतु के सुर मे जीवन बॉधने या एकाकार करने के लिए साधना की जरूरत है।

गुरुदेव के जीवन मे हम उसी प्रकार की साधना का परिचय पाते हैं। अल्पायु से ही उनके समक्ष विश्व प्रकृति की लीला उपभोग की वस्तु थी। उन्होने मुग्ध चित्त से उस ऋतु का, उसके वैचित्र्य का मन-प्राण से उपभोग करने की चेष्टा की है। प्रकृति की ऋतुलीला ने उनके प्राण मे, अन्तर मे आघात किया है, वे अभिभूत हुए हैं, किन्तु उसके साथ अपनी सत्ता को शुरू से एक सुर मे मिला नहीं पाए। बाद मे वे इसमे सफल हुए थे, किन्तु इसमे उन्हें बहुत समय लगा।

उनके जीवन के आरम्भ के ऋतु-गानो मे उन्होने ऋतु का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढग से किया है, किन्तु उनमें उनके अन्तर की अनुभूति के दर्शन नहीं होते। पुन , यह भी देखा गया है कि ऋतु ने उनके मन को कभी-कभी विरह-वेदना से अशान्त कर दिया है, किन्तु वहाँ वह विरह-वेदना ही उनके लिए मुख्य हो गई है। उनके मन की इस अवस्था के लिए अनुकूल कारण को भी उन्होंने गान में स्वीकार किया है, किन्तु उससे अधिक मर्यादा देना उन्होने गान मे स्वीकार किया है, किन्तु उससे अधिक मर्यादा देना उन्होने नहीं चाहा है। उनके लिए प्रकृति का प्रयोजन इतने तक ही सीमाबद्ध है। हृदय-वेदना का उद्रेक ही जैसें ऋतु का एकमात्र काम है। वह काम सम्पन्न हो जाने पर ऋतु का किसी प्रकार का प्रयोजन वे अनुभव नहीं करते थे। इस प्रकार ऋतु को उन्होने पृथक् रूप मे ही देखा है।

तीस वर्ष की आयु में उतरबंग स्थित अपनी जमींदारी के प्रबन्ध का भार ग्रहण कर

जब वे उस अचल मे निवास करने लगे, तब प्रथम बार प्रकृति को अच्छी तरह पहचानने का अवसर उन्हे मिला। वहॉ के वृक्ष, लता, शस्यपूर्ण प्रान्तर, ग्राम, वहॉ के आकाश, हवा, मैदान, कल-कल करती भरी नदियो के बीच उन्होने दस-बारह वर्ष बिताए। इस प्रकार प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने की उनकी साधना चलती रही। उस समय वहॉ की प्रकृति ने उनके मन में जिस रस का सचार किया था, उसकी अभिव्यजना बाद मे दिखाई दी, ४७ वर्ष की आयु मे लिखित 'शारदोत्सव' नाटिका के गानो मे। शारदोत्सव के समान सुन्दर ऋतु-गान इसके पूर्व नहीं मिलते। इन गानो मे ही यह बात प्रकट हुई कि वे ऋतु के साथ एक आतरिक योगसूत्र-स्थापना का शुभारम्भ कर सके थे।

४० वर्ष की आयु मे उन्होने शान्तिनिकेतन विद्यालय की स्थापना की, एव जमींदारी का पल्ली अचल त्यागकर वे स्थायी निवास की इच्छा से शान्तिनिकेतन आ गए। हम सभी जानते हैं कि बगाल के इस अचल की प्रकृति और उनकी जमींदारी के अचल की प्रकृति समान नहीं है। यहॉ की मिट्टी पूर्वबंग के समान सरस एव शस्यश्यामल नहीं है। यहाँ ग्रीष्म का ताप वहॉ की तुलना मे बहुत अधिक है। यहॉ की वर्षा की वृष्टिधारा उस अचल की वर्षा के समान अविराम नहीं है। शीत की तीव्रता यहॉ की तुलना मे वहॉ बहुत कम है। इसके अलावा शान्तिनिकेतन मे प्रत्येक ऋतु को जितना स्पष्ट रूप से अनुभव किया जाता है, वैसा वहॉ अनुभव नहीं होता। इसीलिए यहॉ की ऋतु मन को अधिक प्रभावित करती है।

पहले शान्तिनिकेतन निर्जन प्रकृति के आवेष्टन मे घिरी छोटी पल्ली के समान था। इसीलिए यहॉ निवास कर यहाँ की प्रकृति के साथ गुरुदेव के अन्तर का योग साधन करने का पथ सहज हो गया। उन्हे यहॉ अपने अनुकूल आबहवा मिल गई।

आकाश, हवा, प्रकाश, जल, वृक्ष, फूल, फल आदि की सहायता से ही हम ऋतु की लीला और उसका आना-जाना अनुभव करते हैं। इन उपक्रमो या सकेतो के बिना ऋतुओ के अस्तित्व का पता लगाना असम्भव है, क्योकि ऋतु का अपना कोई अलग रूप नहीं है। उपर्युक्त वस्तुओ के एक साथ विशेष परिवर्तन या विकास से हमारे मन पर जो क्रिया होती है, उसे ही हम कहेगे ऋतु का विकास।

एक ऋतु मे एक प्रकार के फूलो का, फलो का प्राचुर्य दिखाई देता है। सूर्यताप की प्रखरता कम-अधिक अनुभव की जाती है। हवा की उष्णता का तारतम्य होता है। ऋतु के निर्देश से कभी उत्तर, कभी दक्षिण, कभी पूर्व दिशा से हवा चलती है। एक ऋतु मे वृक्ष के पत्ते झरते हैं, नए पत्ते आते हैं। किसी ऋतु मे सूर्यताप से मिट्टी का रस कम हो जाता है, तब सभी कुछ सूखा लगने लगता है। पुन., और एक ऋतु मे आकाश में बादलो की घटा छा जाती है, प्रचुर वर्षा होने लगती है, मिट्टी की शुष्कता दूर हो जाती है तथा मैदान, प्रान्तर सभी सबूज, सरस हो उठते हैं। एक ऋतु मे फसल से खेत लहलहा उठते हैं, अन्य ऋतु मे उसकी कटाई कर घर मे रखना पडता है। वर्षा का कर्दमयुक्त जल अन्य ऋतु मे निर्मल हो जाता है। इस प्रकार कई विचित्र उपक्रमो द्वारा ऋतुचक्र हमारे मन को प्रभावित करता है। वास्तव मे प्रकृति की ऋतुलीला यहीं है।

गुरुदेव के वार्द्धक्य के ऋतु-गान सुनने पर लगेगा कि वे भी जैसे प्रकृति की ऋतुलीला की इस प्रकार की प्रयोजनीय वस्तु मे परिणत हो गए हैं। वृक्ष, फूल, फल, प्रकाश, हवा के समान उनका जीवन भी ऋतुलीला के विकास मे सहायता कर रहा है। प्रत्येक ऋतु जैसे गुरुदेव के गान के बिना असम्पूर्ण है। उन्होने ऋतु-ऋतु मे अपने गानो के फूल प्रस्फुटित किए है और उनकी सहायता से ही हमारे लिए ऋतु का आनन्द अनुभव करना सहज हो गया है। प्रकृति की ऋतुलीला को हमारे अन्तर मे अनुभव कराने के लिए फूल के समान ही ये गान स्वत स्फूर्त सहज सौन्दर्य मे विकसित हुए है।

१५-१६ वर्ष की आयु से गान-रचना शुरू कर शातिनिकेतन मे जीवन के आरम्भ अर्थात् ४० वर्ष की आयु तक गुरुदेव ने जितने गानो की रचना की, उनमे विशुद्ध ऋतु-सगीत की सख्या बहुत कम है। अर्थात् वर्षा के गान प्राय सात, वसन्त के गान तीन और शरद् का गान एक है तथा और एक गान मिलता है जिसमे उपरोक्त तीन ऋतुओ का वर्णन गान के तीन अशो मे किया गया है। इन बारह ऋतु-गानो मे वर्षा के सात गानो की रागिनियॉ हैं मल्हार-परिवार की। वसन्त के तीन गानो की रागिनियॉ है बहार और वसन्त। शरद् के गान की रागिनी है जोगिया-विभास। एक साथ तीन ऋतुओ के वर्णन के गान की रागिनी है शकराभरण। स्वर-सयोजन की दृष्टि से इसे उनकी अपनी रचना नहीं कहा जा सकता।

परवर्ती चालीस वर्षो मे गुरुदेव द्वारा रचित ऋतुसगीत की सख्या अधिक है। वहॉ भी देखा गया है कि साठ वर्ष की आयु तक वर्षा, शरद् और वसन्त ऋतुओ का ही प्रभाव है। किन्तु स्वर-सयोजन मे व्यतिक्रम दिखाई दिया है। पहले जिस प्रकार विशेषत वर्षा के गान को मल्हार मे ही निबद्ध करते थे, अब दिखाई देता है कि उन्होने इस प्रकार की दुर्बलता से अपने को मुक्त कर लिया है। इसके बाद से वर्षा के गान अन्यान्य रागिनियो मे निबद्ध होने लगे, जैसे यमन या यमनकल्याण, सिन्धु या सिन्धुकाफी, भूपाली, बिहाग, भैरवी इत्यादि मे। और ऐसा भी देखा गया कि शरद् की तपन, या शरद् की रौद्रछाया के गानो के लिए वे केवल जोगिया-विभास, कालिगडा, बिलावल, भैरवी आदि प्रात कालीन रागिनियो का ही व्यवहार करना नही चाहते। उन्होने इस प्रकार के गानो मे बगाल के लोकसगीत की धुनो को भी स्थान देने का प्रयास किया है। किन्तु वसन्त के गानो की रचना मे वे प्राय ५३ वर्ष की आयु तक बहार के प्रभाव से मुक्ति नहीं पा सके। इस समय मे रचित वसन्त ऋतु के आठ गानो मे छह गानो की रागिनी है बहार या मिश्र बहार।

१३२८ बंगाब्द (ई १९२१) से गुरुदेव के जीवन के शेष बीस वर्षो का आरम्भ है। अर्थात् उस समय उन्होने साठ वर्ष की आयु मे प्रवेश किया। ऋतु-गान की दृष्टि से यह काल विशेष उल्लेखयोग्य है। शान्तिनिकेतन में उनकी इस बीस वर्षीय साधना का यथार्थ परिचय इसी समय सामने आया। अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि इस समय से ही उनकी जीवन-व्यापी साधना की सार्थक परिणति दिखाई दी। इस समय से वे ग्रीष्म और हेमन्त के गानो की रचना करने लगे। इसके पूर्व उनके गानो मे इन दो ऋतुओ के गानो को स्थान नही मिला था। इस प्रकार के गानो को इस ऋतु-गान-शृंखला में प्रवेश

का अधिकार मिला। इसके सात वर्ष पूर्व १३२१ बगाब्द (ई १९१४) मे ५३ वर्ष की आयु मे उन्होने शीत के मात्र दो गान लिखे थे, किंतु इस बार नवीन अनुभूति से शीत के पुन नवीन गानो की रचना वे करने लगे। ४७ वर्ष की आयु मे शारदोत्सव-गान की रचना के समय ऋतु श्रेणी के गानो ने एक विशेष मोड लिया, फिर भी पथ के अतिम लक्ष्य का निर्देश १३२८ बगाब्द (ई १९२१) मे मिला।

इस समय से ही प्रकृति के साथ उनके अन्तर के गभीर योग का परिचय सामने आया, जैसे प्रकृति अपने मन का रहस्य नि सकोच गुरुदेव को सुना रही है, गुरुदेव का वेदनामय चित्त इन सब बातो से उद्वेलित हो उठा है। इसके अलावा इन शेष बीस वर्षो मे जितने ऋतु-गानो की रचना की है, सख्या की दृष्टि से भी वे पूर्वकाल की रचना से काफी अधिक है। यह भी देखा गया है कि गानो के स्वर-सयोजन की दृष्टि से उनके मन मे किसी प्रकार की द्विधा नहीं थी, इसीलिए इस समय के ऋतु-गानो में राग-रागिनी का वैचित्र्य सुनाई दिया।

अन्तर-अन्तर मे वे किस परिमाण मे बगाली थे, उनके ऋतु-गान इसके उत्कृष्ट प्रमाण हैं। कुछ विचार करने पर पता चलेगा कि इस प्रकार के गानो की रचना मे मात्र शान्तिनिकेतन और उत्तरबग की पद्मा के अचल की प्रकृति ने उन्हे अनुप्राणित किया था। उनके छह ऋतु-गान इन दो अचलो की प्रकृति को लेकर ही रचित है। बगाल के इस अचल मे कोई पहाड नहीं है, समुद्र नहीं है, इसीलिए ऋतु विषयक उनके गानो मे पहाडी या सामुद्रिक अचलो की ऋतुओं का वर्णन नहीं मिलेगा। पृथिवी के न जाने कितने देशो के कितने पहाड, वन, नद-नदी-युक्त अचलो के ऋतुवैचित्र्य का स्वाद उन्होने लिया है, किन्तु इनमे से कोई भी उनके मन मे गान की वेदना जाग्रत नहीं कर सके। वह वेदना जाग्रत की केवल बगाल की सरल, शान्त, उदार प्रकृति ने।

उद्दीपक या उल्लास के गान

बगाल के समालोचक-दल मे ऐसा मत प्रचलित है कि द्विजेन्द्रलाल ने पहली बार बगला गान मे अग्रेजी 'सुर' (स्वरसज्जा) का सयोजन किया। उन्होने देशी धुन ('सुर') मे accent और movement अर्थात् एक नवीन स्वराघात एव द्रुतगति का समावेश कर बगला गान मे, देशी 'सुर' मे एक नवीन चाचल्य और स्पन्दन की सृष्टि की थी। उनका कहना है कि इसके लिए वे विलायती सगीत के ऋणी हैं, "हमारे रागो एव रागिनियो ने विलायती गति को इतने सहज भाव से अगीकार कर लिया है कि उसके 'सुर' की यह विलायती भगिमा या गति हमारे कानो मे खटकती नहीं है।" एव इस विषय मे इस युग के बगला गान मे द्विजेन्द्रलाल राय ने "एक नवीन ढग की सृष्टि की है" और "इस गान मे एक विशिष्ट ओजस्विता है जो अन्य गानो मे प्राय नहीं मिलती।" हाल मे कुछ दिन पूर्व अन्य एक दल ने यह मत व्यक्त किया है कि बगला गानो मे बलिष्ठ पौरुष का सगीत-समारोहो मे समावेश प्रथम बार काजी नजरुल इसलाम ने कराया। इन दोनो मतो के सम्बन्ध मे सशय की काफी गुजाइश है।

बगाल पर विलायती सगीत के प्रथम प्रभाव के विषय मे पूर्व परिच्छेद मे मैंने विस्तृत आलोचना की है। उस समय हमने देखा है कि गान मे तेज, वीर्य या उल्लास का भाव प्रस्फुटित करने का प्रयास हिन्दूमेला-आन्दोलन के युग मे शुरू हुआ था। उस युग के राष्ट्रीय सगीत की रचना की प्रेरणा से ही उल्लास के गानो का सूत्रपात हुआ। इस दृष्टि से सत्येन्द्रनाथ ठाकुर के गान 'जय भारतेर जय' को उल्लास का प्रथम गान कहा जा सकता है। यह गान खमाज रागिनी मे रचित है, सुना जाता है कि इस गान का प्रथम बार स्वर-सयोजन आदि ब्राह्मसमाज के गायक और ठाकुरबाडी के गृहशिक्षक विष्णु ने किया था। यद्यपि यह गान देशी रागिनी मे गठित है, किन्तु उल्लास के गान की रचना मे 'सुर' (रागिनी, धुन) जिस पद्धति से सजाया जाता है, उसी प्रकार इस रागिनी को कटे-कटे, लघन से स्वर प्रयोग के ढग से सजाया गया था। ठीक इसी आदर्श से और इसी रागिनी में सजीवनी सभा के लिए गुरुदेव ने 'एक सूत्रे बाँधियाछि सहस्रटि मन' गान की रचना की। यह घटना उक्त सरचना के कुछ वर्ष बाद की है जबकि गुरुदेव की आयु सोलह वर्ष के आसपास थी। भाव, भाषा, देशी रागिनी की दृष्टि से उद्दीपक गान के हिसाब से गुरुदेव की इस आयु की यह एक उल्लेखयोग्य रचना है। उस 'सुर' (रागिनी) की शृखला के साथ विविध प्रकार के आरोहण-अवरोहण-अलकार के माध्यम से जोरदार पाश्चात्य गान का भाव उसमे प्रस्फुटित हुआ है एव भाषा और छन्द के जोर से गान इतना प्राणवान् हो उठा है

कि सभी के अन्तर मे उन्मत्तता का सचार हुआ है। बाद मे 'वाल्मीकि प्रतिभा' मे इसी प्रणाली से और एक-दो गानों की रचना उन्होने की थी। इस नाटक का गान 'एक डोरे बॉधा आछि मोरा सकले', 'एक सूत्रे बॉधियाछि सहस्रटि मन' गान के अनुकरण से रचित है। 'गहने गहने जा रे तोरा-निशि बहे जाय जे' गान बहार रागिनी मे रचित है एव इसकी रागिनी के गठन मे भी उपर्युक्त गान के समान तेज या ओजस्विता है।

बगला गान मे तेज या ओजस्विता की अभिव्यजना की प्रेरणा हमने केवल विलायती गान के अनुकरण से पाई है, ऐसा कहना भूल होगा। किसी के लिए ऐसा सोचना भी ठीक नहीं कि हमारे प्राचीन गानो मे इस पक्ष का अभाव था। अल्पवय मे गुरुदेव के मन मे इस प्रकार की धारणा थी, यह बात उनके उस उम्र के एक कथन से समझी जा सकी है। वहॉ उन्होने लिखा है

"ऐसा भी कहा जा सकता है कि घोरतर उल्लास का स्वर अग्रेजी रागिनी मे है, हमारी रागिनी मे नहीं।"

किन्तु बाद मे यह धारणा उनके मन-मस्तिष्क से हट गई थी, जिसका कारण था हमारे देश का प्राचीन ध्रुपद सगीत।

सुना जाता है कि भारतीय ध्रुपद की नौहरवाणी मे स्वर लघन व छूट से प्रयुक्त होते हैं। खडारवाणी के ध्रुपद गान मे कटे-कटे स्वरो का व्यवहार देखा जाता है; किन्तु नौहर-वाणी के समान इतना जोरदार नहीं है। इस ध्रुपद सगीत के माध्यम से शक्ति का प्रदर्शन होता था। किन्तु ऐसा नहीं लगता कि गुरुदेव का इस सगीत के साथ विशेष परिचय था, क्योकि गुरुदेव का जब जन्म हुआ, तब देश मे मात्र गौडहर-गौडी-गौहरवाणी के ध्रुपद के अलावा अन्य वाणियो के ध्रुपद गान का गायन बहुत कम होता था। यह बात तत्कालीन सगीत-अनुरागियो के मन्तव्य से प्रमाणित होती है। किन्तु बाद मे गुरुदेव यदुभट्ट और राधिका गोस्वामी की सहायता से ध्रुपद की जोरदार खडारवाणी से परिचित हुए। उसके अनुसरण से एक समय उन्होने बंगला भाषा मे गान-रचना भी की थी। हम जानते हैं कि झपताल, शूलफॉक्ता और तेवडा तालो का ध्रुपदगान मे अधिक व्यवहार होता है एव इन गानो मे ताल के विषम छन्द की सहायता से उल्लास का भाव प्रकट होता है। यहॉ हिन्दी ध्रुपद के अनुसरण से भैरवी रागिनी मे रचित उनके गान—"आनन्द तुमि स्वामि, मगल तुमि" का उल्लेख किया जा सकता है। इसका ताल शूलफॉक्ता है। इस ढग का भैरवी रागिनी का गान आजकल बगाल मे नहीं रचा जाता, एवं हिन्दुस्थानी उस्तादो के मुख से भी इस प्रकार का गान सुना नहीं जाता। भैरवी रागिनी मे एक प्रकार की वेदना की अभिव्यक्ति होती है। प्रार्थना विषयक या स्तुति, प्रताडना, कलह और वियोग आदि जो कोई भी भाव हो, मूल मे वेदना ही इसका स्थायी रस है। करुण रस की अभिव्यजना या निष्पत्ति के लिए भारतीय सगीत मे यह रागिनी विख्यात है, किन्तु उपरोक्त गान मे यह रागिनी ('सुर') विपरीत भाव की अर्थात् उल्लास की प्रतीक हो गई है। इस गान के एक-एक सुर मे पाश्चात्य सगीत के समान यद्यपि व्यवधान की सृष्टि की है, एक स्वर से अन्य स्वर के बीच, फिर भी रागिनी की गठन-प्रणाली निर्धारित नियमो पर प्रतिष्ठित है, इसमे कहीं विच्युति नहीं

हुई है।

भूपाली जाति की पॉच स्वरो की रागिनी मे स्वरो के आरोहण-अवरोहण मे काफी व्यवधान है, किन्तु जो सम्पूर्ण राग हैं, उनमे रागिनी का वैशिष्ट्य कायम रखकर स्वरो के व्यवधान से गान की रचना करना बहुत ही कठिन है। द्रुत लय मे गान गाने के कारण, अथवा दुगुन, चौगुन या द्रुत लय के अन्य छन्द मे एक प्रकार का जोरदार वेग प्रकट होता है। इस बात को ध्यान मे रखकर गुरुदेव ने कहा है,—"कई बार उल्लास के गान की रचना करते समय हम उसे द्रुत ताल मे निबद्ध कर लेते है, चाहे रागिनी किसी भी भाव की हो, द्रुत ताल सुख का भाव प्रकट करने का एक अग निश्चय ही है।"

किन्तु इस पद्धति के हिन्दी गान मे शब्दो के प्रति गायक का कोई ध्यान नहीं रहता, शब्द भ्रष्ट, नष्ट हो जाते हैं, कई बार उसका अर्थ समझना असम्भव हो जाता है। बगला गान मे इस प्रकार की अवस्था किसी प्रकार चल नहीं सकती। लगता है कि इस कारण ही हिन्दी ध्रुपद गान के रचयिता जोरदार गानो मे झपताल, तेवडा, शूलफॉक्ता आदि विषम मात्रावाले तालो के व्यवहार के पक्षपाती थे। द्रुत लय के त्रिताल छन्द मे विषम मात्रा के ध्रुपदी गान के समान जोरदार गान उस तुलना मे कम ही मिलते हैं। दादरा छन्द का जोरदार हिन्दी गान किसी उस्ताद के मुख से सुनने का सौभाग्य मुझे अब तक नहीं मिला। यहॉ विशुद्ध हिन्दी गान की सहायता से त्रिताल के छन्द मे रचित गुरुदेव के जोरदार उद्दीपक गान का एक उदाहरण दिया जा रहा है। गान 'वाल्मीकि प्रतिभा' का है—'एइ बेला सबे मिले चलो हो'। यह भूपाली रागिनी और द्रुत त्रिताल छन्द मे रचित है। भाषा, रागिनी और छन्द की दृष्टि से दस्युओ के उद्दीपक गान का यह एक अच्छा निदर्शन है। हिन्दी गान के अनुसरण से रचित इस प्रकार के और भी गान हैं।

गुरुदेव ने शूलफॉक्ता, झपताल, तेवडा, दो-चार छन्द चतुर्मात्रिक और त्रिमात्रिक आदि विविध छन्दो का व्यवहार कर वीर्य के गानो मे अपनी रचना का वैशिष्ट्य दिखाया है। आजकल हिन्दी गान के गायको के वीर्यसूचक गानो मे इस प्रकार का वैचित्र्य बिलकुल दिखाई नहीं देता। उल्लास के विलायती गानो मे हमे मात्र सममात्रा का छन्द मिलता है। हिन्दी गानो मे शब्दो की मर्यादा कोई विशेष नहीं रहती, विलायती गानो मे शब्दो की कुछ मर्यादा रहती है। गुरुदेव के गानो का अन्य विशेषत्व है रागिनी और छन्द के गठन के दबाव या प्रभाव से शब्द की मर्यादा को किसी प्रकार की हानि न होने देना। ऐसा नहीं है कि उनके सभी सशक्त गान द्रुत लय मे निबद्ध हैं। मध्य लय के भी कई गान है। उनके जोरदार गानो मे विशुद्ध या मिश्र भैरवी, यमन, भूपाली, खमाज, बहार रागिनियों का व्यवहार अधिक है, उनके बाद है मिश्रभैरव, शंकरा, एव बगाल की धुनो मे बाउल और कीर्तनाग धुनो के गान भी कई हैं। उपरोक्त रागिनियों में सशक्त गानो के एक-एक उदाहरण यहॉ दिए जा रहे हैं .

भैरव मे - ऐ महामानव आसे'
भैरवी मे - 'भेगेछ दुयार एसेछ ज्योतिर्मय'

यमन भूपाली	- 'आमरा नूतन यौवनेरइ दूत'
शकरा	- 'आर नहे, आर नय'
बहार	- 'ओरे आय रे तबे, मात् रे सबे'
बाउल और कीर्तन	- 'वज्रे तोमार बाजे बाँशि'

इस प्रकार के जोरदार कई गानो की रचना उन्होने की है। विलायती गानो मे उल्लास के शब्दो के लिए किस प्रकार स्वर-सयोजन किया जाता है, इस विषय मे परिष्कार ज्ञान होने के कारण भारतीय राग-सगीत से उल्लास का ढग खोज निकालने मे उन्हे अधिक श्रम नहीं करना पडा। खडारवाणी (ध्रुपद) के ढग मे उन्हे यह तत्त्व मिल गया, प्रयोजन के अनुसार उन्होने उसे मात्र बलिष्ठ किया। ये सब हूबहू विलायती गान के अनुकरण से रचित नहीं हैं, इनमे दोनो आदर्शों के सम्मिश्रण का एक अपूर्व रूप मिलता है।

ध्रुपद गान मे गायक साधारणत ताल और राग को ही बडा मानते हैं अत शब्दो की सहज छन्दोबद्ध गति की उपेक्षा होती है। इस कारण ही हिन्दी गान मे शब्द का छन्द इतना टूटता है। इसीलिए शब्द का निजस्व कोई छन्दोबद्ध प्रवाह (प्रवृति) नहीं रहता, ताल और 'सुर' (रागिनी) की मिश्रित प्रवृत्ति के साथ शब्द को मिलाने की आवश्यकता उस्ताद महसूस नहीं करते। ऊपर के आदर्श से रचित गुरुदेव के गानो या राष्ट्रीय सगीत ने इस अभाव को पूरा किया है। गाते समय शब्द के छन्द पर जोर देकर गाने से इन गानो का यथार्थ रूप सुन्दर हो उठता है। देखा जाता है कि गुरुदेव के गान केवल स्वरलिपि की सहायता से लिखते समय कई गायक जोरदार गान का वास्तविक रूप उसमे प्रस्फुटित नहीं कर सकते, उसे अपनी पसद के अनुसार कोमल भाव के गान मे परिणत कर देते हैं। कीर्तन या बाउल धुन मे इस प्रकार का बलिष्ठ भाव प्रकाश करना भी गुरुदेव की रचना का एक विशेष गुण है। हमारे देश मे कीर्तनाग धुन मे जोरदार गान की रचना हुई, सुना नही गया, आज तक इस 'सुर' (धुन, स्वर-सज्जा) मे किसी रचयिता के किसी उल्लेखयोग्य गान का भी परिचय नही मिला है।

उपरोक्त इन छन रागिनियो के जोरदार, प्रभावपूर्ण गान गुरुदेव के जीवन के शेषकाल मे रचित हैं, अथवा कहा जा सकता है कि इस पद्धति के अधिकतर गान उनके शान्तिनिकेतन के जीवन मे ही रचित है। पूर्ववर्ती काल मे ध्रुपद की नकल से या विलायती पद्धति से रचित गानो मे इन सब गानो के समान निजस्व क्षमता का वैशिष्ट्य प्रकट नहीं हुआ है।

आरम्भ मे मैंने जो प्रश्न उठाया था, पुन उसी विषय पर आया जाए। ई १८८७ के पूर्व द्विजेन्द्रलाल राय ने बगला गानो मे अग्रेजी धुनो के व्यवहार का काम हाथ मे नहीं लिया था, इस तथ्य की जानकारी हमे उनकी जीवनी से मिलती है। यह कहना भी ठीक नही है कि देशी और विलायती धुनो के सम्मिश्रण से बगला गान मे जोर देने की दृष्टि से नीवन ढग का प्रवर्तन उन्होने ही प्रथम बार किया, क्योकि स्वदेशी युग के पहले वे इस पद्धति के गानो की रचना मे प्रवृत्त नहीं हुए, स्वदेशी युग मे ही सर्वप्रथम उन्होने जोरदार गानों की रचना शुरू की। काजी नजरुल इसलाम के जोरदार गानों की रचना का आरम्भ

प्रथम महायुद्ध के बाद दिखाई दिया। इस समय मे गुरुदेव ने जितने वीर्यव्यजक गानो की रचना की थी, उनकी खबर न रखने के कारण इस प्रकार की भ्रान्त धारणा की सृष्टि हुई है।

आजकल सिनेमा और ग्रामोफोन-रिकार्ड की आवश्यकता की पूर्ति के लिए जो विदेशी उद्दीपक गान के आदर्श से देशी गानो की रचना करते हैं, उनमे एक वर्ग ने पाश्चात्य सगीत के अनुकरण से, किसी-किसी ने गुरुदेव के आदर्श से, उल्लास और तेज के गानो की रचना की है। किन्तु इस पद्धति के गानो की सख्या बहुत अधिक नही है। उनका प्रयास विलायती करुण मेलॉडी को सगीत मे स्थान देने का है। किन्तु प्रश्न यह है कि करुण मेलॉडी के लिए भारतीय सगीत को यूरोप का द्वार खटखटाने का प्रयोजन है क्या ? आज हमारे लिए तेज और वीर प्रकाशक गानो का विशेष प्रयोजन है, आवश्यकता है। वह तेज या उल्लास केवल राष्ट्रबोध-उद्दीपक गानो तक सीमित रहे, ऐसा नहीं है। प्रतिदिन के जीवन मे भी मनुष्य कितने प्रकार के मानसिक अवसाद से गुजरता है एव इच्छा होने पर वह गान की सहायता से अपनी मानसिक दुर्बलता से मुक्ति पा सकता है। प्राचीन हिन्दी गान से उस सुयोग की उपलब्धि हम जैसे साधारण लोगो के लिए विभिन्न कारणो से सम्भव नहीं है। प्रथमत , हमारा सगीत जिस आदर्श से उद्भूत है उससे वह विच्युत होना नहीं चाहता। द्वितीयत , प्राचीन सगीत मे उद्दीपन की जो अभिव्यजना मिलती है, कठोर साधना के बिना वह असम्भव है। जनसाधारण के उस अभाव की पूर्ति विशेष रूप से गुरुदेव ने की है। स्वदेशप्रेम-उद्दीपक गानो के अलावा विविध ऋतुओ और प्रेम के सगीत मे पौरुष का भाव किस प्रकार प्रस्फुटित हुआ है, ये कुछ गान उसके उदाहरण हैं—'ओइ बुझि कालवैशाखी', 'आज बारि झरे झरझर', 'शीतेर हावार लागल नाचन', 'वसन्ते फूल गॉथल आमार जयेर माला'। इन विभिन्न ऋतुगानो और 'महुया' काव्य के प्रेमसगीत 'आमरा दूजना स्वर्ग-खेलना गडिब ना धरणीते' का उल्लेख करने पर यह कहा जा सकता है कि इस दृष्टि से भी गुरुदेव भारतीय सगीत के क्षेत्र मे प्रथम क्षेणी के रचयिता हैं। सख्या की दृष्टि से और वैचित्र्य के विचार से गुरुदेव के समकक्ष और कोई है, हमे जानकारी नही। ऐसा कहना भी भूल है कि उल्लास के गानो मे इस वैचित्र्य के मूल मे विदेशी पद्धति ही हमारा आदर्श रहा। आजकल केवल मधुर व्यथा और रोदनभरे दर्द या प्रेम के गानो की बाढ आ गई है।

बगाल के स्वदेशी युग मे रचित गानो मे जिस प्रकार के तेज की अभिव्यजना थी, उत्तरकाल मे राजनीतिक आदर्श ने अपना पथ बदल लिया, क्या इसी कारण उस भाव के गानो की अधिक कद्र नहीं है ? राष्ट्रीय झडा-उत्तोलन के उपलक्ष्य मे गाया जानेवाला हिन्दी गान जब मैं सुनता हूँ, स्वदेश की स्वाधीनता की प्रेरणा देने के लिए नेताओ ने इतनी दुर्बल स्वर-सज्जा के गान का निर्वाचन क्या सोचकर किया, यह प्रश्न ही मन मे उठता है। शब्द-चयन की बात छोड भी दी जाए, इस गान की स्वर-सज्जा और छन्द के माध्यम से जो निर्जीव भाव प्रकट होता है, स्वाधीनताबोध-उद्दीपन के लिए वह अचल है। गत विश्वयुद्ध के कारण भारतवर्ष के ऊपर से एक बडा राजनीतिक विप्लव निकल गया।

इस बीच कई रचयिताओ ने नए ढग से कुछ उद्दीपक सगीत की रचना की है, किन्तु दु ख के साथ कहना पडता है कि इन सब गानो का साहित्यिक मूल्य तो है ही नही, किन्तु इसके अलावा सामयिक उत्तेजना जाग्रत करने के उद्देश्य से रचित होने के कारण जन्म के साथ ही उनकी मृत्यु हो गई। महात्माजी के जीवनावसान के उपलक्ष्य मे, नेताजी के विषय मे और नवीन राजनीतिक जीवन के प्रथम परिवर्तन को लेकर कई गानो की रचना हुई, किन्तु उत्तेजना के उपशम के साथ ही उनका सागीतिक मूल्य भी लुप्त हो गया। किन्तु फिर भी कहना पडेगा कि गत कुछ वर्षो में रचित कुछ गानो के स्वर-सयोजन का वैशिष्ट्य प्रशसनीय है। वे सम्मेलक सगीत (chorus) के लिए उपयुक्त है। स्वर-सयोजन और छन्द मे ये वीर्यप्रकाशक है। इनमे से अधिकाश गानो के स्वर-सयोजन मे विलायती सगीत की छाप प्रकट होती है, छन्द मे मात्र तीन-चार मात्राओ की द्रुत लय मिलती है और उसके साथ वाद्ययत्र-सगीत का प्राधान्य दिखाई देता है।

बगला गानो मे विलायती अनुकरण से हार्मनी-सगीत के प्रयोग का प्रयास कब शुरू हुआ, यह मैने पहले ही बताया है। किन्तु इस प्रयास ने किसी भी दिन व्यापक रूप ग्रहण नही किया। इसका एक कारण यह रहा कि कठ की सहायता से विभिन्न सुरो मे कई गायको को मिलकर एक साथ गाने के लिए कठस्वर को जिस प्रकार विभिन्न स्तरो पर उपयोगी बनाना पडता है, उस दृष्टि से कोई प्रयास यहाँ नहीं हुआ, क्योकि हमारे कठसगीत मे हम गले से उनका स्वाभाविक स्वर निकालने को ही ठीक समझते हैं और उसी प्रकार गान सुनने और गाने के हम अभ्यस्त हैं। इसीलिए विलायती कायदे मे अस्वाभाविक कठस्वर का गान उच्च श्रेणी के भारतीय सगीत मे अप्रचलित है एव जहाँ शब्द और 'सुर' का एकत्व ही मूल विषय है, वहाँ हार्मनी सगीत का प्रचलन गान के निजस्व रूप को खडित करता है। इस कारण बगला गान को अन्य पथ पर चलना होगा, अन्यथा शब्द की सहज गति और सौन्दर्य को नष्ट कर 'सुर' को ही प्रधानता मिलेगी। 'सुर' (स्वरसज्जा, धुन या स्वर प्रतिमा) के इन्द्रजाल की रचना करना ही है हार्मनी-सगीत का मूल उद्देश्य। किन्तु ऐसा देखा जा रहा है कि वर्तमान भारतीय वाद्ययत्र-सगीत मे इसका प्रयास उत्तरोत्तर बढता ही जा रहा है एव सम्भवत भविष्य मे कई नवीन रचनाओ की सम्भावना भी हो सकती है। आजकल बगला गान के साथ कठ्यसगीत और वाद्ययत्र-सगीत मे हार्मनी का सामान्य प्रयोग देखा जाता है। अभी यह कहना मुश्किल है कि यह हार्मनी सगीत कौन-सा मार्ग अपनायगा। इस विषय मे गुरुदेव स्वय क्या सोचते थे, उसे हमारे लिए जान लेना उचित है। उन्होने कहा है

"यूरोपीय सगीत मे जो हार्मनी अर्थात् स्वरसगति है, वह हमारे सगीत मे चलेगी या नहीं। प्रथम विचार से लगता है, 'नहीं, वह हमारे गान मे नहीं चलेगी, वह यूरोपीय है।'

किन्तु जिस कारण यह सत्यवस्तु है, इसके सम्बन्ध मे देशकाल का निषेध नही है।

तब क्या यह भी निश्चित है कि हमारे गान मे हार्मनी का व्यवहार करने पर उसका गठन, स्वरूप या पद्धति स्वतत्र होगी। अतत यदि मूल 'सुर' को वह अग्राह्य या अवज्ञा कर चलना चाहे तो यह इसके लिए दुःसाध्य कार्य या दु साहस होगा।

हमारे गान का विपुल तान-करतब इस हार्मनी मे चलाने पर मूल गान का स्वरूप और गाम्भीर्य सुरक्षित रहता है, किन्तु उसका गतिपथ खुला, मुक्त रहता है।"

गुरुदेव ने सभी को सतर्क कर कहा है

"हमारी राग-रागिनियॉ स्वर-सगति को स्वीकार करते हुए भी आत्मरक्षा बिलकुल कर ही नहीं सकती, यह बात जोर देकर कौन कह सकता है। किन्तु सृष्टि मे नवीन रूप का प्रवर्तन विशेष शक्तिसम्पन्न प्रतिभा द्वारा ही साध्य है, अनाडी या मझौले लोगो का यह काम नहीं है।"

गुरुदेव ने स्वय अपने गान के लिए कभी कई कठो के सम्मिलित स्वर मे हार्मनी सगीत की रचना नहीं की। किन्तु इस काम मे अपने आत्मीय जनो को वे प्रोत्साहित करते थे, यह बात मैंने पहले ही कही है।

भारत मे देशी रागिनी की सहायता से अग्रेजी भाषा के गानो की रचना कोई-कोई करते हैं। इस विषय मे अच्छे-बुरे के विचार का समय अभी आया नही है एव यह भी जाना नहीं जा सका है कि पाश्चात्य जाति ने इस रचना से कुछ आनन्द अनुभव किया है या नहीं। सुना जाता है, इस क्षेत्र मे गुरुदेव ने प्रयास नहीं किया, ऐसा नहीं है, किन्तु उनका उत्साह मात्र एक गान से समाप्त हो गया लगता है। वह गान है

The bee is to come,

The bee is to hum

ई १९१५ मे जार्ज कैलडेरन नामक एक अग्रेज ने गुरुदेव के गल्प 'डालिया' को अग्रेजी मे नाटक रूप में लिखा था। नाटक का नाम उन्होने दिया था—'The Maharani of Arakan'। लदन मे भारतीयों के लिए यह अभिनीत हुआ। ई १९१३ मे जब गुरुदेव लदन मे थे, तब उन्होंने इस नाटक के लिए अग्रेजी मे तीन गान लिखे, किन्तु सुना जाता है कि उन्होने स्वय स्वर-सयोजन मात्र एक उपरोक्त गान के लिए किया था। इस गान के स्वर-सयोजन मे विदेशी ढग का प्राधान्य अधिक है किन्तु गाते समय बीच-बीच मे देशी स्वर-सज्जा का स्पष्ट आभास मिलता है।

विदेशी प्रथा मे स्वाभाविक कठस्वर को परिवर्तित कर भावप्रकाश की सहज रीति का प्रचलन है, इस पद्धति के गान मे गले के स्वर की विकृति को ही बडा माना गया है। हमारे देश की पद्धति उससे ठीक उलटी है; भारतीय सगीत कभी व्यक्तिगत जीवन के हॅसने-रोने का अनुकरण नहीं करता, क्योकि इस गान का प्रस्रवण साधक के समाहित चित्त से है। हमारे देश के गायक जब गाते हैं, तब वे अस्वाभाविक कठस्वर से गान के अर्थ को 'सुर' मे प्रस्फुटित करने की चेष्टा नहीं करते। उनका काम रागिनी-विकास के माध्यम से गान के भाव को अभिव्यक्त करना है। किन्तु विलायती सगीत मे देखा जाता है—"हृदयावेग के कम या अधिक होने के भाव को 'सुर' और कठस्वर की प्रवृत्ति द्वारा जीवन्त, मूर्त करने की चेष्टा की जाती है।" यह प्रथा भारतीय सगीत के लिए उपयुक्त नहीं है, इसीलिए गुरुदेव का कहना है, "दु ख के गान मे गायक यदि अश्रुपात एव सुख के गान में हास्यध्वनि की सहायता लेता है तो उससे सगीत की सरस्वती की नि सन्देह अवमानना होती है।" "सुर और कठ पर

जोर देकर हृदयावेग की नकल करना सगीत की गभीरता मे बाधा उपस्थित करना है। समुद्र के ज्वार-भाटा के समान सगीत का भी अपना आरोहण-अवरोहण है किन्तु वह उसकी अपनी क्रिया, वस्तु है, कविता के छन्द के समान वह उसके सौन्दर्यनृत्य का पादविक्षेप है, वह हमारे हृदयावेग के पुत्तलिका-नाच का खेल नहीं है।

गुरुदेव ने अपने जीवन मे भारतीय सगीत के अन्यान्य साधको के समान ही सगीत की उपलब्धि की है एव वे स्वय भी उस आदर्श से गान-रचना के पक्षपाती थे, इसकी धारणा उद्धृत रचनाश से अनायास की जा सकती है। इसके अलावा उनकी अनेक रचनाएँ भी इसकी साक्षी हैं। उन्होने गान के शब्दो को रागिनी मे एकरूप कर हृदयावेग को प्रकट करने की चेष्टा की है, किन्तु कही भी कठविकृति नहीं हुई है, इस प्रकार के एक गान का उदाहरण मे यहॉ देता हूँ। १३३२ बगाब्द (ई १९२५) मे रचित 'शेषवर्षण' गीतनाट्य मे एक गान है—'श्यामल छाया, नाइबा गेले'। यहॉ 'नाइबा गेले' मे 'ना' का गान के 'सुर' मे जिस ढग से व्यवहार किया गया है, उसे सुनने पर लगेगा जैसे मन के विशेष आवेग या आग्रह के 'सुर' मे 'ना' का उच्चारण हो रहा है। 'ना, जेयो ना, जेयो नाको' गान मे 'ना' का स्वर उसी आदर्श से बिठाया गया है। गान की रागिनी है सिन्धुडा। तार सप्तक के सा रे को स्पर्श कर मींड के साथ जिस प्रकार कोमल निषाद पर आकर ठहरा जाता है, उससे 'जाने न देने' की व्याकुलता स्पष्ट ही अनुभव की जाती है।

इस प्रकार के और भी कई उदाहरण उनके गानो मे कई स्थलो पर मिलते है। इस प्रकार भावप्रकाश की इच्छा विदेशी सगीत से जाग्रत हुई थी, किन्तु उन्होने इन सब गानो के लिए कठ से भावावेग प्रकट करने की प्रणाली की सहायता बिलकुल नहीं ली। उस आदर्श मे रागिनी को ही वैसा रूप दिया है। 'ना' अक्षर का स्वर गान की मूल रागिनी से विच्छिन नहीं होता; यहॉ भी हम देशी और विदेशी आदर्श का एक नवीन समन्वय देख सकते हैं।

हमारे प्रदेश के कीर्तनगान मे कभी-कभी हमने अनुभव किया है कि भावावेग के आनन्द से कीर्तनियो की ऑखे भर आती हैं और कठस्वर भारी हो जाता है। यह भावविह्वलता इच्छाकृत अभिनय नहीं है। चित्त पुन प्रकृतिस्थ होने पर उनका गान पुन स्वाभाविक रूप ले लेता है। केवल कथक सम्प्रदाय मे कभी-कभी कठ के स्वाभाविक सुर द्वारा गान पर अभिनय करते देखा जाता है।

हास्यरस के गानो के अलावा विलायती अनुकरण से भावावेग से उच्छ्वास प्रकट करने की रीति सम्प्रति बगला गान मे कभी-कभी सुनी गई है। इस प्रकार के गानो के रचयिता सम्भवत ऐसा सोचते हैं कि उच्च स्तर के गानो मे भी इस प्रकार के हलके भाव अभिव्यक्त करने की रीति का प्रचलन कर वे बगला गान के रस को और अधिक प्रस्फुटित कर सकते हैं। गुरुदेव के गानो को भी कई गायको ने इस अभिनय भाव बताने की रीति से रिहाई नहीं दी। किन्तु जो गाते हैं, वे यदि यथार्थ रसिक हो, तो गुरुदेव के गानो का इस प्रकार व्यवहार करने के लिए कभी राजी नहीं होगे, वे केवल 'सुर' और शब्द के रस को अन्तर में अनुभव कर अपने आनन्द से गाते रहेगे।

गान-रचना की पद्धति

पहले शब्द और बाद मे 'सुर'-रचना या स्वर-सयोजन करना यही प्रचलित रीति है। गुरुदेव ने इसी रीति से अधिकाश गानो की रचना की है। रचना के पूर्व वे यह विचार कर लेते थे कि कौन-सी रागिनी या 'सुर' का गान के मूल भाव के साथ मेल बैठेगा, बाद मे उस रागिनी या 'सुर' मे पहले सीखे गए हिन्दी गान या अन्य किसी गान की आवृत्ति कर, उसका रूप अन्तर मे मूर्त कर उसका अनुभव प्राप्त करते, उसके बाद गान मे स्वर-सयोजन शुरू करते। किसी गान विशेष का विचार कर अपने गान के लिए स्वर-सयोजन करते थे, इसका परिचय गुरुदेव के स्वहस्तलिखित गान-खातो से मिलेगा। नवीन गान का 'सुर' जिस पुरातन गान से लिया गया है, उसकी प्रथम पक्ति वे खाते मे गान के ऊपर लिख रखते थे। इस प्रकार लिखने का कारण यह था कि गान की रचना करने के बाद मन यदि और कहीं चला जाता तो वह 'सुर' वे भूल जाते थे। एक-एक बार ऐसा भी होता कि रागिनी पूर्णतया भूल जाते, किसी भी उपाय से उसे याद नहीं कर सकते थे। इसलिए मूल गान कापी मे ऊपर लिखकर अपने को होशियार कर रखते थे। किन्तु मुश्किल तब होती, जब गान एक रागिनी मे आरम्भ होने के बाद अन्य पथ ग्रहण कर लेता। उस समय उन्हे यह ख्याल ही नहीं रहता कि किस प्रकार, किस रागिनी मे क्या हो रहा है। सम्पूर्ण गान तैयार करने पर ही समझ सकते कि क्या हुआ, मूल रागिनी से बदला या भिन्न प्रवाह चला है या नहीं।

कई बार तो अकारण आनन्द से उनके अन्तर मे 'सुर' की प्रेरणा पहले जाग्रत हुई है, शब्द बाद मे बिठाए गए हैं। 'छिन्नपत्र' मे इस प्रकार का एक वर्णन मिलता है, जिसमे उन्होने लिखा है, "शैवालविकीर्ण सुविस्तीर्ण जल-राज्य के बीच शरद् के उज्ज्वल रौद्र मे मैं वातायन के पास एक चौकी पर बैठा अन्य चौकी पर पॉव रखे पूरे समय गुनगुन कर केवल गाता ही रहा। रामकली आदि प्रात काल की रागिनियो का कुछ आभास मिलते ही ऐसी एक करुणा ने विगलित होकर चारो दिशाओ को इतना वाष्पाकुल कर दिया है कि ये सभी रागिनियॉ समस्त आकाश, समस्त पृथिवी के अपने गान रूप लगने लगी है। यह एक इन्द्रजाल है, एक मायामत्र है। मेरे इस गुनगुन गुजरित 'सुर' के साथ मैने कितने शब्द जोडे, उसकी गणना नहीं है। इस प्रकार एक पक्ति का गान पूरे दिन मे कितनी बार जमा है और कितनी बार उसका विसर्जन किया है। आज प्रात.काल के पूरे समय मे रामकली मे दो-तीन पक्तियो की बार-बार आवृत्ति की, वे ही याद हैं, नमूनास्वरूप उन्हें उद्धृत कर रहा हूँ—'ओगो तुमि नव नव रूपे एस प्राणे'।" इस गान को बाद में 'गीतांजलि' मे स्थान मिला।

इस प्रसग मे और एक घटना का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। 'चित्रागदा' नृत्यनाट्य की रचना मे जब वे व्यस्त थे, उस समय एक दिन तडके बुलावा आया। प्राय इतने तडके वे बुलाते नहीं थे। जाकर मैंने देखा कि उस समय तक उनका प्रात कालीन नाश्ता शेष नहीं हुआ था। उन्होने कहा, "आधी रात नीद मे एक गान मन-मस्तिष्क मे हठात् सचरित हुआ, उस समय नींद टूट गई और पूरी रात मैं सो नहीं सका।" गान का 'सुर' और उसकी अमार्जित भाषा को लेकर ही उन्होने पूरी रात बिताई। तडके बिस्तर से उठकर कागज पर उसे लिखा। दु ख के साथ उन्होने कहा, "रात मे मेरे मस्तिष्क मे गान बिलकुल स्पष्ट था, प्रात काल विभिन्न बाधाओ के कारण स्वर-गठन मे कुछ इधर-उधर हुआ है।" वह गान है—'आमार अगे अगे के बाजाय बाँशि'।

स्नान के समय गान की प्रेरणा गुरुदेव के मन मे जागती है, इस प्रकार की बात सुनकर कई लोग हँस सकते हैं। किन्तु वस्तुत ऐसा भी हुआ है। 'छिन्नपत्र' मे इस विषय की अवतारणा कर उन्होने इसके कारण का भी विश्लेषण किया है। उसमे उन्होने कहा है, "वह गान मैंने स्नानगृह मे कई दिनो में थोडा-थोडा कर 'सुर' के साथ तैयार किया था। स्नानगृह मे गान-रचना के लिए कुछ सुविधाएँ है। प्रथमत , एकान्त स्थान, द्वितीयत , अन्य किसी कर्तव्य की कोई चिन्ता नहीं, सिर पर एक लोटा जल उँडेलकर पाँच मिनट तक गुनगुन करने में कर्तव्यज्ञान मे किसी प्रकार का आघात नहीं लगता—सबसे बडी सुविधा यह है कि किसी भी दर्शक की सम्भावना मात्र न रहने से खुले मन से मुखभगिमा की जा सकती है। मुखभगिमा के बिना गान तैयार करने की पूरी अवस्था बनती नहीं है। वह युक्ति-तर्क का काम नहीं है, विशुद्ध उन्मत्त भाव है।"

स्नानगृह मे गाते हुए उन्हे कई लोगो ने सुना है। मेरे द्वारा सुने गए एक गान की बात याद आती है। ई १९३४ मे हम जब गुरुदेव के साथ सिहलदेश गए, तब प्राय एक ही घर मे हम सभी रहते थे। एक दिन प्रात काल स्नान के समय वे खुले मन से कई प्रकार की प्रात·कालीन रागिनियो मे आलाप कर रहे थे। यह केवल आलाप था, शब्द नहीं।

हम जानते है कि गुरुदेव ने बाल्यकाल मे ज्योतिरिन्द्रनाथ रचित प्यानो-गत के 'सुर' मे गान की रचना की, अर्थात् प्यानोयत्र पर राग-रागिनी जिस छन्द में बजती थीं उनके साथ ही मेल रखकर वे शब्द बिठाया करते। 'मायार खेला' का गान 'दे लो सखी दे पराइये गले' (बाद में सयोजित)—इसका एक उदाहरण है। इस प्रकार के जितने भी गान है, भाव, भाषा और रचना की दृष्टि से परवर्ती जीवन के गानो की उनके साथ तुलना करना ठीक नहीं।

इसके पश्चात् मैंने उन्हे हिन्दी गान की सहायता से धर्मसगीत और 'वाल्मीकि प्रतिभा' के गानो की रचना करते देखा है। विशेष रूप से १३१४ बगाब्द (ई १९०७) तक उन्होने इस प्रथा से अधिकतर धर्मसंगीत की रचना की। इसके बाद से इस पद्धति से सगीत-रचना करते उन्हे कम ही देखा गया। इसका एक कारण था पिता की मृत्यु और द्वितीयत भाइयो में भी कई जोडासाँको से निकलकर अलग हो गए थे—इसीलिए माघोत्सव मे कलकत्ता के प्रति वैसा आकर्षण नहीं रहा। उस समय जोडासाँको-निवास पर उस्तादों के गान की मजलिस

भी बन्द हो गई। उस समय वे अन्य गानो की सहायता से बगला गानो की रचना करने का प्रयोजन अनुभव नहीं कर रहे थे, 'गीताजलि' के गानो मे वह भाव प्रतिभात होता है।

यहाँ सम्भवत कई गुणियो के मन मे यह प्रश्न उठ सकता है कि हिन्दी गान के अनुसरण से रचित गुरुदेव के गानो के मूल मे हिन्दी या अन्य गान कौन-से है। सभी गानो का उल्लेख नहीं किया जाएगा, उसका प्रयोजन भी नही है। भिन्न-भिन्न प्रकृति के एक-एक गान के विषय मे उल्लेख कर पाठको का कौतूहल मिटाने का प्रयास करूगा। हिन्दी गान की काव्यसम्पद उत्कृष्ट न होने के कारण गुरुदेव के समान कवि ने उन गानो के अनुसरण से बगला गानो की रचना करते समय उनकी रागिनियाँ और छन्द की सम्पद को ही ग्रहण किया है, शब्दो के प्रति अधिकतर उन्होने ध्यान नही दिया। उन्होने अपने मन के आवेग से हिन्दी गान के 'सुर' (रागिनी) और छन्द को कायम रखकर उसमे शब्द-सयोजन किया है। गान प्राय धर्म-सगीत है, अन्यान्य गान भी हैं।

रवीन्द्र सगीत मे 'अडाणा' रागिनी मे एक प्रचलित गान है, उसे कइयो ने सुना होगा। उस्ताद-दल मे एक समय यह गाया जाता था। वह गान है—'मन्दिरे मम के आसिले हे'। हिन्दी भाषा का गान

'सुन्दर लागो री है पियरवा
चञ्चल चपल चखन लखन
दोरे दोरे मोरे मोरे
फिर मुस्कानी वाणी ॥

इस गान से उनके मन मे इस बगला गान की रचना की प्रेरणा जाग्रत हुई थी। 'छेलेबेला' पुस्तक मे काफी रागिनी मे एक ध्रुपद है

'रुम झुम बरखे आजु बादरवा पिया विदेश मोरि,
थरथरात छतिया न निश दिन मन भावे।
नैन न नींद आवे दामिनी दमक लाग
उन बिन कल न परत नाथ नाथ धावे।

गान का उल्लेख कर उन्होने कहा है कि 'मेरे वर्षा के गीतकुज मे इस 'सुर' (रागिनी) ने स्थान पाया है।' किन्तु इस गान को उन्होने वर्षा-सगीत मे परिणत नहीं किया, ऐसा मेरा विश्वास है। उन्होने इसे उपासना के एक गीत मे परिणत किया है। गान है

'शून्य हाते फिरि हे नाथ, पथे पथे,
फिरि हे द्वारे द्वारे,
चिर भिखारी हृदि मम निशिदिन चाहे कारे ॥

इस 'सुर' (रागिनी) मे वर्षा का उनका कोई गान न मिलने पर मैंने उन्हे प्रश्न किया था, उत्तर मे उन्होने कहा था कि सम्भवत भूल हो गई है। जिस समय यह बात लिखी तब

उन्हे ठीक याद नहीं था, उन्होने यह इच्छा प्रकट की थी कि बाद मे ठीक कर दिया जाएगा।

किसी-किसी बगला गान के आरम्भ मे हिन्दी गान के साथ भावगत कुछ मेल दिखाई देता है, किन्तु बाद मे बगला गान ने भिन्न मार्ग अपनाया है।

'मुरली धुनि शुनि अरी माइ, यमुनातीर
तब सो हम तन मन यौवन सो विकाइ।'

यह गान सिन्धु रागिनी मे है। इससे ही बगला गान—'चरणध्वनि शुनि तव नाथ जीवनतीरे' की रचना हुई। 'मुरलि धुनि' और 'यमुनातीर' के स्थान पर यहाॅ 'चरणध्वनि' और 'जीवनतीर' हो गया है। प्रथम पक्ति मे यद्यपि कुछ भावगत मेल मिलता है, अन्य पक्तियो मे तो गान ने अन्य मार्ग अपना लिया है। भैरव राग मे 'मन जागो मगल लोके' गान की रचना निम्न हिन्दीगान के अनुसरण से की गई

'जागो मोहन प्यारे,
साॅवरी सूरत मोरे मन भावे
सुन्दर लाल हमारे '

भाव की दृष्टि से प्राय सभी गान इस प्रकार के हिन्दी गानो से मिलते है, अधिक न होते हुए भी बिलकुल नहीं, ऐसा भी नहीं है। हिन्दी गान की भाषा ने भी कभी-कभी उन्हे प्रेरित किया है। गुरुदेव को बिहाग रागिनी का निम्न गान प्राय गाते सुना गया है

'कैसे कटेगी रैना से पिया बिना
एकली जागी सजनी आजु मोरा
नयन मे नींद न आवे छाॅडि सैयाॅ ॥'

इस गान का आधार लेकर कई वर्षो पूर्व गुरुदेव ने एक धर्मसगीत लिखा था—'तिमिर विभावरी काटे केमने जीर्ण भवने, शून्य जीवने'। बाद मे जब उन्होने 'शापमोचन' लिखा, तब इस गान के अनुसरण से रचित निम्न गान मिला .

हे विरही, हाय, चचल हिया तवन
नीरवे जाग एकाकी शून्य मन्दिरे
कोन् से निरुद्देश-लागि आछ जागिया।

प्राचीन रचयिता जानकीदास ने वर्षा-गान की रचना की थी

'प्रचण्ड गर्जन सजल बरखा ऋतु,
काम अगम अत विरहिनी जीयन तर्जन।
झट अस दामिनी मतंग सम यामिनी।
अरु द्रुम चाप कर्कश बूॅद वारि बरखन।

इस गान के अवलम्बन से बगला भाषा मे वर्षा के एक अद्‌भुत गान की रचना हुई

'प्रचण्ड गर्जने आसिल एकि दुर्दिन-
दारुण घनघटा अविरल अशनितर्जन।
घन घन दामिनी-भुजग-क्षत यामिनी
अम्बर करिछे अन्धनयने अश्रु-वरिषन।'

'भानुसिहेर पदावली' मे प्रकाशित एक पत्र मे उन्होने कहा है, "सन्ध्या के समय मैं यह जो गान—'वीणा बाजाओ हे मम अन्तरे' गाता हूँ इस गान की तुम्हारे अन्तर मे ठीक बैठ जाने लायक स्वरलिपि लिख रखने की इच्छा है—इस गान का सौन्दर्य तुम्हारे मन पर इतना छाया रहेगा कि बाहर का 'तूफान' तुम्हे हिला नहीं सकेगा।" उपरोक्त मन्तव्य से प्रकट होता है कि यह गान गुरुदेव को अत्यन्त प्रिय था। मैने उन्हे कई बार इस गान मे मग्न रहते देखा है। सपूर्ण बगला गान उद्धृत करने के बाद सम्पूर्ण हिन्दी गान भी उद्धृत किया जाएगा। बगला गान है

'वीणा बाजाओ हे मम अन्तरे।
सजने विजने, बन्धु, सुखे दु खे विपदे-
आनन्दित तान शुनाओ हे मम अन्तरे॥

हिन्दी गान है

'बीन बजाई रे मन ले गयो।
मधुर मधुर ध्वनि अधर ना धररे
रस भरि तान सुनाई रे मन ले गयो॥'

जब हम देखते हैं कि उपरोक्त हिन्दी गान के समान कई हिन्दी गान ऐसे है जिनसे भाव की दृष्टि से भी कुछ ग्रहण करने मे गुरुदेव कुठित नहीं हुए तब यह मानना ठीक नहीं लगता कि हिन्दी संगीत सर्वत्र ही काव्यरसविहीन है।

हिन्दी मे तिल्लाना गान किसे कहते हैं, यह हम जानते है। नटमल्हार राग का एक तिल्लाना है

'दारादीम् दारादीम् दारादीम् दारातादारे दानिदानि
ताना ना देर् देर् तोम् ता नाना ता ना
तोम्देर् तदारे दानि तादानि ताता दानि दानि दानि दानि'

इसके 'सुर' (राग) और छन्द से अनुप्राणित होकर गुरुदेव ने ब्रह्मसगीत की रचना की थी—'सुखहीन निशिदिन पराधीन हये'। 'वाल्मीकि प्रतिभा' मे भूपकल्याण मे निबद्ध एक गान है - 'एइबेला सबे मिले चलो हो', यह गान हिन्दी चतुरग से लिया गया है।' हिन्दी चतुरग है

'चतुरग रस सन गाये हो गायन गुणी आये
महम्मद्साके घर काज हस्ती तुरग सरस सुख पावे

हिन्दी गान के साथ मिलाकर वे किस प्रकार शब्द बिठाते थे, इस विषय मे जानने हेतु कई लोगो मे कौतूहल होना स्वाभाविक है।

हम जानते हैं कि हिन्दी गान के शब्द रागिनी मे निबद्ध होकर जब प्रकट होते है तब शब्दो को न समझते हुए भी राग और छन्द मन पर एक विशेष प्रभाव डालते है, एक विशेष रस की सृष्टि करते है। इस रस को अन्तर मे रखकर वे शब्द एव छन्द मिलाकर मन-ही-मन किसी एक भाव की सृष्टि करते थे। हिन्दी गान के 'सुर' छन्द की सम्पद से मन मे जिस रस को अनुभव करते थे, उसी पर वे विशेष जोर देते थे। हिन्दी गान के माध्यम से उनके मन मे जिस रस की सृष्टि होती थी, उसी की अभिव्यजना हेतु वे अपनी भाषा मे गान की रचना करते थे। इस दृष्टि से विचार करने पर देखा जाता है कि हिन्दी गान के छन्द और 'सुर' (राग) से जिस रस का उनके मन मे सचार होता था, हिन्दी गान के अनुसरण से लिखित उनके गान मे उसके विपरीत भाव का काव्य नहीं है। उन्होने उसका विरुद्धाचरण नहीं किया।

यह है सब प्रकार के भावो के उनके गानो की रचना का मूल आदर्श। बोलो के छन्द में नाच की या सितार की गत के छन्द-वादन की जिस रूप मे अन्तर मे उपलब्धि की है, उसी रूप मे शब्द बिठाए हैं।

गुरुदेव को इस पद्धति से कई गानो की रचना करनी पडी थी। इस प्रकार रचना करने का कारण यह था कि जब भी कोई गान उन्हे अच्छा लगता तो वे उसी समय उसे बगला भाषा मे अन्तर में धारण करने का प्रयास करते थे। इस पद्धति से ही वे कई प्रकार की रागिनियो और प्रणालियो से परिचित हो सके थे। इसके अलावा देखा जाता है कि ब्रह्मसगीत का गायन हर बार उन्होने स्वय नहीं किया। साधारणत निवास के उस्तादो या लडके-लडकियो ने इस सगीत का गायन किया है। उन दिनो के उस्ताद अपने किसी अभ्यस्त गान के शब्दो के अनुरूप बगला शब्दो का सयोजन किए बिना केवल छन्द के बल पर रागिनी सजा नहीं सकते थे। इसीलिए निवास के उस्ताद गुरुदेव को गान सुनाते, और गुरुदेव उनके उस गान के शब्दो के छन्द से मिलाकर बगला शब्द बिठा देते थे।

इस प्रसग मे हिन्दी गानो के अनुकरण से गुरुदेव द्वारा रचित बगला गानो के सम्बन्ध मे कुछ कहना चाहता हूँ। कई लोग इन गानो को उदाहरणस्वरूप लेकर उच्चाग सगीत के रचयिताओ के साथ गुरुदेव को समान स्थान देना चाहते हैं। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार का प्रयास करना वृथा है, क्योकि गुरुदेव की सगीत-प्रतिभा का विकास वास्तव मे इस दिशा मे नहीं रहा। उच्चाग सगीत के अनुसरण से बगला भाषा मे गान रचना कर उच्चाग सगीत-रचयिता के समान होना उन्होने कभी चाहा नहीं। अनुसरण से रचित गानो का विश्लेषण करने पर पता चलेगा कि गुरुदेव ने पुरातन गानो के शब्दों के बदले केवल नवीन शब्द बिठाए हैं, 'सुर' (राग) या ताल की दृष्टि से उन्होने कोई परिवर्तन

नहीं किया। जो रूप था वही है। सुरकार शब्द, 'सुर' और छन्द को एकत्र मिलाकर गान-रचना करते है। गुरुदेव द्वारा उच्चाग सगीत के अनुकरण से रचित गान के तीन भागो मे दो भागो का कृतित्व पुरातन रचयिताओ का है, एक भाग के भागीदार या अशीदार हैं गुरुदेव। अत इस श्रेणी के गानो को गुरुदेव की निजस्व सृष्टि के वर्ग मे हम कैसे रख सकते हैं। किन्तु इन गानो मे उन्होने वास्तव मे जिस क्षमता का परिचय दिया है, वह है प्राचीन गान के 'सुर' और छन्द के साथ अपने शब्दो का मिलन। प्राय प्रत्येक गान 'सुर', छन्द और शब्द के पूर्णतया एकत्र रूप में हमारे सामने है, उस पर मुग्ध हुए बिना नहीं रहा जाता। इस दृष्टि से भी मैं इन गानो की रचना की सार्थकता अनुभव करता हूँ। जो लोग ध्रुपद, धमार, खयाल अग के गान मानकर उनका गौरव समझते हैं, वे भूल करते हैं।

मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व वर्षामगल के उपलक्ष्य मे गुरुदेव ने सितार की गत का अनुसरण कर दो गानो की रचना की। प्रथम है—'एसो श्यामलसुन्दर', दूसरा है—'मोर भावनारे की हावाय मातालो'। इन दो गतो के 'दा, दारा' के छन्द मे मिलाकर शब्द सजाए थे उन्होने।

दक्षिणभारत के गानो के रागो ने उनका मन आकृष्ट किया था, इसका परिचय इस ढग से रचित उनके बगला गानो से मिलता है। अल्पवय मे गुरुदेव जब अपने भाई सत्येन्द्रनाथ के साथ कारवार अचल में रहते थे, तब उन्होने कुछ कर्नाटक-गानो को बगला गानो मे रूपान्तरित किया था। गान है—'आजि शुभदिने पितार भवने अमृतसदने चलो जाइ', इसकी रचना 'पूर्ण चन्द्रानने चिन्मय हरणे मन्मथ मोहने मोहिनी' गान की सहायता से की गई। श्रद्धेया इन्दिरादेवी से प्राप्त हिन्दी गान—'नादविद्या परबह्मरस जानबे' से उन्होने 'विश्ववीणारबे विश्वजन मोहिछे' गान की रचना की। 'आनन्दलोके मगलालोके विराज सत्यसुन्दर' गान की रचना उन्होने अपनी भानजी सरलादेवी द्वारा सग्रहीत मैसूर के एक भजन के अनुसरण से की। इस प्रकार उन्होने और भी कई गानो की रचना की थी।

१३३७ बगाब्द (ई १९३०) मे शान्तिनिकेतन कलाभवन की दक्षिणभारतीय छात्री सुगायिका श्रीमती सावित्री देवी द्वारा गाए गए कुछ दक्षिणी रागो के प्रति गुरुदेव आकृष्ट हुए और उसी के फलस्वरूप हमे 'वासन्ती हे भुवनमोहिनी', वेदना की भाषाय रे', 'बाजे करुण सुरे' और 'नीलाजनछाया' जैसे कुछ गान मिले।

छोटी-छोटी ठुमरियो या टप्पा-चलन के गानो के अनुकरण से अल्पवय मे उन्होने कुछ गानो की रचना की थी, 'वाल्मीकि प्रतिभा' में उसका स्पष्ट परिचय मिलता है, किन्तु मूल हिन्दी गानो के नामों का सग्रह सम्भव नहीं हो सका। परवर्ती जीवन मे रचित गान 'खेलार साथि, विदायद्वार खोला' का स्मरण हो आता है। इसका मूल हिन्दी गान उन्होने सुगायिका श्रीमती साहना देवी से सुना था। यह लखनऊ अचल का एक प्रचलित गान है। 'तुमि किछु दिये जाओ' गान ठुमरी चलन के एक गान 'कै कछु कह रे' के अनुसरण से रचित है। इसका 'सुर' उन्हे श्रीमती सावित्री देवी से मिला था। मीरॉबाई के नाम से प्रचलित एक भजन भी उनसे सुनकर उसे गुरुदेव ने बंगला मे रूपान्तरित किया था। 'कखन दिले पराये स्वपने वरणमाला व्यथार माला' गान भी इसी तरह तैयार हुआ। मूल हिन्दी

गान के शब्द थे 'किन्हे देखा कन्हैया प्यारा की बशीवाला'। हिन्दी गान की रागिनी थी भैरवी, किन्तु 'सुर' (रागिनी) और छन्द मे कुछ सामान्य चपलता थी, जो बगला शब्दो के लिए शोभन नहीं, अत गुरुदेव ने रागिनी बदलकर कर दी पीलू-बरखा एव गति रखी अत्यन्त धीर। यह 'सुर' ही आजकल प्रचलित है। सिखो का विख्यात दोहा 'बादै बादै रम्य बीण बादै' सुनकर गुरुदेव ने भाषा और भाव ठीक रखकर गान की रचना की—'बाजे बाजे रम्यवीणा बाजे'। गुजराती भजन के अनुसरण से उन्होने 'ए की अन्धकार ए भारतभूमि' गान की रचना की। गुरुदेव के गानो पर बाउल-गान के प्रभाव के बारे मे इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र लिखा जा चुका है। यहाॅ कुछ विख्यात स्वदेशी सगीत का उल्लेख कर रहा हूॅ। 'यदि तोर डाक शुने केउ ना आसे' गान की रचना उन्होने निम्न गान के अवलम्बन से की

'हरि नाम दिये जगत् माताले आमार एकला निताइ।
आमार निताइ यदि, (डाक रे निताइ गौर ब'ले)
यदि मने करे, तबे गौर दिलेइ दिते पारे
एकला निताइ (ओ निताइ) ॥'

'आमार सोनार बागला आमि तोमाय भालोबासि' गान की रचना उन्होने 'गगन हरकरा' के इस गान के साथ सुर मिलाकर की

'आमि कोथाय पाब तारे
आमार मनेर मानुष जे रे ॥
हाराये सेइ मानुषे तार उद्दिशे
देश विदेशे
आमि देश विदेशे बेडाइ घुरे '

'एबार तोर मरा गागे बान एसेछे' गान की रचना उन्होने इस गान (निम्नोल्लिखित) के अनुसरण से की .

'मन माझि, सामाल सामाल, डुबल तरी,
भवनदीर तूफान भारी।
तोर हेले पेले ना जल, की करबि बल
केमने जमाबि पाडि '

स्वर्गीया सरला देवी ने चुॅचुडा के नौका-चालको से दो गान—'हरिनाम दिये जगत् माताले' और 'मन माझि सामाल सामाल' सग्रहीत किए थे।

यहाॅ यह बता देना उचित होगा कि गान-रचना के लिए उन्हे और भी विचित्र, विविध मार्ग अपनाने पडे थे। शान्तिनिकेतन के नाच के लिए पहले गान-रचना हुई और बाद मे नाच नियोजित किया गया। किन्तु नाच का अनुशीलन जितना बढने लगा,

लडके-लडकियो के नाच के छन्द मे कई प्रकार का उत्कर्ष दिखाई दिया, नाच को गान से घनीभूत करने की इच्छा से गुरुदेव ने उक्त नाच के मृदग के ताल के बोलो पर कई बार शब्द बिठाए है। 'जाय दिन, श्रावणदिन जाय' इसका एक उदाहरण है। 'चण्डालिका' नाटक के लिए एक दक्षिणी ताल के नाच की बात सोचकर उन्होने 'आमार मालार फूलेर दले आछे लेखा' गान लिखा था। नाच के ताल मे जो तिहाई ली जाती है, उसे ही उन्होने 'आय तोरा आय' शब्दो की तीन बार गान-आवृत्ति मे मिला दिया। मृदग के इन सब तालो की मै उनके सामने आवृत्ति करता गया, और उन्होने इस शब्द झकार के साथ गानो की रचना की है। सिहल के कैण्डी नाच के ताल के बोलो के साथ हूबहू मिलाकर उन्होने नृत्यनाट्य 'चण्डालिका' के और एक गान—'जे आमारे एनेछे एइ अपमानेर अन्धकारे' की रचना की। इस प्रकार का और एक गान है। इतनी विचित्र प्रथा मे गान-रचना के द्वारा गुरुदेव की कविप्रतिभा थोडी भी खर्व हुई, ऐसा नही लगता, अत्यन्त सामान्य शब्दो के गान को भी उन्होने उच्च स्तर पर उठा दिया है। उनकी कवित्व शक्ति इतनी सहजसिद्ध थी कि इस प्रकार प्रथाबाह्य ढग से लिखी होने पर भी उनकी कविताओ ने काव्य मे स्थान पाया है।

कई व्यक्ति सम्भवत ऐसा मान सकते हैं कि हिन्दी या अन्य गानो के छन्द और 'सुर' (राग) के अनुकरण से गुरुदेव ने जितने भी बगला गानो की रचना की है, उन्हे गाते समय मूल गान के 'सुर' के साथ अविकल मेल रखना होता है। यह नियम सर्वत्र लागू नहीं होता। ऐसे गान भी मिलते हैं जिनका 'सुर' (स्वर-सज्जा) काफी बदल गया है। पूर्वोल्लिखित गान 'कखन दिले पराये स्वपने' इसका एक अच्छा नमूना है। 'कोथा जे उधाओ हल' गान की रचना विख्यात हिन्दी गान 'बोल रे पपीहरा' के अनुसरण से की गई। 'सुर' (राग) का मूल ढॉचा ठीक कायम है, किन्तु दोनो गान साथ-साथ गाने पर पता चलेगा कि साधारण रूप से दृष्टि से कितना अन्तर हो गया है। सगीत पडितो को यह परिवर्तन इतना अधिक लगा है कि वे मानते है कि यह मियॉ मल्हार राग का भी गान नही है, इसमे मल्हार राग रहते हुए भी अडाणा और काफी का स्वर-विन्यास भी है, अत इस रागिनी का कोई अन्य नाम होना उचित है। एक व्यक्ति ने कहा कि इसका नाम रविमल्हार कहने मे हर्ज क्या है। सावित्री देवी द्वारा गाए गए मूल कर्नाटक गानो के साथ रूपान्तरित बगला गान के स्वर-सयोजन का काफी पार्थक्य है, विशेषतया गाते समय इस पार्थक्य का पता चलता है। मूल गान के साथ तुलना करने पर पता चलेगा कि मींड और गमक का काम बगला गान में अत्यन्त सामान्य है और 'सुर' (स्वर-सज्जा) मे भी परिवर्तन हुआ है। ऐसा प्राय हुआ है, इस सम्बन्ध मे अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है।

यह बात इसलिए कहनी पडी है कि कोई-कोई ऐसा मानते है कि यह परिवर्तन गुरुदेव द्वारा अनुमोदित नही है और उनकी जानकारी मे ऐसा नहीं किया गया। किन्तु यह बात सत्य नहीं है। उनके मतानुसार परिवर्तन यदि कुछ करना ही हो तो हूबहू एक ही रूप रखना हर समय सम्भव नहीं है।

हम जानते हैं कि विदेशी गान के अनुकरण से रचित रवीन्द्र सगीत है। जीवन के प्रारम्भिक वर्षो मे उस प्रकार के कुछ बगला गानो की रचना की थी। 'सकलि फुरालो स्वपनप्राय' गान `Robın Adaır' नामक एक स्कैच गान के अनुसरण से लिखा गया। 'फुले फुले दले दले बहे किबा मृदुवाय' गान का 'सुर' (धुन) `Ye banks and braes of Bonnıe Doon' नामक विख्यात स्कैच गान से लिया गया। 'कालमृगया' के गान' तुइ आय रे काछे आय, आमि तोरे साजिये दिइ' और 'वाल्मीकि प्रतिभा' के गान 'काली काली बालो रे आज' के 'सुर' (धुन) `The Brıtısh Grenadıers' एव `Nancy Lee' से लिए गए।

इस तालिका से मन मे ऐसा भाव जाग्रत हुए बिना नही रह सकता कि गानो की रचना मे उन्होने अद्भुत उदार भाव दिखाया है। यह उनके परिवार की ही एक विशेष सम्पद है। यह नि सन्देह सत्य है कि वे ध्रुपद की छाया मे बडे हुए, खयाल गान भी उन्होने गाया है, पुन कई बगला और हिन्दी गान भी सुने हैं, गाए है और उन गानो मे उन्हे आनन्द की अनुभूति भी हुई है। ठुमरी, गत, तिल्लाना, बाउल, कीर्तन इत्यादि शैलियो मे गान-रचना की है, जहाँ भी उन्हे जो अच्छा लगा है, उसे ग्रहण कर उन्होने बगला की 'सुर' सम्पद को समृद्ध किया है।

छन्द ॥ ताल

हम सभी जानते हैं कि भारतवर्षीय गान को नियमानुसार गाने के छन्द को ताल कहा जाता है। यह ताल गान के शब्दो का छन्दनिरपेक्ष होगा, अर्थात् गान के शब्दो मे क्या छन्द है, इसका ध्यान न रखते हुए गान स्वय अलग ताल मे निर्मित होता चलता है। गीतछन्द और पठितछन्द साधारणतया एक नहीं होता। इसीलिए गान का ताल कविता के शब्दो के साथ निबद्ध होते हुए भी सम्पूर्ण नवीन् जगत् की सृष्टि करता है। ध्रुपद, खयाल, टप्पा, ठुमरी आदि से गान ग्रहण कर पहले उन्हे कविता के समान पढा जाए और बाद मे 'सुर' (राग) और ताल मे गाया जाए, तो दोनो की पृथकता समझ मे आ जाती है।

भारतीय सगीत जगत् मे गान को यदि कविता के हिसाब से छन्द मिलाकर पढा जाय तो पता चलेगा कि पद-पद पर छन्दपतन-दोष के कारण वह पूर्ण नहीं है, वह कई प्रकार के मिश्र छन्दो या टूटे छन्दो से स्रष्ट है। अत्यत प्राचीन काल से लोकसगीत क्या, उच्चाग सगीत क्या, प्रादेशिक भाषा मे हजार-हजार गान रचे गए हैं, किन्तु कविता के हिसाब से इसके छन्दपतन-दोष को कभी किसी ने दोष नहीं माना। गानो के साथ जुडा इस प्रकार का विराट् काव्यसाहित्य हमे मिलता है, उसमे जब तक थोडा भी भावरस मिलता है, कोई भी किसी भी दिन उसे छन्द की दृष्टि से दीन बताकर काव्यजगत् से स्थानच्युत नहीं कर सकेगा। इस प्रकार के गानो के नमूने देने का विशेष प्रयोजन शायद इसलिए नही है कि प्राचीन और आधुनिक सब प्रकार के बगला गानो मे इसके प्रचुर दृष्टान्त मिलते हैं। लोकसगीत के किसी भी गान मे ऐसी ही स्थिति मिलती है, हिन्दी भाषा के प्राय सभी गान इसी प्रकार छन्दहीन कविता हैं। दक्षिणभारत के गानो मे भी ठीक ऐसी ही धारा दिखाई देती है। गान मे कविता के समान छन्द अवश्य नहीं है, किन्तु मैने शुरू मे ही कहा है कि तबला, पखावज या ढोल का ताल है। वह ताल ही कविता की सब त्रुटियो को दूर कर, 'सुर' (राग, धुन) के साथ एक होकर एक अनिर्वचनीय जगत् का सन्धान देता है।

आधुनिक बगला गान के ताल को लेकर आलोचना करने पर दिखाई देता है कि हिन्दी गानों और पूर्वकाल के बगला गानो मे जिस प्रकार विविध तालो का व्यवहार था, आधुनिक रचयिताओं मे उसका विशेष अभाव है। तीन मात्रा या चार मात्रा के प्रचलित छन्द के तालो के प्रति उनका आकर्षण अधिक है। दुरूह छन्द या विषम मात्रा के तालो मे रचित गानो की स्वल्पता देखकर लगता है कि इस प्रकार छन्द मे गान निबद्ध करने के प्रति उनके मन मे् किसी प्रकार का उत्साह नही है।

गत शताब्दी मे जब हिन्दी गानो के अनुसरण से बगला भाषा मे विविध प्रकार के

गानो की रचना शुरू हुई, तब भी मैंने देखा है कि हिन्दी-गानो के विविध प्रकार के ताल लेकर रचयिताओ ने गानो की रचना की। किन्तु बगाली 'सुर' (धुन) और ताल मे हिन्दी गान के अनुकरण से जितना ही ऊपर उठने लगे, उतना ही देखा गया कि गान के तालो के वैचित्र्य-प्रदर्शन मे एकमात्र गुरुदेव ही अन्य सभी रचयिताओ मे अग्रणी हैं। हिन्दी गानो के समान गुरुदेव ने अपने गानो मे विविध प्रकार के तालो के छन्द को समान रूप मे स्वीकार किया है।

अब तक उनके गानो के तालो को लेकर व्यापक आलोचना न होने के कुछ कारण भी है। एक श्रोता-वर्ग ऐसा भी है जिसके लिए 'सुर' (राग) के साथ शब्दो का मिलन ही प्रधान है। गान के ताल के गूढ तत्त्व की खबर वे नहीं रखते। गान के साथ छन्द का योग रहते हुए भी गान से उसे अलग कर वे उस पर विचार नहीं करते। ऐसे कई शौकिया गायक हैं जो गुरुदेव के गानो के भक्त हैं, स्वय छन्द कायम रखते हुए गान गाकर आनन्द प्रदान करते हैं और आनन्द उठाते हैं, किन्तु यह नहीं जानते कि गान जिस छन्द या ताल मे गाया जा रहा है, वह ताल क्या है। कई ऐसे भी हैं, जिनके लिए गान का काव्यरस ही प्रधान हो जाता है, रागिनी और गान के ताल के प्रति उनका कोई ध्यान नहीं रहता। उस्तादो मे जो गुरुदेव के गानो का कुछ अनुशीलन करते हैं, वे हिन्दी गान के अनुसरण से गुरुदेव द्वारा रचित गानो को ही पसन्द करते हैं, उन गानो मे उनके सस्कारगत तालो का परिचय पाकर वे खुश होते हैं।

गुरुदेव प्रारम्भिक जीवन मे, अर्थात् जितने दिन वे विष्णु, यदुभट्ट एव अपने भ्राता ज्योतिरिन्द्रनाथ जैसे सगीतज्ञो की छत्रछाया मे थे, तब तक वे तबला-पखावज के तालो के नियमो की अवहेलना नहीं कर सके। इसी कारण उस समय के गानो के विविध प्रकार के तालो का नामो द्वारा निदर्शन दिखाई देता है। यहॉ तक कि, शान्तिनिकेतन के जीवन मे 'शारदोत्सव' नाटक के लिए गान-रचनाकाल मे भी वह प्रभाव दिखाई दिया। उस समय तक के गानो के ऊपर राग-रागिनी और ताल का नाम लिखा हुआ है; किन्तु इसके बाद इस प्रकार मृदग या तबला के ताल का नाम देना वे पसन्द नहीं करते थे, इसीलिए जीवन के अन्त तक शेष गानो के तालो का कोई निर्देश नहीं है। श्रद्धेया इन्दिरादेवी ने जब इस सम्बन्ध मे प्रश्न उठाया तो उत्तर मे गुरुदेव ने कहा था, "मेरे आधुनिक गानो पर राग-ताल का उल्लेख न होने का आक्षेप लगा रही हो। सावधान रहनेवाले का विनाश नही होता। उस्ताद जानते हैं कि मेरे गानो मे रूप का दोष है इसके ऊपर यदि नाम की भूल हो तो खडा कहॉ रहूँगा।" यह ठट्ठा होते हुए भी बात सत्य है—उस्तादो के साथ उन्होने समान मार्ग नहीं अपनाया, इसीलिए उन्होने इस प्रकार की बात कही है।

'शारदोत्सव' के दस वर्ष बाद लिखित प्रबन्ध 'सगीत की मुक्ति' मे गुरुदेव ने अपने गानो के तालो के नाम न देने का कारण अधिक स्पष्ट रूप से समझाया है। वहॉ उन्होने कहा है, "अर्से से कविता लिख रहा हूँ, इसीलिए छन्द के तत्त्व को कुछ-कुछ समझता हूँ। उस छन्द के बोध से ही गानो की रचना करने लगा," क्योकि "काव्य मे छन्द का जो काम है, गान मे ताल का वही काम है। अतएव छन्द जिस नियम से कविता मे

चलेगा, ताल उसी नियम से गान मे चलेगा " अन्यत्र उन्होने कहा है, "कविता मे जो छन्द है, सगीत मे वही लय है। अतएव काव्य मे ही क्या, गान मे ही क्या, इस लय को यदि हम मानते हैं तो ताल के साथ विवाद होने पर भी डरने का प्रयोजन नहीं है।" अर्थात् त्रिताल के छन्द का गान होने पर सोलह मात्रा पूर्ण कर प्रथम मात्रा पर जोर (सम-आघात) और नौ मात्रा पर खाली दिखाना होगा, इस प्रकार के नियम की कोई बाधा नहीं रही। एकताल छन्द और झपताल मे ऐसा ही हुआ है। उनके गानो मे सर्वत्र ही ताल का सम और खाली दिखाने की आवश्यकता है, ऐसा भी नहीं है। उस दृष्टि से भी उन्होने शेष जीवन के गानो मे उस ओर बिलकुल ही भ्रूक्षेप नहीं किया। यद्यपि आठ मात्रा और छह मात्रा मे पूर्ण तालो मे उनके शेष जीवन के गानो की स्वरलिपि तैयार की गई है, उनमे भी कई बार मात्रा ठीक रखते समय कई गानो की स्वर-सज्जा को छोटा कर तबला के नियम से उन्हे मिलाया गया है।

यह बात हम मान सकते हैं कि छन्द की निजस्व भावप्रकाश-क्षमता है। यह भी सत्य है कि विभिन्न छन्दो की झूमने की अवस्था (प्रवाह) मन मे विभिन्न रसो का सचार करती है। इसीलिए जो यथार्थ रसिक हैं, वे शान्त और गम्भीर रस की कविता मे धीर लय के छन्द के पक्षपाती होगे। उद्दामता और चाचल्य मे द्रुत या चचल छन्द दिखाई देगा। अच्छी कविता मे भाव के साथ सामजस्य रखकर ही छन्द का व्यवहार होगा। छन्द की सहायता से कविता का रस हमारे समक्ष अधिक सुन्दर ढग से प्रस्फुटित होता है। किन्तु गान के समय हमे शब्दो के साथ 'सुर' और ताल मिलता है। कविता मे जैसे ही 'सुर' और ताल सयोजित हो गए, उसके (कविता के) निजस्व छन्द का दायित्व जैसा कुछ भी नहीं रहा। कविता तब 'सुर' और ताल के साथ मिलकर चलती है।

कोई कविता जब गान मे परिणत होती है, तब उस कविता का छन्द 'सुर' का अनुसरण करेगा, ऐसी कोई बात नहीं है। गान के 'सुर' की सहायता से अन्य ताल के माध्यम से भी उस भाव को प्रस्फुटित किया जा सकता है। एक उदाहरण देता हूँ—गुरुदेव की 'क्षणिका' की कविता 'हृदय आमार नाचे रे आजिके' की रचना कई वर्ष पूर्व तीन मात्रा के छन्द मे की गई। किन्तु 'सुर' और ताल में इसी भाव को कायम रखते हुए इसे गान मे परिणत करते समय चार मात्रा के ताल की सहायता ली गई है।

गान-रचना मे कई बार कविता का छन्द बदलने का प्रयोजन होने पर गुरुदेव पहले उस गान के शब्दो की नए छन्द मे कई बार आवृत्ति कर उसका कच्चा रूप खडा करते थे। बाद मे उसी के आधार पर स्वर-संयोज्न करते थे। इस प्रकार शब्दो को सजा लेने मे सुविधा यह है कि स्वर-सयोजन के समय शब्दो का वैशिष्ट्य उसमे ठीक कायम रहता है। गान के शब्दो के रस को और भी सुन्दर बनाकर प्रस्फुटित करना ही 'सुर' (राग, स्वर-सज्जा) का काम है। इस बात को ध्यान मे रखकर स्वर-सयोजन करने पर गान के शब्द, 'सुर' और छन्द के सहयोग से मिलन का सुन्दर रूप हम देख सकेंगे। गुरुदेव के गानो मे शब्द, 'सुर' और छन्द के अपूर्व मिलन का यही कारण है।

गुरुदेव के गानो मे गीतछन्द और पठितछन्द कई बार एक समान नहीं बन पडे है। गान का पठितछन्द विशुद्ध रहा है, ऐसा भी नहीं है। उनके गानो के पठितछन्द मे सशक्त छन्द का बन्धन गद्य, गद्यछन्द, मिश्र या मुक्तछन्द रहते हुए भी गान के मामले मे वे ही शब्द ताल के आश्रय से नवीन रूप ले लेते हैं।

गान के इन तथ्यो की जानकारी न होने के कारण गुरुदेव के गानो को स्वरलिपि विहीन मुद्रित अक्षरो मे पढकर उसमे विविध रूप के मिश्र और खंडित छन्द का विचित्र रूप देखकर काव्यरसिक आश्चर्यचकित हो जाते हैं। एक ख्यातिप्राप्त साहित्यिक कवि ने कहा है,—"'सुर' (रागिनी) को छोडकर गान जब मैं कविता के समान पढता हूँ, तब भी उसका छन्द निर्दोष, त्रुटिहीन रहेगा। जो गान कविता के हिसाब से टूटे (खडित) छन्द मे ग्रथित है, उसे ग्रहण करने के लिए काव्यविलासी मन सम्मत नहीं होता।" किन्तु वे यह नहीं जानते कि काव्य-जगत् मे टूटा छन्द दृष्टि आकृष्ट करने पर भी गान के जगत् मे कोई भी उस ओर ध्यान नहीं देता। इस बात को ध्यान मे रखकर पाठको को सतर्क करने के उद्देश्य से गुरुदेव ने बार-बार गान के शब्दो के छन्दपात-दोष (मात्रादोष) का उल्लेख किया है

'मायार खेला' की भूमिका मे है

"इसमे सभी केवल गान हैं, पाठोपयोगी कविताएँ कम ही हैं।"

"इस ग्रथ के अधिकाश गान पाठ्य नहीं है। आशा करता हूँ कि स्वर-सयोजन से श्रुतियोग्य हो सकते है।"—'गानेर बहि'

"गान और गीतिनाट्य पाठयोग्य कविताएँ नहीं हैं, केवल ग्रन्थावली की असम्पूर्णता निवारण के लिए प्रकाशक के अनुरोध पर इन्हे इस ग्रथ मे स्थान मिला है"—काव्यग्रन्थावली १३०३ बगाब्द (ई १८९६)।

'प्रवाहिणी' नामक गानो की पुस्तक की भूमिका मे गुरुदेव ने यह बात स्वीकार कर कहा है कि "जो सभी रचनाएँ प्रकाशित की गईं, वे सभी गान हैं, स्वर-सयोजन से युक्त। इस कारण किसी-किसी पद मे छन्द का बन्धन नहीं है।"

'गीतांजलि' के विषय मे उन्होने कहा है, "आरम्भ मे ही यह कह देना आवश्यक है कि 'गीताजलि' मे ऐसी कई कविताएँ हैं जिनका छन्द कायम रखने का भार गान के 'सुर' (रागिनी) पर रखा गया है। अतएव जिन पाठको के कान छन्द के अभ्यस्त हैं, वे गान की खातिर इसकी मात्रा स्वय कम-अधिक कर पढ सकते हैं, जो इसके अभ्यस्त नही, उन्हे धैर्य का अवलम्बन लेना होगा।" उदाहरणस्वरूप जिन कुछ कविताओ का उल्लेख उन्होने किया है, वे सब गान ही हैं।

'वाल्मीकि प्रतिभा' की रचना के समय उन्होने कहा है, "यह गीतिनाट्य छन्द इत्यादि के अभाव से अपाठ्य हो गया है। यह 'सुर' लय मे नाट्यमच पर श्रवण और दर्शनयोग्य है।"

'चित्रागदा' की रचना के समय गुरुदेव ने कहा है, "यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि इस जाति की रचना मे 'सुर' (स्वरसज्जा) स्वभावत भाषा को बहुत अधिक अतिक्रम

कर जाता है, इस कारण 'सुर' का साथ न मिलने पर इसका वाक्य और छन्द पगु हो जायँगे। काव्य-आवृत्ति के आदर्श से इस श्रेणी की रचना विचार्य नहीं है।"

'श्यामा' नृत्यनाट्य का पहले नाम था 'परिशोध'। उसकी भूमिका मे लिखा हुआ था, "शुरू से अन्त तक सभी 'सुर' मे निबद्ध हैं। कहना न होगा कि मुद्रित अक्षरो मे 'सुर' का साथ देना असम्भव होने के कारण शब्दो का श्रीहीन वैधव्य अपरिहार्य है।"

१३४३ बगाब्द (ई १९३६) के 'वर्षामगल' के गान 'चले छलोछलो नदीधारा', 'आँधार अम्बरे', 'ओई मालतीलता दोले' का उल्लेख कर उन्होने कहा है, "ये गान कविताएँ नहीं, ये गान हैं, पाठ-सभा मे इनका स्थान नहीं, गीत-सभा मे इनका आह्वान है, स्वर का साथ न होने पर ये बुझी ज्योति के प्रदीप के समान है।"

गुरुदेव के समान छान्दसिक कवि और गीतरचयिता के लिए ऐसा कैसे सम्भव हुआ, यह प्रश्न कइयों के मन मे उठता है। पुन , कई गुणी मुक्तछन्द, छन्दशैथिल्य, गद्यचरित या अमित्राक्षर छन्द की कविता का रूप देखकर विस्मित होते हैं। उनकी धारणा है कि गुरुदेव ने इस प्रकार का कार्य सोच-समझकर ही, कुछ प्रयास कर ही किया है। किन्तु उनकी धारणा सही नहीं है, इसका कारण समझाता हूँ।

हिन्दी गान, तिल्लाना या गत के अनुसरण से रचित उनके बगला गानो के मामले मे मुक्तछन्द, छन्दशैथिल्य आदि के रूप दिखाई दिए हैं, क्योकि हिन्दीगान, तिल्लाना या गत मे जो काव्य या बोल होते है, कविता के छन्द के समान उनका बन्धन नहीं है। शैशवकाल से इस पद्धति के विविध प्रकार के अमिल, खडित छन्द के गान सुनकर, गाकर एव उसी खडित छन्द के अनुकरण से गानो की रचना कर गुरुदेव की इस विषय मे एक स्पष्ट धारणा बन गई थी। इसीलिए प्रचलित निर्धारित छन्द का उल्लघन कर गानो की रचना करने मे उन्होने द्विधा अनुभव नहीं की। इसके अलावा गान के आवेग मे गुरुदेव के मन मे कई बार गान का 'सुर' और शब्द एक साथ उद्भूत हैं, इस प्रकार के सभी गानो के शब्दो मे छन्दत्रुटि रहने पर भी साधारणत उन्हे अलग कर छन्द के बन्धन में बाँधने की इच्छा उन्हे नहीं रहती थी। वह जिस रूप मे है, उसी रूप मे रखने के वे पक्षपाती थे। इसीलिए इस प्रकार के गानो के पदो मे शुरू से ही छन्द के बन्धन की कठोरता रखने की आवश्यकता नहीं रही और इसीलिए वहाँ शिथिलता परिलक्षित हुई है। वे जानते थे कि गान के 'सुर' और ताल के मिश्रण से यह अभाव पूर्ण हो जाएगा। इस पद्धति के गानो को ही किसी-किसी ने मुक्त छन्द या गद्य मे रचित गान कहा है।

'तुमि तो सेइ जाबेइ चले', 'दखिन-हावा जागो जागो' और 'पूर्णचाँदेर मायाय आजि भावना आमार पथ भोले' जैसे गानो मे छन्द का आघात जिस मात्रा पर पडता है, यह भी उल्लेखयोग्य है। इसका वैशिष्ट्य यह है कि गाते समय प्रत्येक शब्द के द्वितीय अक्षर को ताल की प्रथम मात्रा के रूप में लिया जा रहा है और उसके ऊपर ही छन्द का वजन या आघात पडता है। साधारणतया हम गान में शब्द के प्रथम अक्षर पर ही ताल का आघात (सम) देखने के अभ्यस्त हैं। गान के बीच मे कभी-कभी उसका भी व्यतिक्रम होता है, किन्तु आरम्भ से अन्त तक उपरोक्त तीन गानों के समान एक ही प्रकार द्वितीय अक्षर

पर आघात रखते जाने की रीति अन्य किसी बगला गान मे नही दिखाई देती। प्रचलित प्रथा के अनुसार उपरोक्त गानो के प्रथम अक्षर पर आघात (सम) रखकर यदि उन्हे गाया जाए तो देखा जाएगा कि गानो ने एक स्वतंत्र रूप ले लिया है। इसके छन्द का विभाग इस प्रकार है

तु । मि ० तो । से इ जा । बे इ च । ले ० कि ।
। छु ० तो । ना ० र । बे ० बा । कि ० ० ।

इस पद्धति के छन्दयुक्त गान और अनेक हैं, एव यहॉ यह भी बता देना उचित होगा कि वृद्धावस्था के उनके गानो मे छन्द के इस प्रकार के विभागो का व्यवहार अधिक हुआ है।

कविता के छन्द को यथासम्भव कायम रखते हुए गुरुदेव ने कई गानो की रचना की है। विभिन्न छन्दो के इस प्रकार के कुछ गानो को लेकर मै आलोचना करूँगा। 'खर वायु बय बेगे चारि दिक छाय मेघे', 'जनगणमन-अधिनायक' चार मात्रा के छन्द के गान हैं। इन दो गानो की रागमुक्त कविता के छन्द मे आवृत्ति करने पर पता चलेगा कि गानो मे कविता का छन्द कायम रखने की चेष्टा की गई है। सात मात्रा के ताल को तीन-चार मे विभाजित करने पर जो छन्द बनता है, उस छन्द के गान हैं-'हृदये मन्द्रिल डमरु गुरु-गुरु' और 'मातृमन्दिर पुण्य अगन', इन दोनो की आवृत्ति करने पर दिखाई देगा कि यह गान के छन्द के साथ प्राय एक है। तीन मात्रा का छन्द इन दो गानो मे है—'नील-अजनघन पुजछायाय सम्वृत अम्बर' और 'देश देश नन्दित करि'। आवृत्ति के समय ध्यान देने पर पता चलेगा कि गान का छन्द आवृत्ति का प्रस्वन, यति, खिचाव आदि कायम रखकर तीन मात्रा के ताल पर खडा है।

इस भाव की कविता का छन्द गान के मामले मे न बदलने के कुछ कारण भी हैं। यहॉ गीत-रचयिता ने पहले गान के शब्दो को लिखकर उन्हे छन्द मे सजा लिया है, उसके बाद स्वर-सयोजन किया है। इन कुछ गानो मे शब्दो का विन्यास और छन्द की गति इस प्रकार मिल गई है कि स्वर-सयोजन के समय उसे बदलना किसी प्रकार सम्भव नहीं हुआ। ऐसा करने पर इन गानों के शब्दो की झकार मे या छन्द मे जो रस अभिव्यक्त होता है, वह खर्व हो जाता। बगला गान मे शब्द या गान के भाव को प्रस्फुटित करना ही रचयिता का एकमात्र लक्ष्य है। वहॉ यदि लगे कि छन्द का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है, तो गान-रचना के समय उसे भी हमे सर्वदा ध्यान में रखना उचित है। इस दृष्टि से भी रवीन्द्र सगीत हमारी विशेष सहायता करता है एव इस गान की छन्द की दृष्टि से आलोचना करने पर हम इस तथ्य पर पहुँचेगे कि कविता के भाव-प्रकाश मे छन्द जिस प्रकार अत्यावश्यक है, उसी प्रकार बगला गान मे रागिनी विहीन छन्दोबद्ध शब्दो का भी बहुत बडा स्थान है।

छान्दसिक इस विषय मे एकमत है कि गुरुदेव अपने प्रारम्भिक जीवन की कविता-रचना मे अक्षरवृत्त के अलावा अन्य छन्द की कविता मे युक्ताक्षर के व्यवहार के विशेष पक्षपाती नहीं थे, किन्तु बाद मे छन्द और ध्वनि-वैचित्र्य के लिए उन्हे विविध प्रकार के युक्ताक्षर

विशिष्ट शब्द कविता मे लेने पडे है। उन्होने स्वय इस बात को स्वीकार कर कहा है, "उस समय अक्षर-गणना के तीन मात्रामूलक छन्द से युक्त ध्वनि का वर्जन करके ही चलता था, किन्तु उससे रचना मे लालित्य की दुर्बलता दिखाई देती। वह जब मेरे लिए विरक्तिकर हो गया, तब मैने युक्त ध्वनि की शरण ली।" साधारण पाठ्योग्य कविता मे इसका यथेष्ट परिचय मिल जाने पर भी उनके युक्ताक्षरबहुल गानों की सख्या अधिक नहीं है। लिरिक या गीतकविता का प्रधान वैशिष्ट्य है इसका भाव और भाषा की सहज सरल अनायासकृत गति, आन्तरिकतापूर्ण अनुभूति, अवयव की स्वल्पता और सगीत माधुर्य—गान-रचना मे इस पद्धति की कविता ही सबसे उपयुक्त मानी जाती है एव स्वीकार की जाती है। इसीलिए गान मे युक्ताक्षर बहुल शब्दो का न रहना स्वाभाविक है। फिर भी उनके परवर्ती जीवन मे युक्ताक्षर बहुल गानो की सख्या प्रारम्भिक जीवन के गानो की तुलना मे कुछ अधिक है। देखा जाता है कि युक्ताक्षर विशिष्ट गान साधारणतया गभीर प्रकृति के हैं अथवा सशक्त भाव से पूर्ण हैं। 'प्रचण्ड गर्जने आसिल एकि दुर्दिन', 'आँधार अम्बरे प्रचण्ड डम्बरु', 'नीलअजनघन पुजछायाय', 'हिसाय उन्मत्त पृथ्वी', 'मातृमन्दिर-पुण्य-अगन' प्रभृति गानो से बात स्पष्ट हो जाती है। इस विषय मे उन्होने स्वय भी कहा है, "बगला भाषा के शब्दो की ध्वनि मृदु होने के कारण कई बार हम कवियो को जबरदस्ती अप्रचलित सस्कृत शब्दो का व्यवहार करना पडता है।" "इन सभी गम्भीर शब्दो की आवाज से मन अच्छी तरह से जाग उठता है।

रवीन्द्र सगीत मे लय की ओर ध्यान देने पर देखा जाता है कि प्रारम्भिक काल मे वे द्रुत छन्द के गान के विशेष पक्षपाती नहीं थे। १२९१ बगाब्द (ई १८८४) मे, अर्थात् जब उनकी आयु मात्र २३ वर्ष थी, तब 'वाल्मीकि प्रतिभा' के गान छोड़ देने पर उनके द्वारा रचित गानो की सख्या थी सौ से अधिक, किन्तु उनमे द्रुत या नृत्य के छन्द के गान प्राय बारह हैं एव सभी गान खेमटा ताल मे हैं। १२९९ बगाब्द (ई १८९२) तक इस प्रकार के और पॉच गानो की रचना हुई है। देखा जाता है कि इस नृत्य-छन्द मे उन्होने इस समय तक एक भी धर्मसगीत, राष्ट्रीय संगीत या ऋतुसंगीत की रचना नहीं की इसका एकमात्र कारण यह है कि शिशुकाल से ही उनका मन भारतीय सगीत के गाम्भीर्य के प्रति ही अधिक आकृष्ट हुआ था। द्रुत छन्द का ताल गाम्भीर्य के प्रतिकूल है।

जीवन के मध्यकाल मे छन्दप्रधान गान के प्रति उनका आकर्षण अधिक दिखाई देता है और पहले के अनुपात मे धीमी (विलम्बित) लय के गानो की सख्या काफी कम है। इस परिवर्तन का एकमात्र कारण बाउल सगीत का प्रभाव लगता है। बाउल सगीत मे नृत्य-छन्द है, किन्तु वह छन्द हिन्दी गान के खेमटा ताल के समान वातावरण तैयार नहीं करता। यद्यपि व्याकरणगत मेल की दृष्टि से दोनो ही समान हैं, किन्तु उभय प्रकृति के गानों के गठन मे कहीं ऐसा अन्तर है, जिसके फलस्वरूप इनकी चचलता मे भी पार्थक्य परिलक्षित होता है। बाउल के नृत्योपयोगी द्रुत छन्द के गान मे उन्हे अनर्विचनीय आनन्द मे अपने को भूल जाने का परिचय मिला था। बाउल के छन्द मे राष्ट्रीय सगीत की रचना के समय वे इस मुक्ति का रूप प्रस्फुटित कर सके थे, अत. इस प्रेरणा का प्रभाव उनके

जीवन के शेषकाल के गानो पर पडा है। उस समय से उन्होने बाउल के ढग से कई धर्मसगीत की रचना की है, कई प्रकार का ऋतुसगीत भी तैयार किया तथा अनेक अन्यान्य गानो की भी रचना की।

जिन्हे गुरुदेव के साथ रहने का सुयोग मिला है, वे जानते हैं कि गुरुदेव मन-ही-मन गाते समय कभी द्रुत लय मे नहीं गाते थे, चाहे वह बगला गान ही हो या अल्पायु मे सीखा हुआ हिन्दी गान। युवाकाल के गान ही वे अधिक गाते थे, क्योकि जीवन के शेषकाल के गानो की अपेक्षा वे उन्हे अधिक याद रहते थे। युवाकाल के गानो से विगत दिनो के आनन्द एव वेदना के विविध क्षणो की स्मृति जिस प्रकार उनके मन मे उदित होती, वैसी स्मृति जीवन के शेषकाल के गानो से उदित नहीं होती थी। परवर्ती काल के कई गानो की रचना उन्होने कब की है, कई बार उन्हे यह भी याद नहीं रहता था। किन्तु यौवन-काल का प्राय प्रत्येक गान उन्हे याद था और वे उन्हे गाकर भी सुनाते थे। मैने देखा है कि इन सब रचनाओ को गाते समय वे प्राय निर्धारित ताल या छन्द मे नहीं गाते थे, केवल द्रुत लय के गान अपवाद थे। कई नाटको के अभिनय मे भी मैने उन्हे गान गाते हुए सुना है, तब भी मैंने देखा है कि विलम्बित लय के गानो मे निर्धारित छन्द के नियम का ठीक पालन वे नहीं करते थे, गान स्वाभाविक ढग से बात करने के छन्द मे गाते थे, जैसे गान के माध्यम से बात कह रहे हैं। इस प्रकार यह गायकी-पद्धति भी बहुत मनोहर लगती। उससे गान के माध्यम से भावाभिव्यक्ति भी सुन्दर बन पडती। किन्तु इस विषय मे यह कहना जरूरी है कि निर्धारित छन्द को खडित कर शब्द, बात के छन्द मे गाने की रीति बहुत सहज नहीं है, इसके लिए सगीत और काव्य का गभीर रसबोध चाहिए, क्योकि गाते समय स्वरकर्षण से छोटा-बडा एव लय द्रुत और विलम्बित कहॉ होगी, गान के शब्द एक-दूसरे से सटे हुए या अलग-अलग चलेगे, इन सबकी ओर अच्छी तरह से ध्यान देना होगा। ऐसा न होने पर 'सुर' (राग), शब्द सभी असलग्न, सामजस्यहीन सुनाई देगे, एकत्व स्थापित नहीं होगा।

कई तालयुक्त गान भी उन्होने इस प्रकार शब्द के छन्द मे गाए है, अनियन्त्रित छन्द मे कई गानो की रचना वे कर गए है, जिन्हे उसी प्रकार गाया जाता है, यद्यपि उनके कई गानो को स्वरलिपि-नियम से निबद्ध करते समय सुनियन्त्रित ताल के नियम मे निबद्ध किया गया है। इन सब गानो की स्वरलिपि को हम 'सुर' (रागिनी) के ढॉचे के हिसाब से देखेगे। अत जो केवल स्वरलिपि का आनुगत्य स्वीकार कर इस प्रकार के गान गाएँगे, वे इन गानो के साथ अन्याय करेगे। इन सब गानो की गायकी या गायन पद्धति को सुने एव सीखे बिना सब मिट्टी हो जाएगा। 'सखी, ऑधारे एकेला घरे', 'अश्रुभरा वेदना', 'कार बॉशि निशिभोरे', 'एसो शरतेर अमल', 'वेदना की भाषाय रे', 'बाजे करुण सुरे', 'बन्धु, रहो रहो साथे', 'कखन दिले पराये' इत्यादि गान स्वरलिपि के साथ कई पुस्तको मे प्रकाशित हुए हैं। यहॉ प्रत्येक सगीतानुरागी को स्मरण रखना होगा कि इन सब गानो की स्वरलिपि जब दिनेन्द्रनाथ ने तैयार की, तब स्वरलिपि के नियम से उन्हे निबद्ध करने के लिए किसी गान को चार मात्रा के, किसी गान को तीन मात्रा दादरा के, सात मात्रा

तेवडा के, इस प्रकार के विविध प्रकार के छन्दो की मात्रा के अनुसार स्वरलिपि लिखनी पडी थी। स्वरलिपि देखकर कोई यह न सोचे कि गुरुदेव या दिनेन्द्रनाथ दोनो ही स्वरलिपि के छन्द मे ये सब गान गाते थे। मेरे शान्तिनिकेतन-निवास के जीवनकाल मे इन गानो की रचना हुई और इनकी शिक्षा के समय भी मैं इससे घनिष्ठ रूप मे जुडा हुआ था, इसीलिए मैं यह बात जोर देकर कह सकता हूँ।

गुरुदेव के गीतनाट्य की बात ली जाए। इन सब नाटको के गानो की स्वरलिपियाँ विभिन्न लिपिकार लिख गए हैं एव वे पुस्तकाकार मे प्रकाशित भी हुई है, किन्तु अभिनय के समय उनके गान कभी स्वरलिपि के नियम से नहीं गाए जाते। कई गान तो अभिनय के समान कर ही गाए गए हैं। आज यदि उस ढग की अवज्ञा कर पुस्तक के अनुसार ही गीतनाट्य के सभी गान गाकर अभिनय किया जाए, तो अभिनय कभी सफल नही होगा।

अब तक गान-रचना मे शब्द के छन्द और ताल का विषय लेकर आलोचना की गई, अब देखा जाए कि छन्द की सहायता से गान की दृष्टि से उन्होने कितने प्रकार के नए तालो का आविष्कार किया है।

प्राचीन या आधुनिक हिन्दी गान मे जितने प्रकार के ताल हैं, रवीन्द्र सगीत में उनका परिचय मिलता है। ध्रुपद, खयाल, ठुमरी, टप्पा आदि किसी भी चलन के गानो के तालो का उनके सगीत मे परित्याग नहीं हुआ है। इनके अलावा बगाल के कीर्तन और लोकगीति के तालो को उसमे स्थान मिला है।

१३०३ बंगाब्द (ई १८९६) तक गुरुदेव के गानो मे किसी नवीन छन्द या ताल को लेकर परीक्षण दिखाई नहीं दिया। उसके बाद १३१० बगाब्द (ई १९०३) मे प्रकाशित ग्रथावली मे तीन गान ऐसे मिलते हैं, जिनके ताल गुरुदेव की अपनी नवीन सृष्टि के रूप मे स्वीकार किए गए हैं। इससे माना जा सकता है कि १३०३ बगाब्द और १३१० बगाब्द के बीच उन्होने इन नए तालो की रचना की थी। तीन गान हैं—'गभीर रजनी नामिल हृदये', 'निविड घन आँधारे' और 'दुयारे दाओ मोरे राखिया'।

आठ मात्रा के छन्द को चार-चार की समान मात्राओ मे विभाजित कर गाने का चलन सर्वत्र है, किन्तु इसे विषम मात्रा मे विभाजित कर ३-२-३ मात्रा मे यदि हम गान करे तो इसकी शक्ल क्या होगी ? इस ताल के 'गभीर रजनी नामिल हृदये', 'ओइ रे तरी दिल खुले', 'जीवने यत पूजा हल ना सारा', 'कत अजानारे जानाइले तुमि' और 'जीवन-मरणेर सीमाना छाड़ाये' गान सुनने पर बात स्पष्ट रूप मे समझ मे आ जाएगी। 'गभीर रजनी' गान का ताल-विभाजन कर दिखाता हूँ कि गान मे ताल किस प्रकार चलता है

। । । । । । । । । । । । । । । । । । । ।

। ग भी र । र । ज नी ० । ना मि ल । हृ ० । द ये ० ।

इस गान के ताल की एक मात्रा कम कर यदि तेवडा ताल के छन्द मे उसे रखा जाए तो गान की शक्ल बदल जाएगी एव इस ताल मे गाए जाने वाले जिन गानो के नाम मैने लिखे हैं वे सब विलम्बित लय के गान हैं। आदि ब्राह्मसमाज के अन्यतम गायक कागालीचरण सेन ने १३११ बंगाब्द (ई १९०४) की ब्रह्मसगीत-स्वरलिपि मे इस ताल का

उल्लेख गुरुदेव-रचित नवीन ताल के रूप मे किया है, उसमे इसका नामकरण किया गया 'रूपकडा' एव उन्होने इसका ठेका तैयार कर दिया है

| धागे तेटे तेटे । तागे तेटे । केटे तागे तेटे |

इस ताल का सम प्रथम अक्षर पर ही है, खाली का व्यवहार नहीं है, सम से ही गान शुरू होता है। उत्तरभारतीय सगीत के लिए यह ताल पूर्णतया नवीन है, किन्तु दक्षिणभारत के कर्नाटक सगीत मे यह ताल प्रचलित है, इसका नाम उन्होने दिया है—'सारताल'।

नौ मात्रा के ताल को तीन-चार प्रकार से विभाजित कर गुरुदेव ने कुछ गानो की रचना की है उनमे दो धर्मसगीत—'निविड घन आँधारे ज्वलिछे ध्रुवतारा' और 'प्रेमे प्राणे गाने गन्धे आलोके' मे नौ मात्रा ३-२-२-२ मे विभाजित है।

। । । । । । । । । ।
। नि वि ड । घ न । आँ ० । धा रे ।
। प्रे मे प्रा । णे गा । ने ग । न् धे ।

'ब्रह्मसगीत-स्वरलिपि' मे कागालीचरण ने लिखा है, इसका नाम है 'नवताल' और इसका ठेका है

। धा दे न्ता । तेटे कता । गदि घेने । धागे तेटे ।

यह गुरुदेव-सृष्ट नवीन ताल है। 'व्याकुल बकुलेर फूले भ्रमर मरे पथ भूले' गान नौ मात्रा छन्द मे रचित है, स्वरलिपि मे दिनेन्द्रनाथ ने इसका छन्द ५-४ मात्रा मे दिखाया है .

। । । । । । । । ।
। व्या कु ल ब कु । ले र फू ले ।

किन्तु 'सगीत की मुक्ति' प्रबन्ध मे गुरुदेव ने इसका विभाजन ३-६ से किया है

। । । । । । । । ।
। व्या कु ल । ब कु ले र. फु ले ।

'जे कॉदने हिया कॉदिछे' गान का गुरुदेव ने 'सगीत की मुक्ति' प्रबध मे नौ मात्रा के गान के रूप मे उल्लेख किया है एव विभाजन इस प्रकार किया है

। । । । । । । । ।
। जे कॉ द ने हि या । कॉ दि छे ।

किन्तु दिनेन्द्रनाथ ने स्वरलिपि मे जो मात्रा-विभाजन किया है, उसमे साधारण दादरा छन्द ही है। 'दुयार मोर पथपाशे' गान भी नौ मात्रा के ताल का है

। । । । । । । । । ।
। दु या र मो र प थ पा शे ।

इसे इस प्रकार सजाया गया है। इस ताल का वजन पूरी नौ मात्रा के अन्त मे प्रथम मात्रा पर आता है। बगला सगीत या उत्तरभारतीय सगीत में नौ मात्रा के ताल का प्रचलन बिलकुल नहीं है, किन्तु कर्नाटक सगीत के लिए यह ताल नया नहीं है। किन्तु गुरुदेव

ने नौ मात्राओ का जिस रूप मे विभाजन किया है, वह सर्वत्र कर्नाटक सगीत के साथ मेल नहीं खाएगा। उनका ५-२-२ मात्राओ का 'दुष्कर ताल' और २-७ मात्राओ का 'फूल ताल है। गुरुदेव के गान मे इस प्रकार नौ मात्रा का कोई ताल नहीं है, किन्तु 'दुयार मोर पथपाशे' गान के ताल के साथ कर्नाटक सगीत के 'वस्तुताल' का हूबहू मेल है। रवीन्द्र सगीत-सग्रह मे अब तक दो गान ही ऐसे मिले हैं, जिनकी मात्रा १० है। किन्तु यह प्रचलित झपताल के समान नहीं है। 'ओ देखा दिये जे चले गेल' गान १० मात्रा का है, इसका विभाजन ५-५ है

| | | | | | | | | |

। दे खा दि ये जे । च ले गे ल ओ ।

'ब्रह्मसगीत-स्वरलिपि' मे कागालीचरण ने गुरुदेव-रचित 'एकादशी' नामक एक ताल का उल्लेख किया है, उसका गान है—'दुयारे दाओ मोरे राखिया'। इस ताल की मात्रा है ३-२-२-४, जैसे

| | | | | | | | | | |

। दु या रे । दा ओ । मो रे । रा ० खि या ।

इसका ठेका उन्होने दिया है

। धा दे न्ता । तेटे कता । गदि घेने । धागे तेटे तागे तेटे ।

दिनेन्द्रनाथ ने 'कॉपिछे देहलता थर थर' गान को ११ मात्रा की ताल मे लिखा है, उनका मात्रा-विभाजन किया गया है । दु या रे ।
दा ओ। मो रे । रा ० खि या
।३-४-४, जैसे

| | | | | | | | | | |

। कॉ पि छे । दे ह ल ता । थ र थ र ।

किन्तु किसी ताल का नाम नहीं है और ठेका भी नहीं दिया गया है। कर्नाटक सगीत मे ११ मात्राओ के ताल हैं, उनके नाम हैं 'मणिताल', 'बिन्दुताल' और 'नीलताल'।

नवपचताल अर्थात् २-४-४-४-४ मात्राओ के योग से १८ मात्राओ के ताल का गान है .

| | | | | | | | | | | | | | | | | |

।ज न । नी० तो मा । ० र क रु । ण च र ण । खा० ० नि ।

२-४ मात्राओं मे विभक्त कुल छह मात्राओ के एक प्रकार के ताल का गान रवीन्द्र सगीत मे है। उत्तरभारतीय संगीत मे इसके अनुरूप छन्द का कोई ताल है, पता नहीं, किन्तु दक्षिण भारतीय कर्नाटक-सगीत मे यह ताल बहुत प्रसिद्ध है। कर्नाटक सगीत के शिक्षार्थियो की शिक्षा इस ताल में 'मायामालवगौड' राग के 'सरगम' और एक गान से शुरू होती है। दक्षिणीसगीत के इस ताल का नाम है 'पत्तिताल' या 'रूपक ताल'।

गुरुदेव ने इस छन्द के ताल का अपने गान मे व्यवहार किया, किन्तु वे इसका नामकरण नहीं कर गए। २-४ मात्रा के कर्नाटक रूपक ताल के छन्द मे उन्होने १३२९ बगाब्द

(ई १९२२) मे पहली बार जिस गान की रचना की थी वह है 'आमार यदिइ बेला जाय गो बये'। यह प्रश्न उठ सकता है कि इसके पूर्व उन्होने इस छन्द या ताल का अपने गानो मे व्यवहार क्यो नहीं किया। इसका कारण यह है कि ई १९१८ के बाद गुरुदेव को इस छन्द के साथ घनिष्ठ रूप मे परिचित होने का सुयोग मिला।

आन्ध्रप्रदेश स्थित पीठापुरम् राजदरबार के प्रख्यात कर्नाटक-सगीतज्ञ वीणावादक सगमेश्वर शास्त्री उस समय बीच-बीच मे शान्तिनिकेतन आकर कुछ महीनो तक रहते थे। प्राय प्रतिदिन सन्ध्या के समय गुरुदेव एव शान्तिनिकेतन-निवासी वीणा-वादन सुनते थे। उस समय के कुछ अध्यापक एव छात्र-छात्राएँ उनसे वीणा-वादन की शिक्षा ग्रहण करते थे। इस प्रकार ई १९२५ तक वे कई बार शान्तिनिकेतन आते रहे है, कुछ माह रहकर उन्होने वीणा-वादन सुनाया है एव वीणा-वादन की शिक्षा भी दी है। उनसे वीणा-वादन की प्राथमिक शिक्षा 'मायामालवगौड' राग के विधि छन्दबहुल पल्टो, रूपक ताल मे 'सरगम' और एक गान से शुरू होती थी। जब शास्त्रीजी सन्ध्या के समय सभी को वीणा बजाकर सुनाते, तब उसमे विविध रागिनियो मे गठित २-४ मात्रा के रूपक ताल के कुछ गान रहते थे। दक्षिण भारतीय वीणा-वादन की रीति है 'सा' और 'प' मे मिलाए गए चिकारी-तारो पर दाएँ हाथ की कनिष्ठ अगुली से गान के शुरू से अन्त तक ताल की झकार निकालना। इससे गान के मूल छन्द या ताल को वीणा पर अच्छी तरह से समझा जा सकता है। श्री सगमेश्वर शास्त्री का वीणा-वादन सुनने के बाद गुरुदेव को २-४ मात्रा के रूपक ताल के साथ घनिष्ठ रूप मे परिचित होने का सुयोग मिला एव उसके बाद ही वे कर्नाटक रूपक ताल के छन्द मे गान-रचना के लिए उत्साहित हुए।

कर्नाटक सगीत का रूपक ताल जिस प्रकार सम, खाली एव मात्रा द्वारा गठित है, वह है

+ o +
| | | | | |
। १ २ । ३ ४ ५ ६ ।

अर्थात् प्रथम और तृतीय मात्रा पर ताली, द्वितीय मात्रा पर खाली।

गुरुदेव ने इस ताल को अपने गान मे ग्रहण करते हुए भी उसके ताली अश के आघात को ही ग्रहण किया। प्रथम और तृतीय मात्रा पर वीणा के चिकारी-तारो पर जिस प्रकार छन्द प्रदर्शित किया जाता है, उसी प्रकार ताली या छन्द के आघात के ऊपर ही वे निर्भर रहे। इसी कारण, दिनेन्द्रनाथ ने २-४ छन्द मे रचित गुरुदेव के प्रथम गान की स्वरलिपि इस प्रकार तैयार की

॥ सा रे । रेम - - - । गरे सानि । सा - - - ।
य ० दि ० ० ० बे ० ० ० ला ० ० ०

गुरुदेव की मृत्यु के बाद रवीन्द्र-सगीत-विशेषज्ञो ने इस ताल का नामकरण किया 'यष्ठीताल'।

१२९८ बगाब्द (ई १८९१) मे गुरुदेव के परिवार मे परीक्षा के तौर पर २-४ मात्रा

के इस तरह के ताल के प्रचलन का प्रयास किया गया था, इसका पता हाल मे चला है। गुरुदेव के भ्रातुष्पुत्र हितेन्द्रनाथ ठाकुर ने एक ब्रह्मसगीत मे इस प्रकार के एक ताल का व्यवहार किया था। उन्होने १८१४ शकाब्द की 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका मे सख्यामात्रिक स्वरलिपि मे 'लच्छासार' राग एव 'चपक' नामक ताल मे "जय जय ब्रह्मण ब्रह्मण, महादेव, भूमा भूमा, अजर अमर" शीर्षक से एक गान प्रकाशित किया था। 'चपक' ताल उस समय उत्तरभारतीय सगीत-रसिको के लिए अजाना था, सम्भवत इसीलिए स्वरलिपि के साथ उसका परिचय देते हुए उन्होने लिखा है

"चपक ताल काफी कुछ शूलफॉक्ता ताल के समान है। शूलफॉक्ता ताल तीन ताली मे विभक्त है। उसकी प्रथम एव अन्तिम ताली चार-चार मात्रा पर और बीच की ताली दो मात्रा पर है। इस शूलफॉक्ता ताल का प्रथम ताली-विभाग छोडकर अवशिष्ट ताली-विभाग रख देने पर चपक ताल का ताली-विभाग होगा। शूलफाक्ता ताल की प्रथम ताली पर जिस प्रकार सम है, चपक ताल मे भी उसी प्रकार प्रथम ताली पर सम रहता है।" यह ताल उन्हे किस प्रकार मिला या यह नवीन सृष्टि है, इस सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से उन्होने कुछ नही कहा है।

हितेन्द्रनाथ के कथन को मात्रा-विभाग द्वारा समझाने का प्रयास मैंने किया है।

शूलफॉक्ता ताल कुल दस (१०) मात्रा का ताल है।

दो प्रकार के मात्रा-विभाजन से यह ताल सगीतज्ञों मे प्रचलित है, यथा

	+				२		३			
(१)	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०

अर्थात् इस प्रकार शूलफॉक्ता ताल मे, सम सहित कुल तीन ताली है खाली नहीं।

	+		०		२		३		०	
(२)	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०

अर्थात् इसमे सम सहित तीन ताली, दो खाली दिखाने की रीति प्रचलित है। गुरुदेव एव उनके आत्मीयो के गानो मे शूलफॉक्ता ताल के दोनो प्रकारो का व्यवहार हुआ है। हितेन्द्रनाथ ने खालीविहीन शूलफॉक्ता ताल की सहायता से जिस 'चपक' ताल के उद्‌भावन की बात कही है, ऊपर उद्‌धृत उनके कथन से उसका अनुमान लगाया जा सकता है।

कुल १० मात्रा के इस ताल की पहली चार मात्राएँ छोडकर ५वी मात्रा को 'सम' या प्रथम मात्रा हिसाब से ग्रहण कर उसके द्वारा परवर्ती दो तालीयुक्त कुल ६ मात्राओ का जो छन्द या ताल हमे मिलता है, उसे ही हितेन्द्रनाथ ने 'चपक' ताल कहा है। उन्होने मूल शूलफॉक्ता ताल की—। ७ ५ ६ । ७ ८ ९ १०। मात्राओ को क्रमश १ २ । ३ ४ ५ ६। मात्रा मे सजाने की बात कही है।

'चपक' ताल का यथार्थ रूप दिखाने के लिए हितेन्द्रनाथ के ब्रह्मसगीत की स्वरलिपि, जो सख्यामात्रिक स्वरलिपि मे प्रकाशित है, यहाँ दी जा रही है

॥ सासा । सासा रे - । ग - । - - - - । ग म । प - - - ।
जय जयब्र० ह्मण् ०००० ब्र० ह्म०ण्०
। मम । - - मम । मम । - - मग । सासा । सा - सानि ।
महा ००देव महा ००देव भू० मा०भू०
॥ धनि । सारेसासा । सासा । - - - - ।
मा० अजरअ मर ००००

इस गान की एक और स्वरलिपि सरलादेवी द्वारा १३०७ बगाब्द (ई १९१०) मे प्रकाशित 'शतगान' नामक स्वरलिपि ग्रथ मे मिलती है। उसमे कहा गया है कि गुरुदेव के (तृतीय) बडे भ्राता हेमेन्द्रनाथ ठाकुर ने एक हिन्दी गान के अनुसरण से इसकी रचना की थी। गान के ऊपर 'लच्छासार' (लच्छासाख ?) रागिनी और 'चपक' ताल लिखा हुआ है, किन्तु हितेन्द्रनाथ ठाकुर कृत 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका की स्वरलिपि के साथ उसकी ताल का कोई मेल नहीं है। सरलादेवी ने इस गान को 'चपक' ताल मे रचित कहा है, किन्तु स्वरलिपि चार मात्रा मे विभाजन से कुल १६ मात्राओ के ताल मे, यथा

। सा सा सा सा । रे - ग - । - - ग म । प - - म ।
जयजय ब्र०ह्मण्० ००ब्र० ह्मण्००म
म - म - । म मम - । ग - ग - । - - - - ।
हा० दे० वमहा० दे०व० ००००
सा - सा - । निसाधनि । सारेसासा । सासा - - ।
भू०मा० भू०मा० अजरअ मर००

इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि 'चित्रागदा' नृत्यनाट्य मे अर्जुन के कथन 'क्षमा करो आमाय, वरणयोग्य नहि वरागणे' का स्वर-सयोजन गुरुदेव ने इस गान का स्मरण कर ही किया था, किन्तु 'चपक' ताल के छन्द का उन्होंने परित्याग किया था।

२-४ मात्रा के छन्द को उलटकर, यानी ४-२ मात्रा कर गुरुदेव ने उसका व्यवहार 'हृदय आमार प्रकाश हल' गान मे किया -

। । । । । । । । । । । ।
। हृ द ० य् । आ मार् । प्र का ० श् । ह ल ।

अर्थात् इस गान का आघात चौथी और बाद मे दूसरी मात्रा पर पडता है। इसका कोई नाम नहीं मिलता।

२-३ मात्रा के तालो मे झपताल प्रसिद्ध है। वहाँ हमे मात्रा का आघात २-३ पर मिलता है, किन्तु इस दो-तीन मात्रा को घुमाकर गुरुदेव ने इसका कई गानो मे व्यवहार किया है। इसका नाम है 'झम्पक'। यह एक अप्रचलित ताल है। हिन्दी गान मे इसका चलन कदाचित् देखा जाता है। इसके प्रथम पद मे तीन मात्राएँ हैं, द्वितीय पद मे दो मात्राएँ हैं। इस ताल के कुछ गान हैं—येते येते एकला पथे निबेछे मोर बाति', 'श्रावण घन गहन मोहे', 'झडेर राते तोमार अभिसार', 'दुखेर वेशे ऐसेछ बले', 'शुभ्र नव शख तव', 'एइ लभिनु सग तव

सुन्दर हे सुन्दर' और 'विपदे मोरे रक्षा कर'। गान का खण्ड इस प्रकार किया गया है

। । ।   । ।   । । ।   । ।

। ये ते ये । ते ० । ए क् ला । प थे ।

किसी ताल-विशेषज्ञ ने इसका ठेका निर्धारित किया है

। । ।   । ।   । । ।   । ।

। धा गे ना । धा गे । धा गे ना । ते टे ।

प्रथम मात्रा पर सम है और वहीं से गान शुरू होता है।

अब तक मैंने जिन तालो के विषय मे समालोचना की, उनमे से कई तालो के साथ कर्नाटक सगीत के तालो का मेल होने के कारण सहज ही मन मे यह बात उठ सकती है कि क्या उस प्रदेश के सगीत से कवि का घनिष्ठ परिचय था ? इसका प्रमाण तो नही मिलता, किन्तु कर्नाटक-रागिनियो के अनुकरण से रचित उनके कई गान है। ये गान कर्नाटक-सगीत के अनुकरण से ही रचित हैं। इन गानो मे से एक मे भी छन्दवैचित्र्य नहीं दिखाई देता, उपरोक्त ताल के समान। सम्भवत उनके गानो मे तालवैचित्र्य का प्रवर्तन कविता के छन्दवैचित्र्य की सफलता के उत्साह के कारण हुआ था।

नये तालो मे रचित गानो के जितने नमूने ऊपर दिखाए गए है, उनसे किसी के मन मे यह धारणा नहीं जाग्रत होनी चाहिए कि गुरुदेव के गानो मे इन तालो की सख्या बहुत है। किंतु ऐसा नहीं है। नवपचताल, नवताल, एकादशी ताल, दस मात्रा का ताल, २-४-मात्रा का ताल आदि नवीन ताल होते हुए भी गुरुदेव ने किसी मे एक गान, किसी मे मात्र दो गानो की रचना की है। नवीन तालो मे अधिकाश का उद्‌भव परीक्षामूलक मनोभाव से ही है, स्वत·निर्मित नहीं है। इस कारण ही उन्होंने परवर्ती जीवन मे इन तालो मे और गानो की रचना नहीं की। इनमे से केवल २-४ मात्रा के ताल को ही उन्होने कुछ सहज माना था, अत उनके शेष जीवन मे रचित इस छन्द के एकाधिक गान मिलते हैं।

'रूपकडा', 'एकादशी', 'नवताल', 'झम्पक' और ४-२ मात्रा भाग से ६ मात्रा-ताल मे गानो का पहली बार उल्लेख हमे १३१० बगाब्द (ई १९०३) से १३२४ बंगाब्द (ई १९१७) के बीच मुद्रित गान-पुस्तको मे मिलता है। इसके बाद १३२९ बगाब्द (ई १९२२) मे हमे २-४ मात्रा के ताल का पहली बार व्यवहार दिखाई देता है। इसका प्रथम गान है—"आमार यदिइ बेला याय गो ब'ये"। उपरोक्त नवीन तालो मे इसका ही व्यवहार सबसे अधिक है, उसके बाद 'झम्पक', 'रूपकडा' और 'एकादशी' का स्थान है।

और एक गान मिलता है जिसके ताल के खण्ड हैं ६-६, इस ताल का मात्र एक गान मिलता है। यह गान यद्यपि १३०४ बगाब्द (ई १८९७) मे प्रकाशित है, किन्तु १३२६ बगाब्द (ई १९१९) मे प्रकाशित 'शेफालि' नामक स्वरलिपि-पुस्तक मे गान ६-६ मात्रा के खड से १२ मात्रा के ताल मे सजाया गया है। १३०४ बगाब्द (ई १८९७) मे प्रकाशित गान की पुस्तक मे त्रिमात्रिक एकताला छन्द की बात लिखी हुई है। पूरी मात्रा के हिसाब से दोनो ही १२ मात्रा के ताल हैं, किन्तु दोनो का खाली या प्रस्वन का स्थान भिन्न है।

नवप्रवर्तित ताल मे केवल सम-प्रस्वन या आघात दिखाया गया है। जैसे 'तेवडा', 'आडाचौताल' और 'शूलफॉक्ता' तालो मे दिखाई देता है। उसमे चौताल, त्रिताल या दादरा आदि के समान खाली का स्थान गुरुदेव ने नहीं रखा है। प्रत्येक खण्ड के मुँह पर ही प्रस्वन है।

गुरुदेव ने जीवन के प्रारम्भिक यौवन काल के लौकिक और धर्मसगीत मे 'कव्वाली' और ठुमरी नामक दो तालो का बहुत व्यवहार किया है। इन दोनो तालो के नामो से उन दिनो के बगाल के उस्ताद बहुत परिचित थे। वास्तव मे इन दोनो मे प्रथम है आधुनिक काल मे अधिक प्रचलित त्रिताल, एव 'ठुमरी' नाम का व्यवहार इसी जाति के एक प्रकार के गान मे ताल रूप मे भी होता था। वह ठुमरी आधुनिक काल मे प्रचलित ठुमरी नहीं है। वह अधिक सरल और सादी थी। कव्वाली कहने से उन दिनो त्रिताल छन्द का ही बोध होता था, अत गुरुदेव के किसी गान पर 'त्रिताल' नाम नहीं है, किन्तु ढिमा (विलम्बित) तेताला है। १३१६ बगाब्द (ई १९०९) के पहले तक किसी-किसी गान पर कहरवा ताल का नाम भी मिलता है।

गुरुदेव के नवीन और बगला सगीत मे अप्रचलित ताल के गानो की प्रथम प्रकाशित तालिका यहाँ दे रहा हूँ

१३१० (ई १९०३) काव्यग्रथ। मोहित सेन-सम्पादित।

गभीर रजनी नामिल हृदये। रूपकडा = ३-२-३=८ मात्रा

दुयारे दाओ मोरे राखिया। एकादशी = ३-२-२-४=११ मात्रा

निविड घन आँधारे। नवताल = ३-२-२-२=९ मात्रा

१३१६ (ई १९०९) गान। इण्डियन प्रेस-सम्पादित।

जननी, तोमार अरुण चरणखानि। नवपचताल = २-४-४-४-४=१८ मात्रा

आजि झडेर राते। झम्पक = ३-२=५ मात्रा

विपदे मोरे रक्षा करो। झम्पक = ३-२=५ मात्रा

१३२१ (ई १९१४) गीतालि।

हृदय आमार प्रकाश हल। = ४-२ = ६ मात्रा

१३२४ (ई १९१७) सगीतेर मुक्ति (प्रबन्ध)।

ओ देखा दिये ये चले गेल = ५-५ = १० मात्रा

व्याकुल बकुलेर फूले। = ५-४ = ९ मात्रा

कॉपिछे देहलता। = ३-४-४ = ११ मात्रा

दुयार मोर पथपाशे। = ९ = ९ मात्रा

ये कॉदने हिया। = ६-३ = ९ मात्रा

१३२६ (ई १९१९) शेफालि।

सखी, प्रतिदिन हाय। = ६-६ = १२ मात्रा

१३२९ (ई १९२२) नवगीतिका-।।

आमार यदिइ बेला याय गो। = २-४ = ६ मात्रा

शान्तिनिकेतन की नृत्यधारा

आधुनिक भारतीय नृत्यकला के विषय मे कुछ कहते समय गुरुदेव का नाम सबसे पहले लेना होगा। इसमे अत्युक्ति नहीं कि यदि गुरुदेव शान्तिनिकेतन विद्यालय मे नृत्यकला को सर्वप्रथम प्रोत्साहित नहीं करते, तो आज हमारे देश मे नाच के प्रचार के लिए बडे-बडे प्रतिष्ठान और सघ का परिचय नही मिलता और आज नृत्य-कलाकारों को हम जो सम्मान दे रहे हैं, वह भी इतना सहज होता या नहीं, कौन जान सकता है।

गुरुदेव स्वय नर्तक नहीं थे, किन्तु उन्होने नाच के नवयुग का शुभारम्भ भारत के अभिजात समाज मे किया था। उन्होने जनसाधारण के विविध विरोधी मनोभावो को दूर कर उन्हे मानसिक रूप से तैयार किया है। उसी के फलस्वरूप हमे ऐसे नृत्य-कलाकार मिले हैं, जिन्होने देश-विदेश मे सम्मान पाया है और भारत के गौरव मे वृद्धि की है।

उन्होने अपने द्वारा प्रस्थापित शान्तिनिकेतन की सहायता से देश के मनोभाव को नाच के अनुकूल मार्ग पर चलने को प्रेरित किया। यह प्रश्न उठ सकता है कि शान्तिनिकेतन एक शिक्षा प्रतिष्ठान है, वहॉ उन्होने नृत्यकला का आयोजन क्यो किया। वास्तविक शिक्षा का उद्देश्य है सब दृष्टियो से मनुष्य का विकास। सस्कृति के जितने वाहन हैं, उनमे नृत्यकला को हमारे देश मे एक प्रधान वाहन रूप मे माना गया था। विभिन्न कारणो से नृत्यकला हमारे सामाजिक जीवन, विशेषतया शिक्षाभिमानी उच्चश्रेणी के समाज मे वर्ज्य हो गई। किन्तु सुपरिचालित नृत्यकला मानवमन के महत् आनन्द का उपादान है और शिक्षा का प्रधान कर्तव्य है चित्त को विविध प्रकार के शिल्प और ज्ञान के द्वारा सस्कृति के पथ पर जाग्रत करना। इस तथ्य पर विचार करके ही गुरुदेव ने शान्तिनिकेतन मे नृत्यकला को स्थान दिया था। यहॉ के नाच और उसके आदर्श को ठीक ढग से समझ सकने पर हम देख सकेगे कि शान्तिनिकेतन मे नाच की शिक्षाव्यवस्था द्वारा केवल नृत्य-कलाकार तैयार करना गुरुदेव का उद्देश्य नहीं था, उनका उद्देश्य यह था कि जिस प्रकार वास्तविक शिक्षा द्वारा ज्ञान और अन्यान्य कला विद्या सामाजिक जीवन को उन्नत, शान्तिमय करती है, नृत्यकला भी वही कार्य करे।

इस प्रयास का फल गुरुदेव अपनी जीवितावस्था मे ही देख गए है। शान्तिनिकेतन के छात्र एव छात्राऍ पहली बार मे ही नाच के लिए तैयार हो गए और उससे अनुकूल वातावरण की सृष्टि हुई। बाद मे क्रमश बगाल और पूरे भारतवर्ष मे उसका प्रसार हुआ।

मैंने पहले ही कहा है कि नर्तक-नर्तकियॉ तैयार करना गुरुदेव का उद्देश्य नहीं था, नाच का एक मान, स्तर निर्धारित करना ही उनकी वास्तविक इच्छा थी, जो आधुनिक

शिक्षित और मार्जित रुचिसम्पन्न नरनारी के मन की खुराक होगी।

गुरुदेव नवभारतीय नृत्यकला मे इस प्रकार एक धारा का प्रचलन कर गए हैं, जिस पर निर्भर कर भावी भारतीय नृत्यकला और बहुत आगे बढ सकेगी, यद्यपि यह बृहत्तर जनसाधारण के मन को यथार्थ मार्जित और शिक्षित मन की खुराक के रूप मे आकृष्ट नही कर सकी है, पर शिक्षित और असस्कृत मन के आनन्द के उपादान का यह प्रभेद सम्भवत चिरदिन ही रहेगा।

गुरुदेव द्वारा प्रवर्तित नाच का मूल वैशिष्ट्य यह है कि वह विशुद्ध भारतीय आदर्श पर गठित है। भारतीय नृत्याभिनय का निजस्व वैशिष्ट्य यह है कि जो विशेष धारा युगो से प्रवाहित है, एवं जिस नृत्याभिनय-पद्धति ने एक समय समग्र प्राच्य को एक उच्च आदर्श पर अनुप्राणित किया था, उस आदर्श से वह भ्रष्ट नहीं हुआ। किन्तु उसकी गभीर अन्तर्दृष्टि के बल पर उसकी रचना प्राचीन आदर्श पर प्रस्थापित है, अत यह रचना आधुनिक शिक्षा मे वर्द्धित नर-नारी के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है। गुरुदेव द्वारा प्रवर्तित इस नृत्य-आन्दोलन का मूल स्वरूप सभी के लिए जानना उचित है, यही सोचकर मै यहॉ शान्तिनिकेतन के नाच का एक संक्षिप्त इतिहास लिख रहा हूँ।

गुरुदेव ने ई १८८१ मे 'वाल्मीकि प्रतिभा', ई १८८२ मे 'काल-मृगया' और ई १८८८ मे 'मायार खेला' गीतनाट्य की रचना की थी एव इनमे से प्रत्येक नाटक का अभिनय देखकर उस समय के दर्शक मुग्ध हुए थे। शुरू से अन्त तक इनमे गान गाकर अभिनय करना पडा था। इस प्रकार उस समय एक विशेष अभिनयधारा का प्रवर्तन हुआ। ये सम्पूर्णतया नियमित नाटक थे—विभिन्न दृश्यो मे विभक्त एवं विविध घटनाओ के माध्यम से इनकी समाप्ति थी। किसी-न-किसी प्रकार के गल्प के साथ नाटक बॅधे थे। साधारण गद्य भाषा मे एक भी सवाद नहीं था। गान के शुरू मे, किन्तु साधारण कथोपकथन की भावभंगिमा से हाथ हिलाने, हिलडुल करने से अभिनेता-अभिनेत्री को सब कुछ कहना होता था।

इस पद्धति के गीतनाटक उन्होने और नही लिखे। इसके बाद शान्तिनिकेतन की प्रतिष्ठा के पूर्व तक उन्होने कलकत्ता मे अभिनय के लिए 'राजा ओ रानी', 'विसर्जन' और 'वैकुण्ठेर खाता' लिखे। ये नाटक थिएटर-आदर्श से रचित हैं। इनमे गान होते हुए भी वे गौण हैं।

ई १९०१ मे शान्तिनिकेतन विद्यालय की स्थापना के बाद से ई १९१९ तक उन्होने केवल विद्यालय के छात्रो की सुविधा के लिए जिन नाटको की रचना की, उनमे 'शारदोत्सव', 'राजा', 'अचलायतन' और 'फाल्गुनी' नामक रूपक विशेष उल्लेखयोग्य हैं। इन नाटकों मे सवाद के साथ गान भी काफी हैं और सवाद के समान ही नाटक मे उनकी मर्यादा है। गान न रहने पर नाटक का माधुर्य काफी कम हो जाता है। शान्तिनिकेतन मे और कलकत्ता के रगमच पर ये नाटक खेले गए। दर्शकगण इस पद्धति के नाटको के नूतनत्व और गीतमाधुर्य से मुग्ध हुए थे। प्राय सभी गान अभिनय के साथ गाने के थे।

इस पद्धति के गीतनाटको के साथ बंगाल मे १९वीं शताब्दी में अधिक प्रचलित 'यात्रा' का सादृश्य दिखाई देता है। उन दिनो यात्रा-थिएटर के प्रभाव से प्रभावित होते हुए भी

उसमे गान प्रचुर मात्रा मे थे और उसे यात्रा का एक अत्यन्त प्रयोजनीय पक्ष माना जाता था।

मुझे लगता है कि इस पद्धति के गीतनाटक लिखने के पीछे स्वदेशी आन्दोलन का प्रभाव है। स्वदेशी आन्दोलन के युग मे उनकी दृष्टि बगाली सस्कृति की ओर विशेष रूप से गई थी—जिस कारण उन्होने इस समय से अपने गानो मे बाउल आदि बगाल की धुनो व रागिनियो का प्रयोग किया और उसी भाव का, सहज भाषा और छन्द का प्रयोग कर राष्ट्रीय सगीत की रचना की। 'शारदोत्सव' मे पहली बार गभीर जातीयता-बोध के प्रकाश-स्वरूप बगाली की निजस्व 'यात्रा' का और एक रूप मिला। इसे यथार्थ 'रावीन्द्रिक यात्रा' कहा जा सकता है। इसी प्रथा मे 'राजा', 'अचलायतन' और 'फाल्गुनी' लिखे गए। ई १९१२ मे उन्होने 'डाकघर' लिखा था, उसमे गान नहीं है, किन्तु ई १९१६ मे जब वह कलकत्ता मे अभिनीत हुआ, तब उसमे कई गानो का व्यवहार किया गया था, जिनमे 'भेगे मोर घरेर चाबि निये याबि के आमारे' और 'ग्रामछाडा ओइ रागा माटिर पथ' गान याद हैं।

ई १९१६ मे जब कलकत्ता में उन्होने 'विचित्रा' नामक प्रतिष्ठान की स्थापना की तब वहॉ चित्राकन, नाटक, अभिनय आदि का अनुशीलन होता था। बीच-बीच मे बाहर से शिल्पियो को बुलाकर नाचगान का जलसा भी होता था। श्रीयुत् हेमेन्द्रकुमार राय ने लिखा है, "उस समय 'विचित्रा' के दो अनुष्ठानो मे स्वर्गीय यतीन्द्रनाथ बसु आकर नृत्य एव गायन पेश कर गए। इस कक्ष मे ही मैंने एक दिन जापान से आई नर्तकी का अपूर्व नाच देखा था। उसका नाम था डोम्फाया। यह युवती फूल के समान सुन्दर थी, कद मे नाटी थी नाच अच्छा लगा था। नाच का नाम था 'एक नाकुबा फूल'।"

ई १९२१ मे विश्वभारती की स्थापना हुई। उस समय से गुरुदेव ने विशुद्ध गान-समष्टि लेकर दर्शको के समक्ष मजलिस जमाना शुरू कर दिया। इस प्रकार के जलसो के प्रधान अवलम्बन थे ऋतु-गान। पूर्वोक्त गीतनाटक के आदर्श से और कोई नाटक उन्होने नहीं लिखा। ई १९२१ और ई १९२२ मे शान्तिनिकेतन और कलकत्ता मे 'वर्षामगल' गीतोत्सव देखा।

ऋतुनाटक और वर्षामंगल के समान गानो का जलसा आयोजित करने का कारण बीच-बीच मे सभी आश्रमवासियो को लेकर आमोद-प्रमोद करना था। इसके अलावा उन्होने शान्तिनिकेतन की शिक्षा के आदर्श के सम्बन्ध मे कहा था, "एक दिन शान्तिनिकेतन मे मैंने शिक्षादान का जो व्रत लिया था उसका सृष्टिक्षेत्र था विधाता का कार्यक्षेत्र—यहॉ के जल, स्थल, आकाश के सहयोग का आह्वान किया था। मैंने ज्ञानसाधना को आनन्द की वेदी पर प्रतिष्ठित करना चाहा था। ऋतुओ के आगमनी (आगमन सम्बन्धी) गानो से छात्रो के मन को विश्वप्रकृति के उत्सव-प्रांगण मे उद्बुद्ध करना चाहा था।"

ई १९२१ के फाल्गुन मास में पूर्णिमा की रात्रि मे फाल्गुनी के गान लेकर उन्होने एक उत्सव आयोजित किया। उसके बाद ही उन्होने वर्षाकाल मे श्रावण-पूर्णिमा को वर्षा के पुराने गान लेकर और एक जलसे का आयोजन किया। इसी जलसे का आयोजन

ई १९२१ मे कलकत्ता स्थित जोडासॉको निवास पर 'वर्षामगल' नाम से किया गया। गान और कविता-आवृत्ति के अलावा किसी प्रकार का नाटकोचित परिवेष्टन इसमे तैयार नही किया गया था। इसके बाद के वर्ष भी इस पद्धति से वर्षामगल आयोजित हुआ। पहले यह शान्तिनिकेतन मे हुआ और बाद मे कलकत्ता मे। किन्तु इस बार वर्षा के गान प्राय सभी नए थे। वर्षामगल के किसी भी आयोजन मे गानो की अभिव्यक्ति अभिनय द्वारा नहीं की गई, केवल गान ही पेश किए गए थे, कभी एकाकी, कभी समूहगान, कभी युगल रूप मे।

गुरुदेव के ऋतुसगीत को तीन भागो मे विभाजित करने पर देखा जाता है—शान्तिनिकेतन के पहले के गान, शान्तिनिकेतन के आरम्भ के गान और बाद के गान, इन तीन धाराओ मे यथेष्ट पार्थक्य है। प्रथम अवधि के गानो मे प्रकृति को विशेष स्थान नहीं मिला है, मध्यकाल मे प्रकृति को कुछ स्थान मिला है, और अतिम अवधि के गानो को सुनकर ऐसा लगता है जैसे प्रकृति स्वय ही बोल रही है। मेरी व्यक्तिगत धारणा है कि तृतीय युग का ऋतुसगीत ही उनका श्रेष्ठ ऋतुसगीत है। लिरिक-काव्य रूप मे 'सुर' (रागिनी) की कल्पना की दृष्टि से इस समय गानो ने ही पूर्णता प्राप्त की है।

ई. १९२३ मे उन्होने वर्षामगल के आदर्श से वसन्तऋतु के कुछ नवीन गान लेकर कलकत्ता मे 'वसन्त' नामक एक सगीत-समारोह का आयोजन किया। इस नाटक का वैशिष्ट्य था। इस समय रगमच पर एक राजसभा सजाई गई थी, जहॉ राजा जैसे अपने राजकार्य के नीरस जीवन से अवसर मिलने पर एकान्त मे राजकवि को बुलाकर उनके दल द्वारा अनुष्ठित वसन्त गान सुनने बैठे हैं। इसमे सब कुछ गान ही है, सवाद गौण है। गानो को सगीतमय करना ही सवाद का लक्ष्य था। यहॉ यह बता देना उचित होगा कि इस पद्धति के नाटक के गान उन्होने पहले ही एक साथ लिखे थे, जलसे की सुविधा के लिए सवाद उन्होने बाद मे लिखे। रगमच पर कभी अकेला, कभी दो और कभी कई मिलकर खडे होकर गान के साथ अभिनय करते थे। एक-दो गानो के साथ गाच था, किन्तु वह आज के समान किसी प्रकार की नृत्यधारा के अनुरूप सिखाया हुआ नाच नही था। अतिम गान के समय गुरुदेव ने स्वय गान-दल के साथ नाचकर रगमच को अनुप्राणित कर दिया था, उसमे नवचेतना का सचार कर दिया था।

ई १९२४ मे 'अरूपरतन' नाटक अभिनीत हुआ। यह नाटक 'राजा' नाटक का ही रूपान्तर है, इसमे कई नए गान जोडे गए। गीतबहुल 'यात्रा' के आदर्श से इसने गीतनाटक का रूप लिया। नाटक के लिए गान अत्यावश्यक है, अत गानो के बिना नाटक असम्पूर्ण रह जाता। गानो को मूकाभिनय मे रूप प्रदान किया गया। देहभगिमा मे कही-कहीं नाच का आभास नहीं था, ऐसा भी नहीं। गुरुदेव ने नाटक मे सवाद अश का पाठ किया था। गान करने वालो का दल पीछे था। इस समय से ही महिलाओ मे नाच का अनुशीलन काठियावाड और गुजरात के लोकनृत्य के आदर्श से शुरू हुआ था। उसके साथ ही थी 'भाव बतलाने की नृत्य-पद्धति'।

शान्तिनिकेतन मे गुजरात के गरबा नाच का पहली बार प्रवर्तन विश्वभारती के अग्रेजी भाषा के प्राध्यापक श्रीयुत् वकील की पत्नी ने किया। ये पति-पत्नी ई १९२४ मे यहॉ

आए थे और ई १९२८ मे उन्होने शान्तिनिकेतन छोडा। इस अवधि मे वकील-पत्नी ने १५-१६ छात्राओ को गरबा नाच सिखाया। गुरुदेव के कुछ गानो के साथ नाच सिखाने की बात आज भी याद है। वे गान है—'यदि बारण कर तबे गाहिब ना', 'मोर वीणा ओठे' और 'कालेर मन्दिरा ये सदाइ बाजे'।

नाच के प्रति गुरुदेव का एक स्वाभाविक रुझान था। 'शारदोत्सव', 'अचलायतन' और 'फाल्गुनी' मे वे बालको को गान के साथ-साथ नाचने के लिए भी उत्साहित करते थे। ई १९१९ तक मैने देखा है कि गुरुदेव स्वय बताते थे कि 'शारदोत्सव' मे 'मेघेर कोले रोद हेसेछे', 'आमरा बेंधेछि काशेर गुच्छ' आदि गानो की भावाभिव्यजना नाच की भगिमा से कैसे की जाए। 'फाल्गुनी' मे बाउल का अभिनय कर गुरुदेव ने कई गानो की अभिव्यजना मे नाच का छन्द प्रदर्शित किया है। इन सभी नाटको मे गानो के साथ सभी समूह नाच करते थे। इसके अलावा ई १९१९ मे उन्होने छात्रों और शिक्षको को प्रशिक्षण देने के लिए अगरतला से एक मणिपुरी शिक्षक को कुछ महीनो के लिए बुलाया था।

'अरूपरतन'अभिनीत हो जाने के बाद उन्होने ऋतुगान को लेकर दो गीत काव्य 'सुन्दर' और 'शेषवर्षण' की रचना की। 'सुन्दर' के ई १९२५ के फाल्गुन मास मे अभिनीत होने की व्यवस्था की गई थी, किन्तु वह नहीं हो सका। इस वर्ष ही श्रावण माह मे शान्तिनिकेतन मे 'वर्षामगल' हुआ। उसे ही पुन नए गानो से सजाकर 'शेषवर्षण' नाम दिया गया और कलकत्ता मे रगमच पर भाद्र मास मे इसकी प्रस्तुति का आयोजन किया गया। 'शेषवर्षण' मे वर्षा के गान अधिक थे। इसकी समाप्ति शरत् के गान से की गई। इन दोनो को गानप्रधान नाटिका कहा जा सकता है। 'सुन्दर' मे कोई सवाद नहीं थे। 'शेषवर्षण' मे पहले के वसन्त के समान राजसभा का दृश्य रखा गया, जहॉ राजा, नटराज इत्यादि कई पात्र खडे कर उनके मुख से ऋतु के इन गानो का मर्मार्थ समझाया गया था। यहॉ भी गानो को भाव-एकत्व से बॉधने के लिए इन सवादो की अवतारणा है। गान ही प्रधान हैं, सवाद उपलक्ष्य मात्र हैं। 'अरूपरतन' के बाद 'शेषवर्षण' तक नृत्याभिनय-धारा मे कोई विशेष उल्लेखयोग्य परिवर्तन नहीं हुआ। मूकाभिनय, गीताभिनय और देहभगिमा मे कुछ छन्द जोडकर इन तीनो की सहायता से अभिनय किया जाता था, इसके साथ गुजरात अचल के लोकनृत्य का भी योगदान था।

ई १९२१ के वर्षामगल के बाद से इन सब अनुष्ठानो में युवतियो ने विशेष भाग लिया। 'शेषवर्षण' मे सभी गानो के साथ उन्होने नृत्याभिनय किया है। नाच के अनुशीलन में वे ही विशेष सक्रिय हो गईं।

ई १९२६ मे नवकुमार नामक एक मणिपुरी नर्तक यहॉ आए। युवतियो ने इनके पास नाच सीखना शुरू किया एव अपेक्षाकृत उन्नत पद्धति की नृत्याभिनय-प्रथा की नियमित शिक्षा लेने लगीं। इस पद्धति के नाच पर निर्भर कर ही 'नटीर पूजा' का श्रीमती का नाच गठित हुआ। 'पुजारिनी' कविता को मूकाभिनय के माध्यम से अभिव्यक्ति के प्रयास से ही 'नटीर पूजा' का जन्म है। ई १९२६ और ई १९२७ में शान्तिनिकेतन और कलकत्ता मे इसके बार-बार अभिनीत होने के बाद कलकत्ता के बगाली समाज मे स्फूर्ति आ गयी।

नृत्य के माधुर्य से सभी मुग्ध हो गए थे। 'नटीर पूजा' मे मणिपुरी नाच की सम्भावना से उत्साहित होकर गुरुदेव ने ई १९२७ मे शान्तिनिकेतन मे दोल-पूर्णिमा के दिन 'नटराज' गीत-काव्य का अनुष्ठान किया।

'नटराज' छह ऋतुओ के गानो का एक समष्टिकृत गीत-काव्य था। 'वसन्त' या 'शेषवर्षण' के समान किसी राजकीय सभा और गानो के साथ उपलक्ष्य रूप मे किसी प्रकार के सवाद का इस गीत-काव्य मे समावेश नहीं है। इसके बदले गानो का सूत्र रखने हेतु कई कविताएँ इसमे हैं। कविताओं की आवृत्ति गुरुदेव ने स्वय की थी। इस बार पहली बार मणिपुरी नृत्याभिनय-धारा ने इस गीत-काव्य मे प्रधान अश ग्रहण किया। एकक नृत्य ही अधिक था, सम्मेलक नृत्य कुछ ही थे।

एक बात ध्यान में रखनी जरूरी है कि इन सभी नाचो के छन्द और भगिमा पूर्णतया गान पर निर्भर रहकर गठित हैं। अलग से ताल के छन्द दिखाने का रिवाज उस समय तक शुरू नहीं हुआ था।

इसके बाद गुरुदेव जुलाई माह मे अपने दल के साथ जावा और बालिद्वीप के लिए रवाना हुए। वहाँ वे तीन माह तक रहे। वहाँ के लोगो का नाच देखने और गान सुनने के लिए अच्छी व्यवस्था की गई थी। उस अचल का नृत्याभिनय उन्हे कितना अच्छा लगा, इसका पता उनके 'जावायात्री के पत्र' से चल सकता है। इस प्रसग मे यह उल्लेख करना उचित होगा कि ई १९२४ मे जब गुरुदेव ने चीन और जापान की यात्रा की थी, तब भी उन्हे वहाँ के प्राचीन नाच और गायन ने आकृष्ट किया था। जापान के कियोटो मे ऐतिहासिक नाटक देखकर उन्होने लिखा था, "वहाँ की भावभगिमा, चलना-फिरना सभी नाच के ढग का है, जापानियो की शक्ति आश्चर्यजनक है।" पीकिग की नृत्यशाला मे प्रस्तुत नृत्याभिनय भी उन्हे अच्छा लगा था, यह बात मैंने उनके मुँह से आलोचना के प्रसग मे कई बार सुनी है। चीन, जापान और जावा का प्राचीन नृत्याभिनय समान आदर्श से गठित है तथा कई विषयो मे इनमे मेल भी है। मूलत इन देशो के लोग एक ही गोष्ठी के है।

जावा, बालि आदि द्वीपो के परिदर्शन के बाद गुरुदेव पूजा की छुट्टियो के समय स्वदेश लौट आए और कलकत्ता मे प्रदर्शन हेतु 'नटराज' को 'ऋतुरग' नाम देकर उसे दो माह मे ही तैयार किया। इस समय एक दक्षिणी छात्र ने दक्षिण के तमिल प्रदेश की नृत्याभिनय-पद्धति मे नृत्य पेश किया। उस समय तक छात्राओ मे इस नाच का अनुशीलन शुरू नहीं हुआ था। 'नटराज' और 'ऋतुरग' वस्तुत एक ही हैं, मात्र कुछ गान सयोजित या परिवर्तित हुए हैं। नूतनत्व दिखाने की किसी प्रकार की चेष्टा इसमे परिलक्षित नहीं होती। 'नटराज' की प्रस्तुति के समय युवतियो ने जिस अभिनयपद्धति मे नृत्य पेश किया था, उसी को कायम रखा गया है, 'ऋतुरग' मे भी। पहले के अभिनय मे गायक-दल ने जिस ढग से गान पेश किए थे, यहाँ भी उसी धारा को कायम रखा गया था। जिस दक्षिणी छात्र ने इस समय योगदान किया था, उसके नाच ने जिस प्रकार कलकत्ता के रसिकजनो को आनन्दित किया था, उसी प्रकार शान्तिनिकेतन मे हमारे जैसे एक वर्ग को इस नाच ने बडा आकृष्ट किया था। पुरुष का नाच देखने योग्य है एव हमने यह पहली बार अनुभव

किया कि यह मन को आनन्दित करता है।

ई १९२८ मे शान्तिनिकेतन के आम्रकुज मे 'फाल्गुनी' अभिनीत हुआ। गुरुदेव ने स्वय भी इसमे योगदान किया। इससे किसी प्रकार का उल्लेखयोग्य परिवर्तन नहीं हुआ, किन्तु कई गानो को युवतियो के नृत्य ने रूपवान् बना दिया। इस वर्ष ही जुलाई माह मे पहले वृक्षरोपण-उत्सव आरम्भ हुआ—शाम को हुआ वर्षामगल। इस वर्षामगल का प्रधान आकर्षण था गान। गुरुदेव ने एक गल्प का पाठ भी किया।

ई. १९२९ मे कलकत्ता मे माघोत्सव मे गान प्रस्तुति के बाद अचानक यह स्थिर किया गया कि जोडासॉको मे नाच-गायन का जलसा आयोजित किया जाएगा और उसके लिए टिकट रखे जाएँगे। पूर्वरचित विभिन्न समय के वसन्तऋतु-गानो मे से चयन किया गया। विशेष रूप से ऐसे गान रखे गए जिनके साथ युवतियो ने पहले नाच किया है। अर्थात् नाच पहले के तैयार ही थे। इस अनुष्ठान का नाम रखा गया 'सुन्दर'। किन्तु इस 'सुन्दर' और ई. १९२५ के 'सुन्दर' मे कोई मेल नहीं था। यह अभिनय दो दिन हुआ। अन्तिम दिन गुरुदेव शान्तिनिकेतन से यहॉ आ गए एव गानो मे अदल-बदल कर 'रानी' और उसकी सखी 'वासन्तिका' नामक दो चरित्र इसमे जोड दिए। उनके कथोपकथन के माध्यम से गानो का मर्मार्थ समझाया गया।

जुलाई मे विद्यालय का काम शुरू होने पर दो मणिपुरी नर्तक शान्तिनिकेतन आ गए। ई १९२० के बाद छात्र-छात्राओ ने इस नाच मे पुन योगदान किया। शिल्पाचार्य नन्दलाल बोस ने इसके लिए बहुत प्रोत्साहित किया। उन्होने कलाभवन के उस समय के सभी छात्रो को नाच मे भाग लेने के लिए कहा। प्राय सभी ने नाच मे योग दिया, किन्तु उनका उत्साह अधिक दिन नहीं रहा। इस वर्ष भी श्रावण माह मे 'वर्षामगल' और 'वृक्षरोपण' उत्सव एक ही दिन अनुष्ठित हुए। गानो के अनुष्ठान मे गुरुदेव और शिल्पाचार्य अवनीन्द्रनाथ दोनो ने स्वरचित प्रबन्धो का पाठ किया। भाद्र मास मे 'तपती' अभिनीत हुआ। नाटक की 'विपाशा' ने अपने सभी गान नाच की भगिमा मे अभिनय कर पेश किए हैं।

ई १९३० के मार्च माह मे गुरुदेव अपने पुत्र और पुत्रवधू के साथ विलायत रवाना हुए। इगलैंड के डेवनशायर मे उनके भक्त मिस्टर एल्महर्स्ट द्वारा प्रतिष्ठित 'डर्टिंगटन हाल' विद्यालय मे उन्होने कुछ दिन निवास किया। वहॉ उन्होने Ballet नाच देखा। प्रतिमादेवी ने इस विद्यालय के ख्यातिप्राप्त नृत्य-परिचालक की Ballet नृत्य-परिकल्पना, प्रतिदिन के कार्य और 'बेले' (Ballet) रचना के कार्य-कौशल का अनुशीलन किया। ई १९३१ के जनवरी माह में वे स्वदेश लौट आए।

'ऋतुरग' के बाद 'नवीन' के पहले तक एकक नृत्य ही अधिक होता था। द्वैत नृत्य का स्थान उसके बाद मे था। दलबद्ध नाच बहुत कम होता था। शान्तिनिकेतन के प्राय सभी अनुष्ठानो मे युवतियों के नाच का ही विशेष भाग रहता था। नाच गायक-दल के समवेत गान के साथ होता था। मणिपुरी आदर्श से सचालित नृत्याभिनय ने इस समय एक विशेष धारा अपना ली थी, जिसे ठीक मणिपुरी का अनुकरण नहीं कहा जा सकता।

इस दौरान बगाल मे, विशेषतया कलकत्ता मे शिक्षित समाज की युवतियो मे शान्तिनिकेतन के ढग के नाच का खूब प्रसार दिखाई दिया था। कलकत्ता मे कुछ युवतियो ने नाच मे बहुत नाम किया था। अवनीन्द्रनाथ के जामाता मणिलाल गगोपाध्याय ने इस समय थिएटर मे यथासम्भव शान्तिनिकेतन के आदर्श से नृत्याभिनय को रूप प्रदान करने का प्रयास किया था। इसके अलावा ई १९२९ मे कलकत्ता मे उदयशकर के आविर्भाव और उनके द्वारा प्रवर्तित नाच ने युवको मे विशेष आलोडन, आवर्तन का सचार किया। ई १९३१ से गुरुसदय दत्त ने बगाल के लोकनृत्य-आन्दोलन का श्रीगणेश किया। फरवरी मास मे वीरभूम जिले के सिवडी शहर मे राइविशे, जारि आदि नाच के एक उत्सव का आयोजन कर उन्होने व्रती आन्दोलन का सूत्रपात किया।

जनवरी माह मे स्वदेश लौटकर गुरुदेव ने मार्च माह मे वसन्त-उत्सव के लिए 'नवीन' का आयोजन शुरू किया। पहले की वसन्त नाटिका के समान ही उन्होने वसन्त ऋतु के कई नए गानो की रचना की। इसके लिए उन्होने किसी नाटकीय दृश्य की अवतारणा नहीं की। राजा या राजसभा नहीं थी। गुरुदेव रगमच के एक कोने मे बैठकर अपने कठ से गाए गए गानो, पाठ और आवृत्ति के मर्म की व्याख्या भी कर रहे थे। इसके अभिनय के समय शान्तिनिकेतन के बगाली छात्रो ने नाच मे विशेष अश ग्रहण किया था। 'नवीन' मे मणिपुरी नृत्य के साथ-साथ पश्चिम बगाल के बाउल, राइविशे और यूरोप के हगरी के लोकनृत्य का विशेष स्थान था। इन सब प्रकार की नृत्य-पद्धतियो का विविध गानो के साथ अच्छी तरह से सामजस्य बिठाया गया था।

यहॉ तक शान्तिनिकेतन के नृत्य-आन्दोलन का एक पर्व समाप्त हुआ। नृत्यनाट्य कहने से आज जो हम समझते है, उस पद्धति के किसी प्रकार के नाटक की रचना गुरुदेव ने अब तक नहीं की थी। 'वसन्त' से 'नवीन' तक उन्होने प्राय एक ही आदर्श से गीतनाटिका की रचना की है, उनमे किसी प्रकार का परिवर्तन दिखाई नहीं देता। साज-सज्जा, पोशाक मे या विभिन्न देशो के नाच की फोटो देखकर सम्भवत किसी विशेष-विशेष भगिमा का अनुकरण किया गया था, किन्तु ऐसा नहीं लगता कि उसके द्वारा इस देशी नाच की मूलधारा थोड़ी भी प्रभावित हुई है। छवियॉ देखना भगिमा व रग-अलकरण की दृष्टि से सहायक हुआ है, गान, अभिनय की दृष्टि से विशेष सहायक नहीं रहा। इसका प्रधान कारण यह है कि इन छवियो की भगिमाऍ इन देशो के गतिशील नाच के स्तब्ध अश मात्र हैं। किसी एक विशेष अर्थ मे वे उस नाच का व्यवहार करते है, जिसके साथ इस नाच की स्तब्ध भगिमा का अर्थ मिलता है। यहॉ वह भगिमा मात्र अलकरण के अलावा किसी अर्थ का निर्देश नहीं करती। रगमच-सज्जा के मामले मे जावा-बालिद्वीप के सम्बन्ध मे मेरी अभिज्ञता है—बालिद्वीप मे रामायण का नृत्यनाट्य खुले प्रागण मे होता है। किसी प्रकार की दृश्य-सज्जा नहीं रहती। जावा के सुलतानो के प्रासाद मे जो नाच होता है, उसके लिए भी किसी प्रकार का रगमच नहीं रहता। प्रकाण्ड राजकीय छप्परयुक्त अष्टकोण मडप के पत्थर के फर्श पर एक ओर राजपरिवार और अतिथि बैठते हैं, दूसरे भाग मे अभिनेता नाच और अभिनय करते हैं। कभी-कभी किसी नृत्यनाट्य मे स्वाभाविक दृश्य-सज्जा का

प्रयास देखा गया, किन्तु किसी भी दृष्टि से उसकी शान्तिनिकेतन मे प्रचलित किसी प्रकार की रगमच-सज्जा के साथ तुलना मुश्किल है। वह बिलकुल ही भिन्न है, प्राय. इस युग के थिएटर का अनुकरण है।

जावा, बालि या पूर्व एशिया के प्राय सभी नृत्याभिनय मे गान के साथ विराट् वाद्ययत्र-सगीत ने अत्यन्त आवश्यक स्थान ग्रहण कर लिया है। वाद्ययत्र-सगीत के बिना नाच असम्भव है एव सम्पूर्ण नाच का आधार है यह वाद्य-सगीत। विदेशी दर्शक जब उनका नृत्याभिनय देखते है, तब गान का अर्थ न समझते हुए भी वाद्य-ध्वनि और स्वरावली के साथ मिलाकर नाच की कथा की धारा को मोटे तौर पर वे ग्रहण कर सकते है। हमारे देश मे जिस प्रकार केवल तालवाद्य के छन्द मे नाच होता है, उसी प्रकार केवल तालवाद्य के छन्द मे विशुद्ध अभिनय की प्रस्तुति भी देखी है। इन देशो मे नाच मे वाद्ययत्र-सगीत ठीक वही काम करता है। हमारी प्राचीन नृत्यधारा जिस प्रकार तालवाद्य के बिना निरर्थक है, उसी प्रकार उनके देश मे वाद्ययत्र-सगीत के बिना नृत्यनाट्य भी व्यर्थ है।

गुरुदेव की नृत्यधारा मे इस प्रणाली का कोई प्रभाव नहीं था। यहॉ वाद्ययत्र-सगीत को किसी दिन प्राधान्य नहीं मिला, अत इस पर नाच का गठन नहीं हो सका। नाच की निर्मिति पूर्णतया गान पर निर्भर रहकर हुई है। शान्तिनिकेतन मे उन देशो के वाद्यसगीत के समान गान ही नाच के आधारस्वरूप ग्रहण किए गए हैं। उस देश मे कथा, गान और वाद्यसगीत के सम्मिश्रण से नाच की निर्मिति हुई है, यहॉ नाच की निर्मिति गान के आधार पर हुई है। यहॉ तक कि 'नवीन' तक भारतवर्षीय रीति के तालवाद्य-बोलो पर नाच भी नहीं देखा जाता। जावा और बालिद्वीप की बात विशेष रूप से उठाई गई है, क्योकि कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि नृत्यनाट्य की रचना की प्रेरणा गुरुदेव को इन देशो से ही मिली थी।

गुरुदेव द्वारा रचित गानों के साथ नाच की रचना दो पद्धतियो से होती थी। प्रथम पद्धति थी प्रत्येक पंक्ति को नाच के अभिनय से अभिव्यक्त कर सम्पूर्ण गान के भाव को प्रस्फुटित करना। साधारणतया जिन गानो में अभिनय की सम्भावना अधिक होती, उनके लिए यह पद्धति उपयुक्त रहती। दूसरी पद्धति थी गान की प्रत्येक पक्ति के साथ नाच को अलकार रूप मे सजाना। आजकल द्वितीय पद्धति का ही दलबद्ध नृत्य मे व्यवहार किया जाता है।

'नवीन' का प्रदर्शन समाप्त कर यहॉ के कई कर्मी दक्षिण भारत के कथकली नृत्य के अनुशीलन के उद्देश्य से गर्मी की छुट्टियो मे दक्षिण चले गए। इसी बीच शान्तिनिकेतन की एक पुरातन छात्री विदेश यानी जर्मनी के आधुनिक नृत्य-विद्यालय मे शिक्षा समाप्त कर लौट आई। एक वर्ष पूर्व ही रूस के लोकनृत्य-पटु अमरीकी दम्पति ने भी यहॉ के कर्मी के रूप में योगदान किया है। इसके अलावा हगरी की नृत्यकुशल शिल्पी महिला तो है ही।

भाद्र माह के अन्त मे कलकत्ता मे 'शिशुतीर्थ' और 'गीतोत्सव' आयोजित हुए। यहॉ बता देना ठीक होगा कि 'शिशुतीर्थ' वास्तव में नाटिका नहीं है, इसे 'लिपिका' की कहानी के समान

एक कथिका कहा जा सकता है। 'शिशुतीर्थ' के अभिनय के पूर्व 'गीतोत्सव' नामक एक अलग नृत्यगीत का कार्यक्रम था। इसमे प्राय सभी गान हैं, जिनमे अधिक गान वर्षा के हैं एव शष अन्यान्य विषयो के हैं। इसमे नाच भी विविध प्रकार के थे। शान्तिनिकेतन के नृत्य-इतिहास मे प्रथम बार इसमे एक बगाली छात्र द्वारा कथकली नाच का प्रवर्तन किया गया। इसके अलावा ऋतुरग के मद्रासी नर्तक को इस उपलक्ष्य मे बुलाया गया—उसने अपने प्रदेश की पद्धति का नृत्य प्रस्तुत किया। यहाँ की एक पूर्व छात्रा ने विदेशी नृत्यपद्धति का नाच पेश किया। हगरी की शिल्पी-कन्या ने गुरुदेव के गान के साथ अपने देश की नृत्यपद्धति मे नाच पेश किया। इस बार गान के बिना केवल ताल के बोलो के साथ एक-दो नाच पेश किए गए, जिनमे कथकली का उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु सवपिक्षा उल्लेखयोग्य था गुरुदेव के कठ से उनकी कविता की आवृत्ति के साथ नाच। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय नृत्य जगत् मे यह सम्पूर्ण नवीन पद्धति है। यूरोप मे कविता-आवृत्ति के साथ इस प्रकार नाच मे अभिनय होता है या नहीं, विदित नहीं। इनमे 'झूलन' कविता ने सभी को विशेष रूप से मुग्ध किया था। दूसरी कविता थी 'दु समय'। 'झूलन' के साथ प्रस्तुत नाच आधुनिक यूरोपीय नृत्यपद्धति के आधार पर रचित था, जबकि 'दु समय' के साथ के नृत्य की रचना हमारी देशी मणिपुरी नृत्यपद्धति की सहायता से की गई। गुरुदेव अमरीका मे पहली बार इस पद्धति के प्रति आकृष्ट हुए थे। सुना जाता है कि ई १९३० मे 'रूथ सेट डेनिस' नामक एक विख्यात नर्तकी ने गुरुदेव की कविता के साथ नाच दिखाकर विश्वभारती के लिए धन एकत्र करने का आयोजन किया था।

कलकत्ता के इन नृत्यानुष्ठान का द्वितीय अश था कथिका 'शिशुतीर्थ' का नृत्याभिनय। 'शिशुतीर्थ' की रचना का इतिहास इस प्रकार है—पूर्ववर्ती वर्ष मे गुरुदेव के यूरोप भ्रमण के समय जर्मनी की विख्यात चलचित्र-व्यवसायी कम्पनी 'उफा' ने उन्हे कपनी के लिए एक कहानी लिखने का अनुरोध किया। इसी अनुरोध के अनुसार गुरुदेव ने 'The Child' नामक एक कहानी लिखी। उसी का बगला रूपान्तर है 'शिशुतीर्थ'। किन्तु अभिनय के समय उन्होने उसमे कई प्रकार के गान जोडे—इसके लिए किसी नए गान की रचना उन्होने नहीं की।

नाम से 'शिशुतीर्थ' होते हुए भी 'पुनश्च' काव्यग्रन्थ मे प्रकाशित 'शिशुतीर्थ' पुन अन्य ढग से लिखा गया था। भाव समान ही है, किन्तु मूल के साथ इस नाटिका का जो अन्तर है, उसके नमूने के तौर पर सभी उद्धृत करता हूँ। यह नाटिका उद्बोधन-वाक्य को छोडकर दस सर्गो में विभक्त है। मूल पुस्तक मे उद्बोधन रूप मे अतिरिक्त कुछ नहीं है

"देवताओ की पराजय हुई, दैत्य विजयी हुए, स्वर्गलोक ध्वस हो गया। ऋतुक्रम टूट गया, चन्द्र-सूर्य रुक गए, सब कुछ उलट-पलट हो गया।

तब पितामह ने कहा, भय नहीं है। स्वर्ग का उद्धार नूतन प्राण करेगा। नवजात कुमार अभय के साथ दिखाई देगा।

मनुष्य की समस्त प्रत्याशा नवजीवन से है। युग-युग मे शिशु आते हैं—'परित्राणाय साधूना, विनाशाय च दुष्कृताम्'।

आदिकाल से मानव-इतिहास की यात्रा नवजन्म के तीर्थ से है। बुद्ध एक दिन शिशु रूप मे दिखाई दिए थे, नवजन्म था यह। मनुष्य शिशु की ओर निहार रहा है। शिशुतीर्थ के इस विषय को लेकर ही नृत्याभिनय है।

गान ॥ नम नम निर्दय अति करुणा तोमार।

प्रथम सर्ग

अन्धकार, उच्छृखलता, भय, लोभ, क्रोध, उन्माद का अट्टहास।

द्वितीय सर्ग

अरुणोदय की प्रतीक्षा करता हुआ भक्त आकाश की ओर देख रहा है। वह कह रहा है, भय नहीं, मानव की महिमा प्रकट होगी।

गान ॥ की भय अभय धामे तुमि महाराजा।

सशय मे डूबा, विभ्रान्तचित्त का दल उस पर विश्वास नहीं करता। वह कहता है, पशुशक्ति ही आद्याशक्ति है, फलत रक्तपक मे उस शक्ति की ही जय होगी।

तृतीय सर्ग

प्रभात का प्रकाश दिखाई दिया। भक्त ने कहा, सार्थकता के तीर्थ पर चलो। इसका स्पष्ट अर्थ कोई समझ नहीं सका, किन्तु स्थिर कोई भी नही रह सका। कठ-कठ में यही ध्वनि ध्वनित हो उठी-चलो।

गान ॥ आनन्दध्वनि जागाओ गगने।

चतुर्थ सर्ग

यात्री देश-देशान्तर से निकल पडे है, भिन्न-भिन्न जातियो के, विभिन्न वेशभूषा मे, भिन्न-भिन्न पथ पर, साधु, असाधु, ज्ञानी, अज्ञानी।

गान ॥ के वाय अमृतधामयात्री

पचम सर्ग

उनकी कलान्ति, उनका सशय।

षष्ठ सर्ग

उनका क्रोध अधिक तीव्र हो गया।

गान ॥ येते येते एकला पथे।

उन्होने कहा कि मिथ्यावादी ने हमारे साथ छल किया है। उन्होने भक्त की पिटाई करते-करते उसे मार डाला।

गान ॥ मोर मरणे तोमार हबे जय

सप्तम सर्ग

उनमे भय है, अनुपात है, परस्पर के प्रति दोषारोपण है, प्रश्न यह है कि अब उन्हे मार्ग दिखाएगा कौन ? पूर्वदिश के वृद्ध ने कहा, जिसे हमने मार डाला है उसके प्राण हम सबके प्राणो मे सजीवित होकर हमे पथ दिखाएँगे। सभी ने खडे होकर कहा, जय मृत्युजय की।

गान ॥ हबे जय रे ओहे वीर, हे निर्भय।

अष्टम सर्ग

पुन सबकी यात्रा शुरू हुई।

गान ॥ आमादेर क्षेपिये बेडाय ये।

क्लान्ति नहीं, सशय नहीं। सबने कहा, हम इहलोक विजय करेगे, हम लोकान्तर विजय करेगे।

नवम सर्ग

कालज्ञ ने कहा, हम आ गए हैं। किन्तु प्रासाद कहॉ है, सोने की खान कहॉ है, शक्तिमत्र की पॅूथी कहॉ है ? रास्ते के किनारे झरना है, झरने के पास मे कुटीर है, कुटीर के द्वार पर बैठकर सिन्धुतीर का एक अजाना कवि गान गाता हुआ कह रहा है—द्वार खोलो।

गान ॥ भोर-हलो विभावरी (सब का उपवेशन)।

(धीरे उत्थान)।

गान ॥ तिमिर दुयार खोलो।

दशम सर्ग

द्वार खुला। मॉ तृणशैया पर बैठी है, गोद मे उसका शिशु है—अन्धकार के उस ओर से प्रकाशमान शुकतारा के समान।

कवि गा उठा—जय हो मनुष्य की, जय हो नवजातक की, जय हो चिरजीवित की।

यात्रियो ने प्रणाम किया, देश-देशान्तर के कठ से ध्वनित हुआ वही गान, युग-युगान्तर मे वह व्याप्त हुआ।

गान ॥ जय होक जय होक नव अरुणोदय।"

अभिनय के कार्यक्रम मे 'शिशुतीर्थ' जिस रूप मे मुद्रित था, उसी रूप मे मैंने यहॉ उसे उद्धृत किया है। जिन्होने 'पुनश्च' काव्यग्रन्थ मे 'शिशुतीर्थ' कथिका पढी है, वे समझ सकेंगे कि यहॉ 'शिशुतीर्थ' नाच के आदर्श से परिकल्पित हुआ है। बेलेनृत्य के परिचालक किसी कहानी को इस प्रथा से सजा लेते है और बाद में उसे नृत्य मे रूपान्तरित करते समय नर्तक-नर्तकियो को उसी के अनुसार निर्देश देते है। प्रत्येक सर्ग मे गद्य मे सक्षेप मे जो कुछ लिखा हुआ है, उसके अधिकाश भाग का नाच के द्वारा अभिनय विदेश मे शिक्षाप्राप्त छात्रा ने अकेले ही किया था।

बेले मे नाच की निर्मिति वाद्यसगीत की सहायता से होती है। किन्तु यहॉ नाच गठित हुआ था आवृत्ति, कथा और गान के आधार पर। इसमे यूरोपीय नृत्यपद्धति और देशी नाच का ढग साथ-साथ ही चलते हैं। जो दक्षिणभारतीय, मणिपुरी और यूरोपीय नाच जानते थे, उन्होने एक साथ अपनी-अपनी पद्धति कायम रखकर रूपदान करने का प्रयास किया था। इस नाटिका मे गुरुदेव ने मच के एक ओर बैठकर इस कथिका के प्रत्येक सर्ग की आवृत्ति की थी।

इस वर्ष के अन्त मे अर्थात् दिसम्बर मे गुरुदेव के ७०वें जन्मोत्सव के समय कलकत्ता

मे 'नटीर पूजा' और 'शापमोचन' अभिनीत हुए। इस उपलक्ष्य मे गुरुदेव ने 'शापमोचन' को नए ढग से लिखा। 'शिशुतीर्थ' के समान ही राजा नाटक के भाव के अवलम्बन से यह कथिका रचित है। उसका ही आधार लेकर बेले नाच के आदर्श से इस नृत्यनाट्य की सृष्टि हुई। 'शिशुतीर्थ' को जिस प्रथा से रूप प्रदान किया गया था, यहॉ भी वैसा ही किया गया। पहले के समान ही कथा, आवृत्ति और गान की सहायता से इसे रूप दिया गया। इसके नाच में मणिपुरी ढग प्रधान था, उसके बाद कथकली का कुछ स्थान था और यूरोपीय नृत्यपद्धति भी थी। विश्वभारती के रूसी लोकनृत्य-पारदर्शी अमरीकन कर्मी ने इस नाटक मे गान के साथ 'राजा' का अभिनय किया। इस कथिका के गद्य-अश का गुरुदेव ने स्वय पाठ किया। कभी-कभी उनके इस गद्य-छन्द की आवृत्ति के साथ छात्र-छात्राओ को नृत्य के छन्द मे अभिनय करना पडा था।

इन दो नृत्यनाट्य मे ध्यान देने का विषय यह है कि इस समय से ही शान्तिनिकेतन की नृत्यकला नाटकीय परिवेश के माध्यम से गठित होनी शुरू हो गई। अब तक नाच के अभिनय मे ऋतुओं के गान ही मुख्य थे—वे किसी घटना या नाटकीय परिवेश की कथा को सोचकर रचित नहीं थे। पहले गानो की रचना स्वत होती है, उसके पश्चात् भावसाम्य कायम रखकर उसे सजाया जाता था। बाद मे उसमे भाव-पारस्पर्य कायम रखने के लिए गुरुदेव उसमे सवाद जोडते थे। वस्तुत गानों के लिए ही नाटकीय परिवेश की रचना हुई है। 'शिशुतीर्थ' और 'शापमोचन' मे कहानी या घटना मुख्य है। उसे नाटकीय रूप मे खडा करते समय उसके अनुरूप गान बिठाए गए हैं या सवाद बदले गए हैं। अर्थात् कहानी के भाव के अनुयायी गानो की रचना बाद मे हुई है।

किन्तु यहॉ एक बात बता देना जरूरी है कि गुरुदेव ने स्वय नाच को कभी सकीर्ण अर्थ मे ग्रहण नहीं किया। उनकी दृष्टि मे नाच साधारण अभिनय का ही एक उत्कृष्ट मधुर संस्करण है। नाच साधारण अभिनय को अधिक चित्ताकर्षक बना सकता है, जिस प्रकार साधारण भाषा मे प्रकाशित मन के आवेग को कविता की भाषा और भी चित्ताकर्षक बना देती है और गान का 'सुर' उसे अधिकतर मधुर बना देता है।

गुरुदेव नाच को इस दृष्टि से ही देखते थे। वे मानते थे कि सवाद के साथ अभिनय कर जब किसी भाव को पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं किया जा सकता, तब नाच के अभिनय मे यह सम्भव होता है। इसीलिए वे अपने नाटको मे विविध पद्धतियो के अभिनय की परीक्षा नाच के छन्द मे ही कर गए हैं। वे मानते थे कि गद्य, पद्य और गान मे जब साधारण ढग से अभिनय किया जाता है, तब इन तीनो के अवलम्बन से नाच मे अभिनय क्यो सम्भव नहीं होगा? इस दृष्टिकोण के बल पर ही उन्होने अपने कई प्रकार के गीतनाटको मे नाच मे अभिनय कराने का साहस किया था। मैंने पहले ही बताया है कि उनके नृत्य-आन्दोलन मे कितनी विचित्र पद्धतियों के नाच को स्थान मिला है—किन्तु सभी पद्धतियो को अभिनय के अवलम्बन के हिसाब से देखनें के कारण किसी भी नाटक में इतने प्रकार के विचित्र ढग कभी अशोभन नहीं लगते। नाच के वैचित्र्य को एकसूत्र में बॉधने का यही रहस्य है। उन्होने अपनी रचना को मुख्य माना, इसीलिए नाच के अभिनय मे भिन्न-भिन्न धाराऍ इतने

सहज ढग से स्थान बना सकीं।

'शिशुतीर्थ' मात्र एक बार अभिनीत हुआ, जबकि 'शापमोचन' भारतवर्ष के विभिन्न शहरों और सिहलद्वीप मे कई बार अभिनीत हुआ। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि 'शापमोचन' प्रथम बार जिस रूप मे अभिनीत हुआ, बाद के मचन मे हूबहू उसी रीति को कायम रखा गया, ऐसा नहीं है। मूल कथा की धारा एव उसका दृश्यभाग ठीक उसी रूप मे रहा, किन्तु प्रत्येक मचन के समय नृत्यधारा के उत्कर्ष के साथ-साथ नाच की तकनीक मे काफी परिवर्तन हुआ। इसे पूर्णतया भारतीय नृत्यधारा मे रूप प्रदान करने की चेष्टा की जाती—मात्र तालवाद्य के नृत्यछन्द मे नाच दिखाने का प्रयास परवर्ती काल मे 'शापमोचन' के अभिनय के समय ही विशेष रूप से शुरू हुआ। मणिपुरी बोलो के नाच से ही उसका सूत्रपात है। गान के बीच-बीच मे खोल के छोटे बोलो पर अभिनय द्वारा केवल नाच के छन्द से दर्शको का मन आन्दोलित करना ही इसका कार्य था। 'शापमोचन' के युग (ई १९३४) मे नवकुमार सिह ने इसका सूत्रपात किया, नवकुमार सिह ही 'नटीर पूजा' के समय शान्तिनिकेतन की तरुणियो मे मणिपुरी नृत्य का प्रसार कर गए थे। 'शापमोचन' के अभिनय के लिए उन्हे और एक बार यहाँ लाया गया था। गुरुदेव के गान को नाच के अभिनय मे रूप प्रदान करने की उनके समान क्षमता और किसी मे मैंने नहीं देखी। इस समय मे उनकी सहायता से शान्तिनिकेतन के नृत्य-अभिनय की धारा मणिपुरी पद्धति मे अधिक विकसित हुई। 'शापमोचन' मे कथकली और मलाबार की युवतियो का एक प्रकार का नाच भी था, किन्तु उस समय उस नाच की अभिनय पद्धति को शान्तिनिकेतन ग्रहण नहीं कर सका। उसकी अभिनयहीन नृत्यभगिमा का ही अलकरण-रीति की दृष्टि से उपयोग किया गया है। इसके अलावा पूर्व प्रवर्तित विविध प्रकार का देशी-विदेशी नाच प्रच्छन्न रूप मे सभी मे मिश्रित था।

'शापमोचन' का काल था ई १९३१ से ई १९३४ तक, किन्तु इसी बीच ई १९३३ में गुरुदेव ने साधारण नाटक के आदर्श से 'तासेर देश' और 'चण्डालिका' लिखे, विशेष रूप से अभिनय के लिए। इन दोनो को 'शारदोत्सव' या 'फाल्गुनी' के समान गीतनाटक भी कहा जा सकता है। इन नाटको मे प्रचुर गान हैं और गान भी नाटक की कथा के समान ही प्रयोजनीय स्थलो पर हैं। किन्तु इन दो नाटको की रचना के पीछे इतिहास है, जिसे जान लेना जरूरी है।

ई १९३३ के जून माह मे गुरुदेव दार्जिलिग मे थे। उस समय नृत्यगीत का आयोजन किया गया, उसमे 'विदाय-अभिशाप' नाट्यकाव्य की आवृत्ति के साथ नृत्याभिनय किया गया था। अमित्राक्षर छन्द की कविता के साथ इस प्रकार के अभिनय की सम्भावना से उत्साहित होकर उन्होने 'चण्डालिका' नाटक लिखा। 'विदाय-अभिशाप' मे जिन्होने अभिनय किया था, उन्होने ही 'शिशुतीर्थ' के समय 'झूलन' कविता के साथ अभिनय कर दर्शको को मुग्ध किया था'। 'चण्डालिका' के समय भारतवर्ष मे महात्मा गाधी का हरिजन-आन्दोलन जोरो पर था—इस आन्दोलन के समर्थन में ही गुरुदेव ने 'चण्डालिका' नाटक की रचना की। उनकी इच्छा थी कि इस नाटक की 'प्रकृति' का अभिनय करेंगी पूर्वोक्त प्राक्तन

छात्री और माँ का अभिनय करेगी उनकी दोहित्री। इस नाटक मे सवाद और गान प्राय साथ-साथ चलते थे। स्थिति ऐसी थी कि गद्य-अश का गुरुदेव स्वय पाठ करेगे, गान गायक-दल द्वारा गाए जाएँगे। और समान रूप से गद्य-आवृत्ति और गान के साथ दोनो नाच मे अभिनय करेगे। किन्तु अन्तत यह सम्भव नहीं हुआ। रगमच पर गुरुदेव ने नाटक की केवल आवृत्ति की और गायक-दल ने गान पेश किए।

'तासेर देश' की रचना इसी समय हुई। 'गल्पगुच्छ' की कहानी 'आषाढ' को बेले के आदर्श से एक नृत्याभिनय की सृष्टि के प्रयास से इस नाटक की रचना है। साधारण कथोपकथन के साथ अभिनय के बीच-बीच मे गान के अनुयायी अभिनय को नाच मे प्रस्तुत किया गया था।

ई १९३६ और ई १९३८ के बीच रचित 'चित्रागदा', 'श्यामा' और परवर्तीकाल का 'चण्डालिका' नृत्यनाट्य के मूल मे यही इतिहास है। प्रत्येक बार समान नाम के बेले-आदर्श से परिकल्पित नृत्याभिनय को परिपूर्ण गीतनाटक मे रूपान्तरित करके ही वे निश्चिन्त होते है।

अब तक गुरुदेव ने कई नृत्योपयोगी नाटिकाओ की रचना की है। इनकी रचना विविध पद्धतियो मे है और इसके साथ-साथ नाच का उत्कर्ष भी हुआ है। नाच की दृष्टि से परीक्षण करते-करते अन्तत उन्होने यह धारणा बनाई कि गीतनाट्य ही नृत्यनाट्य मे रूपान्तरण के लिए सबसे उपयुक्त है। गीतनाट्य के विषय मे अभिज्ञता उन्होने जीवन के प्रारम्भिक काल मे ही प्राप्त कर ली थी। यह बात उन्होने उस समय से ही अच्छी तरह समझ ली थी कि गान को अभिनय के रूप प्रदान करना सम्भव है। और उन्होने यह भी समझा था कि अभिनय का सर्वाग सुन्दर विकास नाच की सहायता से ही सम्भव है। वे स्वय कवि और सुरकार थे। इन सब गुणों का मिलन हो गया था, इसीलिए जीवन के शेषकाल मे वे नृत्यनाट्य लिखने के लिए उत्साहित हुए। इन नाटको मे गद्य मे सवाद सयोजित करने की आवश्यकता उन्होने महसूस नहीं की, क्योकि गानो के 'सुर' मे सवाद सम्भव है, यह बात तो उन्होने 'वाल्मीकि प्रतिभा', 'कालमृगया' के युग मे ही अच्छी तरह से समझ ली थी, एव बाद मे भी 'शापमोचन' के समय इसे अनुभव किया था। 'चित्रागदा' तक गद्य-छन्द की आवृत्ति है, किन्तु 'श्यामा' या 'चण्डालिका' मे उसका उन्होने त्याग किया है।

ई १९३६ से ई १९३८ तक 'चित्रागदा' विशेष रूप से मणिपुरी नृत्यपद्धति के आधार पर ही गठित हुआ था, इसके अलावा मलाबार प्रदेश, बगाल एव अन्यान्य प्रदेशो के लोकनृत्य, कुछ कथकली तथा शान्तिनिकेतन का पूर्वकृत विविध प्रकार का मिश्रित नाच इससे था। उस समय तक कथकली अभिनय शुरू नहीं हुआ था। इस नाटक के युग मे गान के बीच-बीच मे बोलो के छन्द मे नाच पूर्वापेक्षा अधिक परिमाण मे सयोजित किया गया था। यह नाच उसी पद्धति का था जैसी कि नवकुमार सिह ने 'शापमोचन' के समय प्रस्थापित की थी। नाटक के किसी-किसी अश मे बोलो के नाच का प्राधान्य था। कुछ स्थलो पर अभिनय मात्र तालवाद्य के छन्द पर ही होता था। इसके अलावा गान पर अभिनय

के साथ-साथ छोटे-छोटे कई बोल भी रखे गए थे। इस प्रकार अधिकाश बोल ही नृत्यछन्द के मात्र अलकार रूप मे ही रखे गए हैं।

नृत्यनाट्य 'चित्रागदा' के सम्बन्ध मे कुछ समालोचको का यह मत है कि किसी-किसी स्थल पर नाटक की गति पूर्णतया अव्याहत नहीं रहती, गति या तो अवरुद्ध होती है या वह मथर रहती है। ऐसा क्यो होता है, इस सम्बन्ध मे कुछ कहना प्रयोजनीय है। ये नाटक हर बार नाच के तकाजे के कारण लिखे गए, कई बार तो इन नाटको के कुछ अश नाच के प्रयोजन से ही लिखे गए, अभिनय के अभ्यास के समय इधर-उधर कुछ सवाद भी जोडे गए हैं। रगमच पर अभिनय के समय नाटक बढाने के लिए उन्होंने यहॉं-वहॉं गान भी जोडे है। वेष-भूषा बदलने के लिए समय चाहिए, उस समय के लिए भी गान रखे हैं। इसके अलावा 'चित्रागदा' मे कुछ ऐसे नाच हैं, जिनकी रचना इसके बहुत पहले की गई। वे नाच उस युग मे शान्तिनिकेतन मे अच्छे नाच के रूप मे परिचित थे। नाच अच्छे माने जाते थे, इसीलिए 'चित्रागदा' मे उन्हे रखने की बात पर उन्होने आपत्ति नहीं की, किन्तु नाटक के जिन-जिन स्थलो पर वे नाच रखे गए, उनके साथ मिलाकर गान के शब्द बदल दिये, ताकि भावसाम्य बना रहे। 'सुर' और छन्द मे परिवर्तन उन्होने नहीं किया। 'चित्रागदा' मे इस पद्धति के कई गान हैं। कभी शब्द न बदलकर पुस्तक मे गान के ऊपर यह उल्लेख कर दिया है कि इस गान का किस उद्देश्य से व्यवहार किया गया है।

'श्यामा' नाटक पहले ई १९३६ मे 'परिशोध' नाम से लिखा गया और नृत्य मे अभिनीत हुआ। इसी समय मे शान्तिनिकेतन के अनुसन्धान-इच्छुक शिल्पियो के उत्साह से सिहल देश के 'कैण्डी' नृत्य का यहॉं प्रवेश हुआ। प्रथम बार के अभिनय के दिन आरम्भ मे एक घटे के नृत्य और गीत का एक अलग अनुष्ठान किया गया। प्रथम बार के अभिनय मे इस नाटिका के कुछ अंश नहीं थे। उन्हे बाद के मचन मे रखा गया। द्वितीय बार के अभिनय के समय 'उत्तीय' चरित्र और घातक द्वारा उसकी हत्या का दृश्य विशेष उल्लेखयोग्य है। किसी-किसी समालोचक के मत से हत्या का दृश्य 'श्यामा' नाटक का एक दुर्बल अश है। गुरुदेव भी ऐसा ही मानते थे, फिर भी उन्होने इस अश को नाटक से निकाला नहीं। हत्या का दृश्य तालवाद्य के बोलो के साथ रखा गया था। यह अश नाटक के मध्यस्थल मे है, मृत्यु के दृश्य और घातक के प्रचड ताडव नृत्य से रसान्तर होता है जिससे दर्शको के चित्त को विश्राम मिलता है, इसीलिए दुर्बल होते हुए भी दर्शको ने इस पर आपत्ति नहीं उठाई। सम्भवत इसी कारण गुरुदेव ने यह दृश्य नाटक से निकाला नहीं।

'श्यामा' नाटक कई बार अभिनीत हुआ। मैं मानता हूँ कि इनमे ई १९३८ के 'वर्षामगल' के समय का मचन विशेष उल्लेखयोग्य है।

इस नाटक मे ही शान्तिनिकेतन के नृत्य-इतिहास मे भारत की तीन प्रधान नृत्य-धाराओ का अपूर्व मिलन हुआ था। मणिपुरी, कथकली और कथक तीनो पद्धतियो की अपने-अपने ढग से गान के साथ प्रस्तुति अद्भुत थी। 'वज्रसेन' का चरित्र भरतनाट्यम् और कथकली शैलियो मे अभिनीत हुआ, 'उत्तीय' ने विशुद्ध कथक पद्धति के आदर्श का अनुसरण किया, 'श्यामा' का अभिनय शान्तिनिकेतन मे प्रचलित मणिपुरी भगिमा मे हुआ,

और प्रहरी का नाच विशुद्ध कथकली शैली मे था। सभी अभिनेता इन सभी नृत्य-शैलियो के कुशल शिल्पी थे।

शान्तिनिकेतन के नृत्य-इतिहास मे पहली बार कथक नृत्य को स्थान इससे ही मिला। गुरुदेव के नृत्याभिनय मे इस नृत्य के सफल होने का कारण यह था कि इस समय इस नृत्य के शिल्पी और उनके विख्यात गुरु दोनों ही शान्तिनिकेतन मे कुछ दिन रहे थे।

किन्तु यहाँ के छात्रो एव छात्राओ मे इस नृत्य का अनुशीलन कभी नहीं हुआ। इसीलिए यहाँ के नाच मे इस नृत्यशैली का कोई उल्लेखयोग्य स्थान नहीं बन सका। इस बार के नाच मे प्रत्येक नृत्य-पद्धति की अपनी रीति मे कई प्रकार के बोलो के नाच का व्यवहार किया गया था।

'चित्रागदा' की कविताओ की आवृत्ति से जिस प्रकार मूल घटना के योगसूत्र या एक नाच को अन्य नाच के साथ जोडने का काम हुआ और चित्त को विश्राम मिला है, उसी प्रकार यहाँ भी इन ताल-निर्भर आलकारिक नाच-गानो का रस अव्याहत रखकर दर्शको के चित्त को विश्राम दिया है। भारतवर्ष की सभी प्राचीन नृत्यशैलियो की यही रीति अत्यन्त प्रचलित और प्रसिद्ध है। इसके अलावा प्राचीन भारतीय नृत्यनाट्य मे रागिनी और तालाश्रित अभिनय के गान के बीच के व्यवधान-व्यवधान पर 'सुर' की आवृत्ति दिखाई दी है। प्राचीन शिल्पी भी इसी उद्देश्य से यह कार्य कर गए हैं। इसके अलावा और एक पद्धति भी मैंने देखी है, जिसमे किसी घटना के योगसूत्र के हिसाब से केवल तालवाद्य के ताल के छन्द पर गान के बिना अभिनय होता है।

'चित्रांगदा' के गद्यछन्द की आवृत्तियाँ ई १९३८ तक कभी नृत्यभगिमा मे आवृत्ति के छन्द मे अभिनीत नहीं हुईं। इस समय तक साधारणतया इन कविताओ के साथ ही अभिनय होता था। किन्तु ई १९३९ से इन कविताओ के साथ अभिनय भी पूर्ण रूप से नृत्यछन्द मे होने लगा। ये भी एक प्रकार के नाच मे परिणत हो गई। इस समय से कथकली-पद्धति की सहायता से अर्जुन का नृत्य-अभिनय बहुत फलप्रद रहा। यद्यपि इस प्रकार का परीक्षण 'चित्रागदा' के पहले भी हो चुका है, किन्तु 'चित्रागदा' मे ई १९३९ के पूर्व इस पद्धति का व्यापक व्यवहार नहीं था। कई बार देखा गया है कि इस पद्धति के अभिनय ने गान के अभिनय की अपेक्षा भी दर्शकों को अधिक आकृष्ट किया है। गान के 'सुर' (रागिनी) और ताल से मिश्रित अभिनय के बीच-बीच मे इस पद्धति की आवृत्ति के साथ अभिनय दर्शको के मन के लिए विश्राम का काम करता है।

ई १९३८ के मार्च माह में 'चण्डालिका' नाटक पहली बार अभिनीत हुआ। ऐसा कहा जा सकता है कि इस नाटक मे नाटकीय घटनाओं का समावेश नहीं है। पहले के दो नाटको मे कुछ नाटकीय घटनाओ का समावेश था। इस नाटक की सफलता मात्र सुन्दर नृत्याभिनय पर निर्भर करती है। नाच के अलंकारों का अधिक स्थान नहीं है। 'चित्रांगदा' के नाच के आगिक-अभिनय मे अलकार-बाहुल्य है, उसके बाद है 'श्यामा'। इस दृष्टि से 'चित्रागदा' सवपिक्षा निराभरण है। केवल अवधि-वृद्धि के उद्देश्य से इसमे बीच-बीच मे पूर्व-रचित नाटक के कुछ गान रखे गए हैं। किन्तु उनकी विशेष आवश्यकता नहीं थी। कभी-कभी

इस नाटिका को विविध प्रकार के नृत्य का समावेश कर 'चित्रांगदा' के समान अलकार बहुल बनाने का प्रयास किया गया था, तब गुरुदेव ने एक बात कही थी—"नाच-गान के बाहुल्य का वर्जन आवश्यक समझा गया। वे स्वतंत्र रूप से कितने ही अच्छे लगे, समग्र रूप मे बाधाजनक हैं।"

इन नाटक का अभिनय मूलत मणिपुरी और कथकली के आंगिकाभिनय पर निर्भर था। उसके बाद थे अन्यान्य नाच। इसमे कविता-आवृत्ति तो नहीं थी, किन्तु कुछ गान थे, जिन्हे रागिनी की सहायता से आवृत्ति के छन्द मे गाया जाता था। उनके साथ जो नृत्याभिनय होता था वह भी उसी छन्द में।

मैंने पहले ही कहा है कि गीतनाट्य को नृत्याभिनय की सहायता से चित्ताकर्षक बनाने की तीव्र प्रवृत्ति के कारण ही इस प्रकार के नृत्यनाट्य की उत्पत्ति है। फिर भी यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि इसके पीछे एक ताकीद थी। बाहर से जो ताकीद की जाती वह हर बार उनके आदर्श और उनकी रुचि के अनुकूल शायद नहीं होती, किन्तु उसे वे अत्यत सहज भाव से अपने आदर्श मे ढाल लेते थे। इतने प्रकार के नाच के अवलम्बन से नाटिका की रचना कर, अभिनीत करके भी उसे नृत्यनाट्य, विशेषतया 'चण्डालिका' में परिणति कर सकना, इस बात को अधिक स्पष्ट कर देता है। कई प्रकार के विदेशी नृत्यादर्श ने उनके आदर्श को भिन्न पथ पर सचालित कराना चाहा है, किन्तु वे उससे कभी अभिभूत नहीं हुए। उन्होने अपने देश के लिए उपयोगी पथ को ही ठीक मानकर, समझकर, उसे ही अपनाया है। नाच को केवल नाच की दृष्टि से उपभोग करने के समान स्वभाव उनका कभी नहीं था। इसीलिए शान्तिनिकेतन में नाच के प्रारम्भिक काल से अभिनय द्वारा ही नाच का आरम्भ है, और उसी की परिणति गीतनाटिका के अभिनय मे हुई। नाच द्वारा आरम्भ कर, उसके बाद अभिनय के उत्कर्ष की बात सोची नहीं जाती। उनके नृत्यान्दोलन की यही मूल बात है। उनके समक्ष लिखित नाटक ही असल था। इस क्षेत्र में सर्वत्र ही उनके नाटक के भाव को नाच मे प्रकाश करना ही मूल लक्ष्य था।

गुरुदेव द्वारा प्रवर्तित नाच का यह आदर्श मूलत· भारतीय है। जावा और बालिद्वीप के नृत्य भी इसी आदर्श से संचालित हैं, क्योंकि वे लोग भी भारतीय आदर्श से पोषित हैं। इस मूल आदर्शगत ऐक्य के अलावा जावा-बालिद्वीप के नाच के साथ और किसी प्रकार का मेल मुझे दिखाई नहीं देता। उन देशो का नाच विविध प्रकार के वाद्यो के सम्मिलित सगीत के आश्रय से रचित है। इन देशो के लोग गान के साथ भारतीय प्रथा की अभिनय-पद्धति को ग्रहण नहीं करते। कथकली के समान मुद्राभिनय, कथक के समान अभिनय तो बिलकुल नहीं है। उनका अभिनय वाद्य-सगीत के छन्द मे निबद्ध समग्र देहभगिमा का अभिनय है। देहभंगिमा का अभिनय करते समय वे ऑखो से, मुख से किसी प्रकार का भावाभिनय नहीं करते। एक ही दृष्टि, एक ही प्रकार के मुखभाव से शुरू से आखिर तक उन्हे अभिनय करते मैंने देखा है। इस विषय मे पुरुषो और महिलाओं मे किसी प्रकार का प्रभेद नहीं है। उनका प्राचीन नृत्यनाट्य प्राय कहानी के समान है। हमारे आदर्श से उसे नाटक नहीं कहा जा सकता। कथोपकथन को वे अधिक प्रधानता नहीं देते।

हमारे देश के कथक जिस प्रथा से कथा कहते हैं, उनके नाच का नाटक इसी पद्धति का है। गायक-दल कथक के समान ही गान मे कहानी बोलते चलते हैं। जावा के प्राचीन नृत्यनाटक मे नृत्य-अभिनेता एक-दूसरे के आमने-सामने खडे रहकर परस्पर बात करते हैं। देह मे किसी प्रकार की नृत्यभगिमा दिखाई नहीं देती। सवाद भी वे स्वाभाविक बातचीत के स्वर मे ही करते हैं। इस समय गायक-दल चुप रहता है, किन्तु अधिक समय तक नहीं।

मुझे ऐसा लगता है कि गुरुदेव को उस देश मे नाच की सहायता से नाटक मे अभिनय करने की सम्भावना दिखाई दी थी, इसीलिए वे प्रोत्साहित हुए थे। इसके अलावा वह देश नाच को जिस दृष्टिकोण से देखता है, उस दृष्टिकोण पर ही गुरुदेव मुग्ध हुए थे। वहाँ के लोग विभिन्न यथार्थ घटनाओ का अवलम्बन लेकर नाटक मे नाचते हैं। किन्तु यह वास्तविकता उनके नाच के छन्द मे निबद्ध होकर एक नया, विशेष रूप ग्रहण करती है, जो उनका नृत्यरूप है। आजकल इस देश मे या यूरोप मे युद्ध, मृत्यु का जो स्वाभाविक अभिनय हम देखते हैं, वे इसे पूर्णतया अलग रूप प्रदान करते हैं। वहाँ नाच मे मृत्यु, नाच मे युद्ध का प्रदर्शन है, वास्तविकता का प्रश्न नहीं उठता। इस कारण उनके नृत्यनाट्य मे मृत्यु होने और युद्ध मे पराजित होकर गिर जाने आदि के दृश्य दिखाए नहीं जाते। आज की साधारण दृष्टि से देखने पर लगेगा कि नाच मे मृत्यु का खेल हो रहा है। उनके नाटको से गुरुदेव ने इसी पक्ष को ग्रहण करना चाहा था।

दृश्यकाव्य की दर्शको को पूर्ण उपलब्धि तब होती है, जब कई लोगो द्वारा समूह रूप से वह कार्य सम्पन्न होता है। नाटक के अनुरूप साजसज्जा, नृत्यगीत और अभिनय मे यदि अन्यान्य लोग रचयिता की सहायता न करे तो उसका सम्पूर्ण रूप प्रस्फुटित करना असम्भव है। इसके पश्चात् रचयिता की शिल्पदृष्टि के साथ इन सब सहयोगियो की शिल्पदृष्टि की समता की आवश्यकता होती है। इसके अभाव में रचयिता को काफी कुछ सहन करना पडता है, उसके बिना उसके लिए और कोई उपाय नहीं है। प्रकाश-व्यवस्था के समय भी गुरुदेव के नृत्यनाट्य में यदि कहीं असम्पूर्णता दिखाई दे, तो इसके लिए वे जिम्मेदार हैं जो इस कार्य में सहायक रहे। उनमे से कोई भी गुरुदेव के समान सक्षम नहीं था, इसके लिए किसी प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। किन्तु इस सामजस्यहीनता, विषमता के बावजूद वे अपने आदर्श को काफ़ी परिमाण मे कार्य रूप में परिणत कर सके एव जनसाधारण को अपने रुचि-बोध की ओर कुछ अशो मे प्रवृत्त कर सके थे, इससे ही हमारा बहुत बडा उपकार हुआ है। हमारा देश धन्य हुआ है।

देश के आधुनिक नृत्यशिल्पियों में अधिकाश गुरुदेव द्वारा प्रवर्तित नृत्याभिनय-पद्धति को स्वीकार नहीं करते; वे एक ही समारोह मे दर्शकों के समक्ष प्राचीन नृत्य, लोकनृत्य आदि नाम से खडित रूप में नाच पेश करते हैं। वह नृत्य साजसज्जा, आकार-प्रकार में देशी जरूर हुआ है, किन्तु उसमें उच्च भारतीय श्रेणी मे नृत्याभिनय का आदर्श या रीति व्याहत हुई है। आज इन सब नृत्य-समारोहों में कई प्रस्तोता मात्र विविध प्रकार के वाद्यों की छन्द-बहुल ध्वनि का आश्रय लेते हैं। वहाँ गायन के लिए स्थान नहीं है। यूरोप के आदर्श से बेले नृत्य के साथ जुड़े वाद्यसंगीत के प्रभाव से हम गान का त्याग कर नाच

के लिए जिस प्रकार वाद्यसगीत की रचना कर रहे हैं, उस काम मे आज तक किसी प्रकार का बहुत उच्चस्तरीय विकास दिखाई नहीं देता। इस शताब्दी की पाश्चात्य नृत्यकला के प्रभाव से हमने वाद्यसगीत की सहायता से केवल नृत्याभिनय-प्रथा सपूर्ण रूप से पाई है। बहिरंग से हम भारतीय होते हुए भी हमारे मन को यूरोप के नृत्यादर्श ने आवृत्त कर लिया है।

यूरोप मे नृत्य का आयोजन साधारणत नर्तक के नृत्यपटुत्व को ध्यान मे रखकर किया जाता है, विविध प्रकार के नाच के समावेश के कारण हम उस विशेष व्यक्ति को ही सम्पूर्ण कार्यक्रम के केन्द्र के रूप मे देखते हैं। हमारे देश मे भी वही स्थिति प्रबल है। किन्तु गुरुदेव के नृत्याभिनय मे कहानी का भाव और उसका रस प्रधान होने से उनकी रचना किसी विशेष नृत्यशिल्पी को ध्यान मे रखकर रचित नहीं रहती, प्राचीन भारतीय नृत्याभिनय का आदर्श भी ठीक इसी ढग से चला आ रहा है।

गुरुदेव एक ओर प्राचीन आदर्श से भारतीय नृत्य में युग-प्रवर्तक हैं, दूसरी ओर वे ही इस क्षेत्र मे अन्यो की अपेक्षा अत्याधुनिक हैं। उनके जीवन के शेषकाल के नृत्यनाट्य आनेवाले कल के नृत्य-आन्दोलन को प्रेरणा प्रदान करेगे, इसमे सन्देह नहीं। उनके नृत्यनाट्य मे हमे आधुनिक भौतिकवादी समाज का चित्र नहीं मिलता, सामाजिक समस्या के समाधान का प्रयास भी नहीं दिखाई देता। उनकी रचना का उद्देश्य है समग्र काल के मानवलोक की चिरन्तन समस्याओ को सुन्दर ढग से दर्शको के सामने रखना, उनके चित्त को उन्नततर रसलोक में ले जाना, जो कभी किसी को विसंगत नहीं लगेगा।

नाटको के अभिनय मे उन्होने आंगिक-अभिनय की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन नृत्य-पद्धति का अविकल अनुकरण भी नहीं कराया है, वैचित्र्य प्रदर्शन मे जहाँ पाश्चात्य पद्धति भारतीय भावधारा की सहायक रही है, या मेल खाती है, वहाँ उसे अनायास ही स्थान मिला है।

गीतनाट्य और नृत्यनाट्य

हमारे देश मे गीतनाट्य नाम से कुछ प्रकार के नाटको का प्रचलन बहुत समय से चला आ रहा है। जिस नाटक मे पात्र-पात्री के सवादो के बीच-बीच मे प्रचुर गान रहे, वह एक प्रकार का गीतनाट्य है। इसके नमूने हमे प्राचीन सस्कृत नाटको, दक्षिणभारत के कर्नाटक प्रदेश मे प्रचलित एक प्रकार के नृत्याभिनय, बगाल मे प्रचलित यात्राभिनय एव गुरुदेव द्वारा रचित 'शारदोत्सव', 'फाल्गुनी', 'अचलायतन', 'तासेर देश' प्रभृति गीतनाट्य मे मिल सकते हैं। इन नाटको के गान सुनकर यह ठीक समझा जा सकता है कि नाटक मे केवल सुरमाधुर्य बढाने के लिए ही गान नहीं रखे गए, नाटक की साधारण भाषा मे जिसे भावाभिव्यंजना कहा जाता है, गानो द्वारा उसे ही पूरा किया गया है।

और एक प्रकार का गीतनाट्य है, जिसमे पात्र-पात्री साधारण भाषा मे सवाद नहीं बोलते। एक सूत्रधार गद्य-भाषा मे नाटक का घटनाक्रम और विषयवस्तु दर्शको के समक्ष स्पष्ट रूप से रख देता है। अभिनेता केवल गानो के अश का अभिनय करते जाते हैं। कई बार देखा गया है कि सूत्रधार ही नाच मे, गान में बोलने की प्रधान भूमिका निभाता है, अन्यान्य अभिनेता उपलक्ष्य मात्र रहते हैं। इस पद्धति के गीतनाट्य का असम-वैष्णवो के 'अकियानाट' नाटक, बंगाल के 'कालियादमन' नामक प्राचीन यात्रागान, दक्षिणभारत के आन्ध्रप्रदेश मे प्रचलित प्राचीन नृत्याभिनय एव गुरुदेव के 'शापमोचन' 'शिशुतीर्थ' प्रभृति गीतनाट्य मे साम्य मिलता है।

गुरुदेव द्वारा रचित 'वसन्त', 'श्रावण गाथा', 'ऋतुरग' इस पद्धति के गीतनाट्य नहीं हैं। इन्हे देखने से लगता है जैसे गान के लिए नाटक का परिवेश तैयार किया गया है। गानो को एक भावसूत्र में पिरोकर दर्शको के सामने रखने की इच्छा से ही इस प्रकार के नाटकीय आयोजन हैं।

ऐसी पद्धति का गीतनाट्य है, जिसमे शुरू से अन्त तक सम्पूर्ण कथोपकथन 'सुर' (स्वरसज्जा) मे रचित है। यूरोप मे इस प्रकार के नाटक का प्रभाव बहुत अधिक है। उनकी भाषा में इसे 'ऑपेरा' कहा जाता है। नेपाल मे प्रचलित प्राचीन बगला गीतनाट्य भी इसी पद्धति का था, जिसका परिचय हमें प्राचीन पूँथी से मिलता है। हमारे देश मे पूर्णांग गीतनाट्य दक्षिणभारत के केरल प्रदेश और तमिलनाडु मे आज भी प्रचलित हैं। गुरुदेव ने स्वय इस पद्धति के छह गीतनाट्य की रचना की थी। उनके नाम हैं - 'वाल्मीकि प्रतिभा', 'कालमृगया', 'मायार खेला', 'चित्रागदा', 'श्यामा' और 'चण्डालिका'।

हमारे देश की प्रचलित धारा के अनुसार सब प्रकार के गीतनाट्य में नाच या नाच

का अभिनय अत्यावश्यक था। हमारे पूर्वपुरुष यह बात सोच भी नहीं सकते थे कि नाच के बिना गीतनाट्य अभिनीत हो सकता है। इसी कारण हमारे देश के सभी प्रकार के प्राचीन गीतनाट्य मे गान मात्र नाच मे अभिनीत होते थे एव आज भी ऐसा होता है। प्राचीन पडितो ने सम्भवत इसी कारण सगीत की व्याख्या करते हुए कहा है कि नृत्य, गायन और वादन तीनो का जहॉ मिश्रण है, उसे ही सगीत कहते हैं।

यह विचार करने का विषय है कि प्राचीन भारत मे गीतनाट्य मे गान और नाच को इतना बडा स्थान क्यो दिया गया।

हृदयावेग को हम साधारण भाषा मे कितने ही सुदर ढग से अभिव्यक्त क्यो न करे, कविता के छन्द मे वह उससे अधिक सुन्दर बनता है, रागिनी के साथ जब वह गान मे रूप लेता है तब वह और भी मर्मस्पर्शी हो जाता है। नाटक मे साधारण सवाद का अभिनय निश्चय ही अच्छा लगता है। किन्तु जब उसे 'सुर' (रागिनी) के माध्यम से हमारे समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, तब वह और भी प्रिय लगता है। मन को सर्वाधिक आकृष्ट तब करता है जब वह देहछन्द की नृत्यभगिमा मे रूप लेता है।

सम्भवत यही सोचकर हमारे पूर्वपुरुष गान और नाच से नाटक को पूर्ण कर उसे विविध प्रकार के नृत्यनाट्य मे रूपान्तरित करते थे। भारतीय आदर्श के अनुसार गान के बिना नाटक नहीं होता, और जहॉ गान हैं वहॉ नाच होगा ही।

गुरुदेव के जीवन के प्रारम्भिक काल के 'वाल्मीकि प्रतिभा', 'कालमृगया' और 'मायार खेला' को छोडकर सभी पूर्णाग नाटको मे नाच का प्रयास किया गया था। वे सभी नाच की भगिमा मे अभिनय के उपयोगी हैं। 'शारदोत्सव' से शुरू कर 'चण्डालिका' तक उनके जीवन के शेषार्ध के सभी गीतनाट्य के अभिनय के समय गानो को किसी-न-किसी ढग से नाच की भाषा मे अभिनीत किया गया था। नाच की भाषा को पूर्णतया आयत्त कर 'चित्रागदा', 'श्यामा' और 'चण्डालिका' अभिनीत हुए थे, इसीलिए उन्होने इनका अलग नामकरण किया था 'नृत्यनाट्य'।

यूरोप के गीतनाट्य—ऑपिरा को नृत्यनाट्य नहीं कहा जा सकता, क्योकि ऑपिरा केवल गानो पर अभिनय करने के लिए रचित है, नाच के लिए नहीं। ऑपिरा का अच्छा या बुरा होना सुगायको के गानो पर निर्भर करता है। नृत्य-दक्ष नट-नटी के लिए यह नहीं है। इस दृष्टि से गुरुदेव के यौवनकाल के 'वाल्मीकि प्रतिभा', 'कालमृगया' और 'मायार खेला' के साथ विदेशी ऑपिरा का मेल विशेष रूप से परिलक्षित होता है। इसके गान इस ढग से रचित हैं कि जैसे ये साधारण रूप से अभिनय करने के ही उपयुक्त हैं।

इन गीतनाट्यो के साथ पाश्चात्य प्रथा का मेल होने के कारण का पता लगाने के लिए हमे बगाल के सगीत के इतिहास के और एक पक्ष को देखना होगा, वह है गुरुदेव का जन्मकाल और उनका पारिपार्श्विक वातावरण।

उनका जन्म कलकत्ता शहर में ई १८६१ मे हुआ, सिपाही-विद्रोह के कुछ वर्ष बाद। यह युग बगाल के सामाजिक और सास्कृतिक आदोलन का एक स्मरणीय युग था, इसी कारण गुरुदेव ने इस समय को याद कर कहा है, वर्तमान आधुनिक युग का आरम्भ।

१९वीं शताब्दी के आरम्भ से सिपाही-विद्रोह के समय तक बंगाल मे विदेशी सभ्यता के प्रभाव से देश की शिक्षा, समाज, धर्म और राजनीति मे जो आन्दोलन चल रहा था, उसके पीछे विलायती सभ्यता के प्रति अनुकरण की प्रवृत्ति थी। उस सभ्यता की अच्छी बातो को ग्रहण करने के लिए देश मे जिस प्रकार आन्दोलन चल रहा था, उसी प्रकार उस देश से व्यक्तिस्वातत्र्य और चिन्तनस्वातत्र्य के नाम से प्राप्त उच्छृखलता के प्रति भी देश के शिक्षितो का एक वर्ग आकृष्ट हुआ था। प्रथम वर्ग मे थे राममोहन, महर्षि देवेन्द्र नाथ, ईश्वरचन्द्र, अक्षय दत्त, राजनारायण बसु आदि, द्वितीय वर्ग मे हिन्दू कालेज के मेधावी छात्रो का एक वर्ग था। हिन्दू कालेज के छात्रो मे यह धारणा पनप गई थी कि जो कुछ भारतीय है वह वर्ज्य है, और यूरोप का सबकुछ ग्राह्य है। राममोहन और उनके परवर्ती व्यक्तियो के आन्दोलन मे ऐसी भावना देखी गई कि यूरोप की जो अच्छी बाते हैं उन्हे अपने देशी साज मे सजाया जाए ताकि वे हमारे देश के वातावरण से मेल खा सके। इसका एक बडा उदाहरण है ब्राह्मसमाज—उसका चिन्तन और कर्म-आदोलन। इस समाज की प्रचलित कई करणीय सामाजिक प्रथाओ मे यूरोपीय समाज की रीतिनीति का प्रभाव स्पष्ट रूप से अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षा, ज्ञान, धर्म, साहित्य, समाज और राजनीति मे 'यूरोप का अनुकरण' मुख्य विषय बन गया। सिपाही-विद्रोह के बाद ही अनुकरण के इस मनोभाव मे एक बडा परिवर्तन आया। उस समय से ही अपने स्वभाव के अनुसार इस प्रभाव को रूप देने का प्रयास देखा गया। इसके पूर्व दो भिन्नमुखी प्रभाव के कारण समाज मे जो सघर्ष दिखाई दिया था, इतने समय के बाद वह शान्त हुआ और एक सुन्दर समन्वय का श्रीगणेश हुआ एव देशी और विलायती सभ्यता की अच्छी-बुरी बातो की परीक्षा कर जो ग्राह्य था उसे ही स्वीकार किया गया।

देश का सगीत और अभिनयकला भी इस आन्दोलन से निर्लिप्त नहीं रह सकी। इनमे भी परिवर्तन दिखाई दिए। इस संगीत आन्दोलन के प्रारम्भिक काल मे कलकत्ता के सगीतानुरागियो के एक वर्ग मे अनुकरण की इच्छा ही प्रकट हुई, किन्तु अपने देश के उच्च श्रेणी के सगीत के बिलकुल वर्जन की बात किसी ने नहीं सोची। किसी ने यह भी नहीं सोचा कि विलायती सगीत ही एकमात्र सगीत है, हमारे देश का सगीत कुछ नही।

आजकल गॉव-गॉव मे हम जो यात्राभिनय देखते है, उसका सूत्रपात विदेशी सभ्यता ग्रहण करने के प्रारम्भिक काल मे हुआ था। १८वीं शताब्दी के अन्त से १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक कलकत्तावासी अग्रेज प्राय. अपनी भाषा मे नाटक का मचन करते थे। उस समय के शिक्षित समाज मे यह नाटक देखने की प्रवृत्ति थी। उस समय के हिन्दू कालेज के और अन्यान्य छात्रो के लिए विलायती नाटको का अभिनय देखना और उसी आदर्श से विद्यालयो में अग्रेजी भाषा मे अभिनय और आवृत्ति करना शिक्षा का एक विशेष अग बन गया था। इस प्रकार के वातावरण मे धनिको के प्रोत्साहन और आर्थिक सहायता से विलायती अनुकरण से बगला भाषा मे एक प्रकार की यात्रा का उदय हुआ। उसका नाम दिया गया 'सखेर यात्रा' (शौकिया यात्रा)। इसके फलस्वरूप प्राचीन प्रचलित गीतनाट्य के प्रति आदर धीर-धीरे कम होने लगा। इस नवीन यात्रा का गठन थिएटर के समान था।

सिपाही-विद्रोह के बाद साधारण सवाद को प्राधान्य उस समय मिला जब पूर्णतया विलायती आदर्श से बगला भाषा मे नाटक-रचना का व्यापक आन्दोलन दिखाई दिया—इसे इस युग के थिएटर का आरम्भ कहा जा सकता है—उस समय उस थिएटरी नाटक की देखादेखी देशी यात्रा मे भी और परिवर्तन हुआ। उस परिवर्तित यात्रा का नमूना आज भी हमे देखने को मिलता है। १९वीं शताब्दी के आरम्भ मे नीवन शौकिया यात्रा के उद्भव के बावजूद सिपाही-विद्रोह के पहले तक प्राचीन पद्धति के यात्रा-अभिनय का प्रभाव उस समय स्पष्ट दिखाई दिया था। किन्तु इस युग में थिएटरी यात्रा के प्रसार के साथ-साथ उसका आदर कम होने लगा। आज वह प्राचीन यात्रा दिखाई नहीं देती, आज हम उसे भूल गए हैं। किन्तु यह नवीन यात्रा विदेशी थिएटर के आदर्श से परिचालित होते हुए भी गानो का परित्याग नहीं कर सकी। यात्रा की कथा और गान को प्राय बराबर-बराबर स्थान दिया गया है। प्राचीन यात्रा के गानो के साथ नाच का प्रचलन था, नवीन यात्रा के आयोजन उसे काफी परिमाण मे रखने को बाध्य हुए हैं। यहॉ तक कि थिएटर मे भी गान और नाच का प्रभाव दिखाई दिया। किन्तु यह ठीक बताना सम्भव नहीं कि देशी थिएटर के प्रचलित नाच का ढग विलायती नाटक से आया था या नहीं। केवल इतना कहा जा सकता है कि जिस नाच की भगिमा देशी थी, उसे विलायती नाच के आदर्श से सजाया जाता था। विगत प्रथम महायुद्ध के अन्त मे भी इस जाति के देशी-विदेशी मिश्रित थिएटरी नाच का प्रभाव काफी देखा गया है। आज भी उसके कुछ नमूने मिलते हैं।

हमारे देश मे मुसलमान युग के आरम्भ से उत्सव मे नौबत बजती थी। विविध प्रकार के पूजा-अनुष्ठानो एव शोभायात्राओ मे भिन्न-भिन्न आकार के ढोल-ढाक, कास्यताल आदि तालवाद्यो के वादक-दल धूम मचाते थे। १९वीं शताब्दी के आरम्भ से ही धनिको के प्रोत्साहन से समाज मे देशी वाद्य-वादन के स्थान पर विलायती बैंड-वादन का प्रचलन शुरू हुआ। विवाह, भोज आदि मे वे इस प्रकार के वादन को प्रोत्साहित करने लगे। इस समय मुफस्सल अचलो के धनी जमींदारो, विशेषत कृष्णनगर के राजपरिवार के लिए कलकत्ता से देशी वादको को ले जाकर विलायती बैड तैयार किया गया। आज भी धनिको के विवाह की शोभायात्रा, बडे-बडे उत्सवो, पूजा के अनुष्ठानो, राष्ट्रीय उत्सवो, खेल के प्रागण मे इस प्रकार के बैंड-वादन का नमूना दिखाई देता है। यहॉ के शिक्षित युवको मे इस बैड-वादन का इतना प्रभाव फैला है कि विलायती वादको की पोशाक पहनकर उसी ढग से वादन कर वे इस देश के स्मरणीय नेताओ का जन्मोत्सव मनाते हैं, स्वाधीनता दिवस का आयोजन करते हैं और सरस्वती-पूजा की प्रतिमा का विसर्जन करने जाते हैं। हमारे देश के ढाक-ढोल, नगाडा, शिगा, कास्यताल बजाने या उस वादन को सीखने मे उनका उत्साह नहीं है, यहॉ तक कि वे इसमे लज्जा अनुभव करते हैं।

बंगाल के प्राचीन गीतनाट्य आदि मे साधारणतया ढोलक, तम्बूरा, मोचग (मुखवीणा) आदि बजते और कास्य करताल अथवा कई खोलयुगल और करताल की एक साथ सगत रहती थी। १९वीं शताब्दी के आरम्भ से तबला और बेहाला (वायलिन) को इसमे स्थान मिला। किन्तु सिपाही-विद्रोह के बाद जब विलायती थिएटर के आदर्श से अभिनय का श्रीगणेश

हुआ और विभिन्न दृश्यो के बीच-बीच मे देशी समवेत वाद्य की सृष्टि हुई, तब देशी यात्रा और गीतनाट्य उसके प्रभाव से बच नहीं सके। पुरानी प्रथा का परित्याग कर नवीन प्रथा को ग्रहण करने मे लोगो ने सकोच नहीं किया। इस प्रभाव का विसदृश, अशोभन नमूना है आज की यात्रा का कसर्ट (समवेत वाद्य)। कुछ दिन पूर्व ही गॉव की यात्रा मे बेहाला बजते सुना है, आज वही वाद्य परित्यक्त है। आजकल की यात्रा मे विकट ध्वनिवाले कुछ विलायती वाद्यो का प्राधान्य दिखाई देता है। साथ में ढोल, तबला और करताल रहते हैं।

विलायती सगीत का अनुसरण करते हुए भी अपने देश के सगीत की अवज्ञा या अवहेलना न कर, दोनो देशो के सगीत मे समन्वय-साधन के द्वारा अपने देश के सगीत और अभिनय को परिचालित करने का दायित्व प्रथम बार उस युग के विख्यात धनी सौरीन्द्रमोहन ठाकुर और उनके भ्राता यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने सम्हाला। सौरीन्द्रमोहन ठाकुर ने उच्च श्रेणी के भारतीय सगीत की उन्नति और प्रसार के लिए जिस प्रकार कार्य किया था, भारतीय सगीत के इतिहास मे वह चिरस्मरणीय है। किन्तु विलायती सगीत मे उनका कैसा उत्साह एव आग्रह था, उसे भी जान लेना हमारे लिए जरूरी है।

यूरोपीय शिक्षा और सस्कृति के प्रभाव से इन्होने भारतीय सगीत को भिन्न दृष्टि से देखना सीखा था। उस युग मे उन्होने पहली बार भारतीय सगीत को तर्कसगत ढग से या सोच-विचारकर समझने और समझाने की चेष्टा की। सस्कृत पूँथियो की सहायता से प्राचीन संगीत के विषय मे आलोचना का आग्रह रहने के कारण उन्होने अपने दरबार मे कई पडित नियुक्त किए। इस उत्साह के फलस्वरूप ही बगला और अग्रेजी भाषा मे सगीत-आलोचना के उनके ग्रथ आज हमे देखने को मिलते हैं। यूरोपीय सगीत के लिए उन्होने एक जर्मन सगीतज्ञ को शिक्षक रूप मे नियुक्त किया था। इनके घर के बडे पुत्र प्रमोद कुमार (सर सौरीन्द्रमोहन के पुत्र) कुशल यूरोपीय सगीतज्ञ थे। दोहित्र गुरुदास भी अच्छे प्यानो-वादक थे। इन दोनो ने विदेशी आदर्श से देशी सगीत को समस्वर **(harmonize)** करने का प्रयास किया था। प्रमोदकुमार ने उस युग मे भारतीय रागिनी की सहायता से प्यानो पर बजाने के लिए उपयुक्त सगीत की रचना करने का प्रयास किया था। इस संगीत को उन्होंने इगलैंड के किसी प्रकाशक के जरिए अग्रेजी स्वरलिपि के साथ पुस्तकाकार मे छपवाया था। एक का नाम था—First thought on Indian Music or Twenty Indian Melodies composed for Pianoforte' यह पुस्तक लन्दन से ई १८८३ मे प्रकाशित हुई। पुस्तक का मूल्य था ६ रुपए। भूमिका मे प्रमोद कुमार ने लिखा है

" This is an attempt on My Part, a Native of India, to compose tunes on Indian themes and to arrange them according to European Music for the Pianoforte.

As hitherto no Indian Music has been written for the Piano, I think my attempt is the first of its kind and I hope, as this the first work from my pen,

its shortcomings will be overlooked by the Public ”

देशी रागिनियाँ थीं—भूपाली, खमाज, सुरट, यमनकल्याण, गौडसारग, सारग, बिहाग, विभास, पीलू, भैरवी, पूरबी, गौरी, छायानट, भूपविभास, कालिगडा, शकरा, केदार, झिझोटी और भूपकल्याण।

द्वितीय पुस्तक का नाम था—“Lady Dufferin Valse on Indian Melodies”। इसमे चार रागिनियो—झिझोटी, यमन-कल्याण पीलू और विभास—का व्यवहार किया गया है। तृतीय पुस्तक है—“Souvenir De Calcutta Valse”—और चतुर्थ पुस्तक का नाम है—“Grand march for Indian Empire”।

सौरीन्द्रमोहन के भ्राता यतीन्द्रमोहन ने विष्णुपुर मे विख्यात सगीतज्ञ क्षेत्रमोहन गोस्वामी की सहायता से ई १८५८ मे विलायती थिएटर के आदर्श से देशी राग-रागिनी की गतो को लेकर बगला थिएटर के लिए प्रथम बार देशी वाद्यो पर ऐकतानसगीत (Concert, समस्वर-वाद्य) का प्रचलन किया। ई १८७२ तक इन्होने और भी कुछ नाटको के लिए इसी प्रथा से ऐकतानसगीत की रचना की थी। कलकत्ता मे यह शैकिया थिएटर का युग था। इनकी देखा-देखी सभी थिएटरो मे नवीन पद्धति के ऐकतानसगीत का रिवाज हो गया। ई १८६६ के आसपास इन्होने सगीत-विवेचन के लिए एक सम्मेलन का आयोजन किया था। इच्छा यह थी कि विभिन्न प्रदेशो के ख्यातिप्राप्त गायको मे सगीत के सम्बन्ध मे जो मतभेद हैं उनकी मीमासा इस सम्मेलन मे की जाए। पता चला है कि इन दोनो ठाकुर-बन्धुओ के उत्साह से 'संगीत-समालोचनी' नामक एक मासिक पत्रिका प्रकाशित हुई थी। ये स्वय ही इसके सम्पादक थे। यह पत्रिका छह महीनो तक प्रकाशित होती रही। पहला प्रकाशन प्राय आश्विन, १२७१ बगाब्द (ई १८६४) मे हुआ था। अनुमान किया जाता है कि सम्भवत यही भारतवर्ष की प्रथम सगीत-पत्रिका थी। विलायती सगीत की स्वरलिपि-प्रथा की उपयोगिता को ध्यान मे रखकर क्षेत्रमोहन गोस्वामी ने ई १८५८ मे ऐकतानसगीत बजाने की सुविधा के लिए गत लिखने की प्रणाली का उद्भावन किया। वादक-दल लिखित खाता देखकर ही गत बजाते थे। गत लिखने की यह पद्धति पहली बार 'सगीतसार' (ई १८६८) और 'ऐकतानिक स्वरलिपि' (ई १८६७) मे पुस्तकाकार मे प्रकाशित हुई। ई १८६७ मे इनके ही नाटक-दल के कृष्णधन बन्द्योपाध्याय ने 'बगैकतान' नामक स्वरलिपि-पुस्तक प्रकाशित की, किन्तु यह स्वरलिपि पद्धति विलायती थी। फिर भी उनका दावा यह था कि इस पुस्तक मे ही प्रथम बार हिन्दू सगीत की स्वरलिपि प्रकाशित हुई है। इसी समय (ई. १८६८) सौरीन्द्रमोहन और क्षेत्रमोहन के प्रोत्साहन एव प्रेरणा से उनके ही एक गुणी शिष्य द्वारा 'Hindusthani Air arranged for Pianoforte' और 'अग्रेजी स्वरलिपिपद्धति' नामक दो पुस्तके प्रकाशित की गईं। ई १८६९ से ही ऑर्केस्ट्रा या ऐकतानसंगीत बजाने के उद्देश्य से देशी वादकों ने विलायती वाद्यो के व्यवहार हेतु कठोर परिश्रम किया है। उस समय से बगालियो मे प्यानो, हारमोनियम, कसर्टिना, सिक्लेफ्ल्यूट और फ्लेटफ्ल्यूट आदि विभिन्न प्रकार के विदेशी वाद्यो का वादन शुरू हुआ है। ई १८७४

मे किसी-किसी थिएटर के कसर्ट में विलायती गत बजाने का प्रयास भी हुआ है। थिएटर मे वादन के लिए ऐकतान और गत की रचना के साथ-साथ स्वरलिपि-प्रथा के प्रवर्तन के मूल में विलायती सगीत का प्रभाव सुस्पष्ट है।

सौरीन्द्रमोहन ने ई १८७१ मे आयोजित हिन्दूमेला के उत्सव मे सगीत-विषय पर जनसभा मे भाषण करने का प्रचलन पहली बार किया। उनका दावा था कि इस विषय पर बंगला भाषा मे भाषण करने के वे ही पथप्रदर्शक हैं। भाषण की मुद्रित पुस्तिका मे उन्होने कहा है, "यह मेरा प्रथम उद्यम है। भारतवर्ष मे सगीत-विषय पर बगला भाषा मे इस प्रकार किसी ने सार्वजनिक रूप से भाषण किया है, इसमे सन्देह है।" उनकी इस पुस्तिका और सगीत-विषय की उनकी अन्यान्य पुस्तके पढने पर यह समझा जा सकता है कि उन्होने विलायती संगीत का विभिन्न दृष्टिकोणो से गभीर ज्ञान प्राप्त किया है एव सगीत की इस आलोचना के समय यह भी जाना है कि सगीत को आलोचना की वस्तु किस प्रकार बनाया जाए। इसके अलावा तत्कालीन शिक्षित संगीतज्ञो मे विलायती सगीत की आलोचना कितनी गभीर और व्यापक हो गई थी, कृष्णधन बन्द्योपाध्याय का ग्रथ 'गीतसूत्रसार' (ई १८८५) उसका उत्कृष्ट निदर्शन है। विलायती सगीत के गभीर ज्ञान के बिना इस प्रकार के ग्रथ की रचना सम्भव नहीं होती। ये विलायती शिक्षा मे शिक्षित थे, किन्तु उस्तादी गायक-दल को भी इस आन्दोलन ने काफी परेशान कर दिया था। इसीलिए बडोदा निवासी विख्यात उस्ताद मौलाबक्स ने ई १८७५ मे हिन्दूमेला-उत्सव मे कहा था, "अग्रेजो के समान मैं पचास हजार लोगो को एक साथ गवा सकता हूँ। अग्रेजो की रीति और हमारे देश की रीति एक कर सगीतशास्त्र प्रस्तुत करने पर ऐकतान गान अनायास ही प्रचलित हो सकता है।" इस युग मे ही, यानी ई १८७३ मे सौरीन्द्रमोहन और क्षेत्रमोहन गोस्वामी ने जनसाधारण की सुविधा के लिए एक सगीत-विद्यालय की स्थापना की। यह विद्यालय उस समय के सगीतपिपासुओ के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ था। इस विद्यालय के छात्र दक्षिणाचरण सेन ने 'Blue Ribbon Orchestra' नामक एक दल तैयार कर ख्याति प्राप्त की। उन्होने इस विद्यालय मे सौरीन्द्रमोहन के पुत्र प्रमोदकुमार से भी पुस्तक-पाठ द्वारा विलायती हार्मनी-सगीत का अनुशीलन किया था। ई १८८१ मे उन्होने बगाल मे पहली बार यूरोपीय प्रथा से केवल बेहाला-वाद्य की सहायता से ऐकतानसगीत (कसर्ट) की रचना की। उन दिनो के 'कोहिनूर' और 'स्टार' थिएटरो मे वे यह वादन प्रस्तुत करते थे। प्रमोदकुमार ठाकुर इस दल के लिए विलायती प्रथा से ऐकतान की रचना कर देते थे। उनके द्वारा रचित 'Lady Dufferin Valse' नामक एक नाच का वादन उस समय विशेष परिचित था। ई १९१२ तक इस दल के कार्य का परिचय मिलता है। इगलैड के सम्राट के इस देश मे आगमन के उपलक्ष्य मे विलायती प्रथा से देशीवाद्य-ऐकतान प्रस्तुति से इस दल को अच्छी प्रशंसा मिली।

इन कुछ छिटपुट घटनाओ के माध्यम से भी हमे यह पता चल जाता है कि इस युग के शिक्षित वर्ग मे विलायती सगीत का आन्दोलन किस प्रकार शुरू हुआ था। इससे यह समझा जाता है कि बगाल आचार-व्यवहार, धर्म, राजनीति, शिल्प, साहित्य और काव्य के

मामले मे ही विलायती आदर्श मे अनुप्राणित नहीं हुआ, बल्कि सगीत और नाटक पर उसका यथेष्ट प्रभाव पडा था। आज हमने 'राष्ट्रीय सगीत' का जो आदर करना सीखा है, वह भी इस युग के पाश्चात्य आदर्श का दान है। इस प्रकार विदेशी आदर्श से अनुप्राणित थिएटर, गान, ऐकतान, स्वरलिपि, सगीतविद्यालय, सगीतपुस्तक, सगीतसभा, बैड आदि ने हमारे शिक्षित समाज को विशेष रूप से प्रभावित किया था, किन्तु वृत्तिक दल ने ई १८६८-६९ के बाद से कलकत्तावासियो को इतालवी ऑपेरा और शेक्सपीयर के नाटको से परिचित कराया। नाट्यकार अमृतलाल बसु ने ऑपेरा विषय पर आलोचना करते हुए अपनी स्मृतिकथा मे कहा है कि उस युग के कलकत्ता साहब लगभग लाख रुपयो का चदा एकत्र कर साथ ही पॉच-छह वर्ष की गारंटी देकर इतालवी ऑपेरा सम्प्रदाय को कलकत्ता ले आते और इस लिड्स स्ट्रीट के ऑपेरा हाउस मे अभिनय कराते थे।" कलकत्तावासी शिक्षित लोग इस ऑपेरा और नाटक का अभिनय बडे उत्साह से देखते थे एव उसके अनुकरण से ही कलकत्ता मे वृत्तिक थिएटर की स्थापना हुई। यहॉ तक कि विलायती थिएटर की दृश्यसज्जा और अभिनय-पद्धति तक अनुकरण के योग्य है, ऐसी मान्यता उन दिनों के उत्साही युवको मे थीं।

सगीत और अभिनय के इस आन्दोलन से गुरुदेव का परिवार भी अछूता नही रहा। इस परिवार मे विलायती सगीत को जानने-सीखने का बडा आग्रह देखा गया था। उनके कार्यकलाप से देखा गया कि वे उस युग के विलायती सगीत के आन्दोलन का पूर्णतया समर्थन करते थे। इनके निवासस्थानो पर उपासना के गान के साथ सारगी की सगत बद हो गई और उसका स्थान ऑर्गन ने ले लिया। पहले सत्येन्द्रनाथ ने इसका वादन शुरू किया, बाद मे द्विजेन्द्रनाथ ने और फिर ज्योतिरिन्द्रनाथ ने। उस समय के नवीन शौकिया थिएटर के प्रति रुझान इस परिवार मे भी दिखाई दिया, जिसके फलस्वरूप ई १८६७ मे 'नवनाटक' प्रसिद्ध हो गया और बाद मे ज्योतिरिन्द्रनाथ के अन्यान्य ऐतिहासिक नाटक भी देखे जा सके। नवनाटक मे उस युग मे प्रचलित प्रथा के अनुसार ऐकतानसगीत (कसर्ट) बजाया गया था, जिसकी गत-रचना ख्यातिप्राप्त गायक एव ठाकुर-परिवार के सगीतगुरु विष्णु (श्री विष्णुचन्द्र चक्रवर्ती) करते थे। इस वाद्यवादन-दल मे ज्योतिरिन्द्रनाथ हारमोनियम बजाते थे। इसके अलावा दो बेहाला, क्लेरियोनेट, पिक्लू बडा-बासबेहाला, (violin cello), करताल, ढोल, तबला-बायॉ एव मन्दिरा बजते थे। द्विजेन्द्रनाथ विलायती बासुरी पर यूरोपीय वैज्ञानिको द्वारा आविष्कृत सुर-विज्ञान के अनुसार विविध रागिनियो की स्वरसज्जा का परिमाण जॉचते थे। उनमे सगीत-विज्ञान के विश्लेषण की क्षमता भी अद्भुत थी। ई १८७४ मे प्रकाशित ज्योतिरिन्द्रनाथ के 'सरोजिनी' नाटक मे दो गान है जिनकी स्वरसज्जा विलायती है। इन दो गानो की प्रथम पक्तियॉ है—'दैखरे जगत मेलिये नयन' और 'प्रेमेर कथा आर बोलो ना'। शेषोक्त गान की रागिनी का नाम उन्होने दिया था इतालवी झिझोटी। इनके प्रात्साहन से ई १८७५ मे आदिब्राह्मसमाज मन्दिर मे सगीत-विद्यालय शुरू हुआ। विख्यात संगीतविद् यदुनाथ भट्ट इस विद्यालय के शिक्षक नियुक्त हुए। क्षेत्रमोहन गोस्वामी ने जिस वर्ष मे 'सगीतसार' ग्रथ प्रकाशित किया, उसी वर्ष द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका

मे नई पद्धति से तैयार स्वर-लिपि प्रणाली कुछ गानो के साथ प्रकाशित की। वह स्वरलिपि-पद्धति ही कई बार सशोधित-परिवर्तित हुई और अत में वह ज्योतिरिन्द्रनाथ कृत आकारमात्रिक स्वरलिपि मे परिणत हुई और यह रूप ही आज बगाल मे प्रचलित है।

ज्योतिरिन्द्रनाथ प्यानो पर स्वर-झकार से गुरुदेव को किस प्रकार अनुप्राणित करते थे, इसका वर्णन 'जीवन-स्मृति' मे है। इसके अलावा गुरुदेव ने स्वय प्रथम विदेश-यात्रा के समय कुछ विलायती गान सीखे थे। उस देश के वातावरण मे गान सीखने के कारण उनके शब्दोच्चारण मे विलायती प्रभाव परिलक्षित होने लगा था, जिसके कारण उनके आत्मीय बन्धु विस्मित हुए थे। इसका उल्लेख उन्होने स्वय किया है। श्रद्धेया इन्दिरा देवी ने अपनी बाल्यस्मृति मे उन विदेशी गानो मे मात्र कुछ का उल्लेख किया है। ये गान वे बाल्यकाल मे गुरुदेव के मुह से प्राय सुनती थीं और कई बार उन्हें गानो के साथ प्यानो भी बजाना पडा था।

गान हैं

`Won't you tell me, mollie darlıng'
`Darling, you are growing old'
`Come into the garden, Maud'
`Goodnıght, goodnıght, beloved'
`Good-bye, sweetheart, good-bye'

ई १८९० मे गुरुदेव दूसरी बार विलायत गए, किन्तु एक माह से अधिक समय तक वे वहॉ रह नहीं सके। फिर भी इस अल्पकाल मे विलायती गान का अनुशीलन कितना अग्रसर हुआ था, इसका पता उनके कुछ पत्रो से चलता है। कुछ पत्रो के विशेष अश मैं यहॉ उद्धृत कर रहा हूँ .

"सन्ध्या के समय पुन गान-वादन का अभ्यास शुरू हुआ। Walter mull प्यानो अच्छा बजाते हैं। Miss Mull और मैंने मिलकर कई गान गाए। ये हमारे गायन की काफी तारीफ करते हैं। Mull का कहना था कि मैं यदि गले का अभ्यास करूँ तो मैं St James Hall Concert मे गा सकता हूँ—मेरा कठस्वर उच्च श्रेणी का है।"

अन्यत्र उन्होने लिखा है

"Miss Mull ने गान सिखाए।"

"कुछ नए गान खरीद लाया हूँ—उन्हे गाकर देखा।"

"Tennis खेलकर Oswald के घर पर गायन किया एवं गायन-वादन सुनकर घर आया। खाना खाकर पुन· गायन-वादन कर सोने के कमरे मे आया हूँ।"

"Miss Mull ने मुझसे सब गान गवाए। Remember me कहकर एक गान के बाद उसने मुझे धीरे-धीरे कहा - T, I shall remember you।"

"(लौटते समय जहाज पर) Concert में मुझसे गवाया गया। काफी वाहवाह मिली।

Gounod के Serenade एव If गाए थे।"

"आज रात को भी मुझे गाना पडा। अग्रेजी गान गा-गाकर श्रान्त हो गया था, अचानक देशी गान के लिए प्राण आकुल हो उठे थे—जितने दिन बीत रहे हैं उतना मैं आविष्कार करता हूँ कि मैं अन्तर से यथार्थ देशी हूँ।"

"Mrs Moeller ने मुझे गाने के लिए अनुरोध किया। उन्होंने मेरे साथ प्यानो बजाया। Mrs Moeller ने कहा, It is a treat to hear you sing। Webb ने आकर कहा, What would we do without you Tagore –there's nobody on board who sings so well"

"जो भी हो जहाज पर आकर मेरे गान काफी appreciated हो रहे हैं। असली बात यह है कि इसके पूर्व मैं जो अग्रेजी गान गाता था, उनमे से कोई भी Tenor pitch मे नहीं था—इसीलिए मेरा गला खुल नहीं रहा था—इस बार पूरा ही Music ऊँचे pitch का खरीदा है—इसीलिए इतनी प्रशसा मिल रही है।"

"एक जर्मन सहयात्री मुझे कहा रहा था, "यदि तुम नियमानुसार कंठसाधना करो तो अद्भुत उन्नति हो सकती है। You have a music of wealth in your voice।' पहली बार जब मैं इगलैंड मे था तब यदि यह काम करता तो अच्छा रहता।

उपरोक्त वर्णन से यह ठीक समझा जा सकता है कि विलायती स्वरलिपि खरीद कर उसे पढ सकने और गाने मे उन्होने काफी कुशलता प्राप्त कर ली थी। विदेशी कठ्यसगीत उन्होने अच्छी तरह आयत्त कर लिया था।

प्रथम बार विलायत से लौटकर निवास पर सगीत के विषय मे बालक-बालिकाओ के नेता गुरुदेव हुए। इसके पूर्व घर पर अभिनय और गान के उत्सव मे बडो के बीच कम आयु के बालको और बालिकाओ के लिए स्थान नहीं था, गुरुदेव इन सभी को इसमे ले आए। सरलादेवी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "पहले माघ एकादशी के गान का अभ्यास बड़े मामा (द्विजेन्द्रनाथ), नतून मामा (ज्योतिरिन्द्रनाथ) या बम्बई-प्रवास से लौटे 'मेज मामा' (भाई-बहनो मे तृतीय) सत्येन्द्रनाथ ठाकुर के सह-नेतृत्व मे होता था। विलायत से लौटने के बाद रवि मामा ही नेता हुए। अपने भाइयों के साथ स्वयं भी नए-नए ब्रह्मसगीत की रचना करना, उस्तादो से रागिनी या धुन लेकर उनके अनुसरण से रचना करना, स्वय भी मौलिक धारा की स्वरसज्जा उस समय से ही शुरू करना और सिखाना—इन सबके कर्ता थे रवि मामा। निवास के सभी गायक बालक-बालिकाओ को बुलाना भी उसी समय से शुरू हुआ। उस समय से कई प्रकार के गानो से घर गूँजने लगा। घर पर सीखे गए देशी गायन-वादन के मामले मे ही नहीं बल्कि अग्रेज-महिलाओं से सीखे गए यूरोपीय सगीत के अनुशीलन मे भी प्रोत्साहित करने वाले थे रवि मामा।" इसीलिए स्वर्णकुमारी देवी ने अपनी कन्या सरलादेवी को प्यानो सिखाने के लिए एक मेम-शिक्षिका (अग्रेज-महिला) नियुक्त की थी। वह प्रतिदिन एक घटे तक सरलादेवी को प्यानो का अभ्यास कराती थी। प्यानो-वादन में दक्ष इस घर के बालक-बालिकाओ को गुरुदेव ने एक बार अपनी कविता

'निझरिर स्वप्नभग' को वादन मे प्रस्फुटित करने के लिए कहा था। गुरुदेव के शिक्षण से सरलादेवी ने उस रचना को प्यानो पर बजाने का प्रयास भी किया था। सरलादेवी अल्पवय मे गुरुदेव के अन्यान्य गानो के लिए कॉर्ड बजाने या हार्मनी करने की चेष्टा करती थीं। 'सकातरे ऐ कॉदिछे' और 'आमि चिमि गो चिनि' गानो की 'हार्मनी सुर' भी उन्होने ही बनाया था। बाद मे उन्होने इस प्रकार के और कुछ गानो को रूपान्तरित किया था। उनमे से कुछ उल्लेखयोग्य गान याद आते हैं, यथा—"सुखे आछि सुखे आछि, सखा, आपन-मने", "एसो एसो वसन्त, धरातले", "शान्त ह'रे मम चित्त निराकुल"।

गुरुदेव की भ्रातुष्पुत्री प्रतिभादेवी के सगीत-ज्ञान का परिचय देते हुए श्रीयुत् प्रमथ चौधुरी ने लिखा है, "रवीन्द्रनाथ के साथ मेरा परिचय होने के चार-पाँच मास बाद उनकी भतीजी एव अभिज्ञा की बडी बहन श्रीमती प्रतिभादेवी (श्री हेमेन्द्रनाथ की पुत्री) के साथ मेरे भ्राता (श्री आशुतोष) का विवाह हुआ। वे एक प्रकार से 'हाफ-उस्ताद' थे एव प्रतिदिन गाने का अभ्यास करते थे। जहाँ तक मुझे याद है, वे अधिकतर हिन्दी गान गाते थे। उन्होने प्यानो के साथ गाने का अभ्यास किया था, इसीलिए उनके गाने का ढंग कुछ टूटा-टूटा-सा था। उनके गले मे मींड नहीं थी वे प्यानो पर उस्तादी विलायती वाद्य-रचना बजाते थे। बिथोवन का 'Funeral March' और 'Moonlight Sonata' मैंने कम-से-कम हजार बार सुना है। उस कारण विलायती गायन-वादन के प्रति मेरी जो अश्रद्धा थी, वह कम हो गई।" इस घर मे विलायती सगीत का किस प्रकार अनुशीलन होता था, उसका परिचय श्रद्धेया इन्दिरादेवी की साधना से मिलता है। उनके भ्राता सुरेन्द्रनाथ ठाकुर (श्री सत्येन्द्रनाथ के पुत्र, श्री सत्येनद्रनाथ की ही पुत्री इन्दिरादेवी) ने अल्पवय से ही विलायती सगीत का अनुशीलन किया था, जिसका परिचय हमें उनके सगीत-विषयक प्रबन्ध—'राग ओ मेलॉडी' से मिलता है। इन्दिरादेवी ने कठ और वाद्यसंगीत दोनो का एक साथ अनुशीलन किया था। इनके निवास पर प्राय प्रत्येक बालक-बालिका इसी प्रकार देशी संगीत के साथ-साथ कुछ विलायती संगीत का भी अनुशीलन करते हैं।

इनके परिवार मे विदेशी सगीत का अनुकरण ही मुख्य नहीं था। देशी और विलायती सगीत के सम्मिश्रण से हमे नव रूप मिला है, जो बगला-सगीत मे सृष्टि की श्रेणी में आता है। इस मार्ग पर गुरुदेव की क्षमता ही विशेष फलदायी सिद्ध हुई। उनके बडे भ्राता ज्योतिरिन्द्रनाथ इसके पथप्रदर्शक थे।

इस प्रकार के देशी और विदेशी संगीत के वातावरण मे ई १८८१ मे प्रथम गीतनाट्य 'वाल्मीकि प्रतिभा' की सृष्टि हुई। इसके बाद के वर्ष में 'कालमृगया' एव और कुछ वर्ष बाद 'मायार खेला' की सृष्टि हुई।

'वाल्मीकि प्रतिभा' गुरुदेव द्वारा रचित प्रथम गीतनाटक है और प्रथम अभिनीत भी। इस नाटक-रचना में कैसा आनन्द और कैसी प्रेरणा थी, इसे उन्होंने एक-दो बातो मे स्पष्ट कर दिया है। उस दिन का स्मरण कर उन्होंने कहा है, " 'वाल्मीकि प्रतिभा' और 'कालमृगया' जिस उत्साह से मैंने लिखे, उस उत्साह से और रचना मैंने नहीं की। उन दो ग्रन्थो मे उस समय का हमारा संगीत-उत्साह प्रकट हुआ है।"

उस समय मे प्रचलित इसी प्रकार के किसी देशी या विदेशी गीतनाट्य से इस 'वाल्मीकि प्रतिभा' की रचना की कल्पना उनके मन मे आई थी, ऐसा निश्चित रूप से बताने लायक तथ्य हमारे सामने नहीं हैं। किन्तु हम जानते हैं कि इस नाटक-रचना के पूर्व गुरुदेव के निवास पर विद्वज्जन-समागम के उपलक्ष्य मे ज्योतिरिन्द्रनाथ रचित एक पूर्णांग गीतनाटक 'मानमयी' अभिनीत हुआ। ज्योतिरिन्द्रनाथ स्वय, गुरुदेव और परिवार के अन्य अनेक सदस्यो ने इस अभिनय मे भाग लिया था। अभिनय की ठीक तारीख विदित नहीं, किन्तु ई १८८० मे एक छोटी पुस्तिका रूप मे यह मुद्रित हुआ था। विलायत से लौटने के बाद ही गुरुदेव ने इसमे अशग्रहण किया और इसका अन्तिम गान गुरुदेव रचित है। यह अन्तिम गान है— 'आय तबे सहचरी, हाते हाते धरि धरि'। स्वर्ग के इन्द्र-उर्वशी, मदन-रति आदि देव-देवी मे प्रेम की घटनाओ को लेकर यह हलके-फुलके हास्य का नाटक है। सुना जाता है कि सम्पूर्ण नाटक सुर-ताल मे अभिनीत हुआ था।

'मानमयी' की रचना के पूर्व उनके परिवार मे और एक पूर्णाग नाटक अभिनीत होने की जानकारी मिलती है। नाटक का नाम है 'वसन्त उत्सव', इसकी रचना की थी गुरुदेव की बडी बहन स्वर्णकुमारी देवी ने।

'वसन्त-उत्सव' की कहानी सक्षेप में इस प्रकार है

शोभा का प्रेमी है कुमार, और लीला का प्रेमी है किरण। यह ठीक हो गया है कि शोभा के साथ कुमार का विवाह वसन्त-उत्सव के दिन होगा। शोभा चाहती थी कि उसकी सखी लीला और किरण का विवाह उसी दिन हो। किन्तु किरण लीला से प्रेम नहीं करता, बल्कि घृणा करता है। दोनो सखियॉ इसका कोई उपाय ढूँढने के लिए मायादेवी के मन्दिर मे उदासिनी नामक एक योगिनी की शरण मे गईं। योगिनी ने ध्यानयोग से लीला की अवस्था जानकर सगीत, कविता, मदन, वसन्त और रति की सहायता से एक मत्रपूत माला तैयार कर लीला को पहना दी, और उसके साथ ही उसके ललाट पर एक मत्रपूत बिन्दी लगा दी, जो फूलो के रस से बनाई गई थी। इसका गुण यह था कि जो कोई भी नारी इसे धारण करेगी, उसे देखकर पुरुष मात्र उसके प्रति आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकेगा। किन्तु एक मुश्किल उपस्थित हुई। उद्यान मे एक ही समय में कुमार और किरण ने मत्रपूत साज मे सज्जित लीला को देखा और दोनो ही उसकी ओर आकृष्ट हुए। शोभा अपने प्रेमी कुमार को लीला से प्रेम जताते देखकर लज्जित और दु खी हुई और उसने पुन. उदासिनी की शरण ली। उदासिनी ने ध्यान से सब कुछ जानकर शोभा की ऑखो मे एक मत्रपूत अजन लगाते हुए कहा, इसकी सहायता से कुमार की भ्रान्ति दूर होगी एव वह उसके प्रति ही आकृष्ट रहेगा। इधर लीला को लेकर कुमार और किरण मे असि-युद्ध शुरू हो गया। इस समय शोभा को नवीन साज मे आते देखकर कुमार का मोहभग हुआ और उसने शोभा से अनुतप्त हृदय से क्षमायाचना की। शोभा-कुमार, लीला-किरण और अन्यान्य सखियो के मिलन से उत्सव मे आनन्द का सचार हुआ।

ई १८७९ में यह नाटक पुस्तकाकार मे प्रकाशित हुआ, किन्तु ठीक कब, कहॉ और किन लोगों द्वारा यह अभिनीत हुआ था, इतिहासकारो ने इसकी खोज नहीं की। किन्तु

सरलादेवी ने मात्र इतना बताया है कि "रवीन्द्रनाथ के विलायत-प्रवास के समय मेरी माता (श्रीमती स्वर्णकुमारी) द्वारा रचित 'वसन्त-उत्सव' गीतिनाट्य का अभिनय ज्योतिरिन्द्रनाथ की अध्यक्षता मे अनुष्ठित हुआ था।" यह नाटक ऑपेरा जातीय गीतनाट्य की पद्धति से लिखा गया। अत देखा जाता है कि गीतनाटक की सहायता से अभिनय करने का चलन गुरुदेव के परिवार मे 'वाल्मीकि प्रतिभा' की रचना के काफी पहले शुरू हो गया था। पूरे तथ्यो की जानकारी न मिल सकने के कारण यह बताना कठिन है कि इस नाटक की सृष्टि किसके उत्साह से हुई, किन्तु विद्वज्जन समागम का जिक्र रहने के कारण अनुमान किया जाता है कि इस नाटक की रचना मे ज्योतिबाबू का हाथ था।

विद्वज्जन-समागम के प्रधान उद्योक्ता थे ज्योतिबाबू, एव उन्हे इस सभा के लिए बहुत कुछ करना पडता था, समागत अतिथियो के मनोरजन की व्यवस्था हेतु सोचना भी पडता था। इस समय गान, अभिनय मे वे हर बार कुछ नया दिखाने की भरसक कोशिश करते एव घर के सभी सदस्यो को इस कार्य मे लगाने की क्षमता भी उनमे थी। अनुमान किया जाता है कि 'वसन्त-उत्सव' और 'मानमयी' के समान गीतनाटक की रचना की बात ज्योतिरिन्द्रनाथ के मन मे उठने का कारण यह था कि सम्भवत उन्होंने पहले कोई विदेशी ऑपेरा देखा था, किवा इस प्रकार की किसी गीतनाटिका की कथा स्मरण कर स्वर्णकुमारी देवी से 'वसन्त-उत्सव' लिखवाया था। अब तक गुरुदेव उनकी इच्छा के अनुरूप ही कार्य करते थे। यह बात सम्भवत सभी स्वीकार करेगे कि गान-रचना के क्षेत्र मे ज्योतिबाबू मे उच्चस्तरीय शिल्पप्रतिभा का परिचय नहीं मिलता। बगला गान के क्षेत्र मे उनके उस अभाव को उन्होने गुरुदेव के माध्यम से पूरा किया है। यदि गुरुदेव ज्योतिबाबू के सगी के रूप मे उनके पास नहीं रहते तो आज गान के क्षेत्र मे ज्योतिबाबू की कई प्रकार की परीक्षामूलक प्रचेष्ठा का परिचय हमे नहीं मिलता। 'वाल्मीकि प्रतिभा' की रचना तक ज्योतिरिन्द्रनाथ ने गान रचना के जिस पथ और आदर्श का निर्देश सगीत के क्षेत्र में गुरुदेव को दिया था, वह गुरुदेव के परवर्ती जीवन मे विशेष उपयोगी रहा।

किन्तु इस विलायती प्रभाव के दृष्टान्त के रूप मे यदि हम केवल यह पता लगाने का प्रयास करे कि गुरुदेव ने विलायती धुन में और ढग से कितने गानो की रचना की है, तो यह गलत विचार होगा। वास्तव मे इस प्रकार का प्रभाव मात्र कुछेक गानो मे ही दिखाई देता है। इन कुछ गानो को लेकर आलोचना करने जैसी कोई बात नहीं है। इन सब गानों को सुनकर ऐसा लगेगा कि गुरुदेव ने मात्र यही देखना चाहा है कि विदेशी धुन और ढग बगला शब्दो के साथ किस प्रकार मेल खाता है।

उदाहरणस्वरूप इस पद्धति के गानो के कुछ नमूने यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ

'एनेछि मोरा एनेछि मोरा'
'काली काली बलो रे आज'
'तबे आय सबे आय'
'तोमार हल शुरू'

'सुन्दर बटे तव अगदखानि'
'आमार सकल रसेर धारा'
'मोर मरणे तोमार हबे जय'
'आमादेर शान्तिनिकेतन'
'हारे रे रे रे रे आमाय छेडे दे रे दे-रे'
'जनगणमन-अधिनायक जय हे'
'नय नय नय ए मधुर खेला'
'आलो आमार आलो ओगो'

इनमे से कई गानो को देशी राग-रागिनी के नियमो के अन्तर्गत रखकर उनका नामकरण किया जाता है। जैसे किसी-किसी का कहना है, 'सुन्दर बटे तव अगदखानि' गान यमन-भूपाली मे निबद्ध है। किन्तु इस 'सुर' (धुन) के चलन या रूप के साथ प्रचलित राग-रागिनी का कोई विशेष मेल लगता नहीं है। 'तोमार हल शुरू' और 'आमार सफल रसेर धारा'—इन दोनो मे विलायती चर्च-सगीत का प्रभाव परिलक्षित होता है। चर्च-सगीत का धीर-गम्भीर भाव इसमे प्रकट हुआ है।

वास्तव मे वे यूरोप के किस दृष्टि से ऋणी हैं, इसे समझने के लिए पहले हमे यह जान लेना होगा कि उसकी सगीत-प्रकृति कैसी है एव हमारे सगीत के साथ उसका पार्थक्य कहॉ है। वे मानते थे कि हमारा सगीत साधारणत मात्र एक सक्षिप्त स्थायी भाव का अवलम्बन कर आत्माभिव्यक्ति करता है। यह सगीत विराट् निर्जन प्रकृति का अनिर्दिष्ट, अनिर्वचनीय विषादगम्भीर सगीत है। बडी-बडी रागिनियो मे जो गाम्भीर्य एव कातरता है, वह जैसे किसी व्यक्ति विशेष की नहीं—वह जैसे अकूल असीम के प्रान्तवर्ती इस सगीहीन विश्वजगत् की है। यह सगीत हमारे सुख-दु ख का अतिक्रम कर चला जाता है। अकेले को पुकारता है। यह एक का गान है, अकेले का गान है, किन्तु वह कोण का एक नहीं, वह विश्वव्यापी एक है। इसीलिए हमारा उस्तादी गान ठीक जैसे मनुष्य का गान नहीं वह जैसे समस्त जगत् का गान है। उसका वैराग्य, उसकी शान्ति, उसका गाम्भीर्य समस्त सकीर्ण उत्तेजना को नष्ट करने के लिए ही है।

और यूरोप का सगीत जैसे मनुष्य के वास्तविक जीवन के साथ विचित्र ढग से जुडा हुआ है। यह संगीत मानव-जीवन की विचित्रता को गान के 'सुर' (स्वरसज्जा) मे रूप देकर प्रकट करता है। यह सगीत प्रबल और प्रकाड है, इसलिए देखा जाता है कि ऐसा कोई विषय नहीं जिसे लेकर गान की रचना न की जाती हो। विषयवैचित्र्य मे यूरोप काफी अग्रसर है।

मात्र सग्रीत के क्षेत्र में इस प्रकार का पार्थक्य है, ऐसा नहीं है, अन्यान्य शिल्पकलाओ मे भी ऐसा ही पार्थक्य दिखाई देता है। प्राच्य और पाश्चात्य शिल्पकला की तुलना करते हुए ऐरिक न्यूटन ने लिखा है

"The idea of serenity has never been quite so intensely caught and

held by any European sculpture as ıt has been by countless of the cross-legged Buddhas of ceylon Nor has the ıdea of sınuous movement as expressed ın Indıan carvıngs of dancers ever been equalled ın the West

"The bulk of Orıental art by ıts very calmness and detachment leaves me cold It ıs too exquısıte, too ınhuman I cannot be contest wıth an art that leaves my more materıal appetıtes unsatısfied."

हमारे सगीत मे मानविक वैचित्र्य का अभाव था। यूरोपीय सभ्यता के ससर्ग से हमारे मनोजगत् का परिवर्तन हुआ, हम मात्र एक स्थायी भाव मे आबद्ध नहीं रह सके। हम सगीत के माध्यम से छोटे-बडे व्यक्तिगत सुख-दु ख और विविध हृदयावेग को गान मे प्रस्फुटित करने की चेष्टा करने लगे। इसी के फलस्वरूप और आगे चलकर हमे बगला गान मे राष्ट्रीय संगीत, उद्दीपक सगीत, युद्ध-सगीत, हास्य गान, मृत्यु-गान, विवाह-गान, अभ्यर्थना-गान, जन्मदिन-गान, विविध उत्सवो के गान, खेती के गान, धान कटाई के गान, नलकूप के गान, जोताई के गान, चलने के गान, खेलने के गान आदि कितने ही प्रकार के गान मिले। इस प्रकार विषयवैचित्र्य मे गुरुदेव के गान श्रेष्ठ है। हमारे सगीत मे यूरोप का यही एक विशेष दान है।

सगीत को मनुष्य के वैचित्र्यमय बाह्य जीवन के साथ जोडने के जो मूल उपाय है, उनका पता यूरोप के ज्ञानियो ने लगाया था, इस बात को गुरुदेव ने भी समझा था।

हर्बर्ट स्पेसर को पढने के बाद गुरुदेव यूरोप की इस चिन्तनधारा से परिचित हुए। हर्बर्ट स्पेसर उन दिनो के शिक्षित बगालियो मे यूरोप के उच्च श्रेणी के एक चिन्तक ज्ञानी रूप में परिचित थे। इनका लेखन उस समय का चिन्तन करने वाला प्रत्येक बगाली पढता था।

सगीत की उत्पत्ति के विषय मे स्पेसर ने लिखा है

There ıs a physıologıcal relatıon common to men and all anımals, between feelıng and muscular actıon; that, as vocal sounds are produced by muscular action, there is a consequent physıological relatıon between feelıng and vocal sound, that all the modifications of voice, expressıve of feeling, are the direct results of thıs physıologıcal relation, that musıc, adopting all these modıficatıons, ıntensifies them more and more, as ıt ascends to ıts hıgher forms and becomes music ın virtue of thus ıntensıfyıng them... "

सगीत के विषय मे स्पेसर की इस चिन्तनधारा के साथ बकिमचन्द्र की चिन्तनधारा का मेल ध्यान देने योग्य है। १२८० बगाब्द (ई १८७३) मे बंगदर्शन मे सगीत की व्याख्या करते हुए उन्होने लिखा है -

"गीत मनुष्य का एक प्रकार का स्वभावजात है। मन के भाव केवल शब्दो मे व्यक्त हो सकते है, किन्तु कठभगिमा (कठ्य-सगीत मे काकु) से वे अधिक स्पष्ट होते हैं। 'आ '— शब्द कठभगिमा के गुणो से दु खबोधक हो सकता है, विरक्तिवाचक हो सकता है एव व्यग्योक्ति भी हो सकता है। 'तुमको न देखकर मै जैसे मर गया'—इतना मात्र कहने से दु ख की अनुभूति होती है, किन्तु उपयुक्त स्वरभगिमा (स्वरकाकु) के साथ कहने पर दु ख शतगुन से भी अधिक लगेगा। इस स्वर वैचित्र्य का परिणाम ही है सगीत। अत मन के आवेग को प्रकट करने के लिए आग्रही मनुष्य सगीतप्रिय है एव उसकी साधना के लिए स्वभावत प्रयत्नशील है।"

गुरुदेव ने भी १२८८ बगाब्द (ई १८८१) मे लिखित प्रबन्ध 'सगीत की उत्पत्ति और उपयोगिता' मे स्पेसर की चिन्तनधारा का समर्थन करते हुए कहा है, "स्पेसर के "The Origin and Function of Music" नामक प्रबन्ध मे जो मत व्यक्त किया गया है, उससे मेरे मत का समर्थन होता है, एव कई स्थलो पर दोनो का कथन एक-सा हो गया है।"

स्वर-सयोजन के विषय मे स्पेन्सर ने कहा है

.. music is but an idealization of the natural language of emotion, and that consequently, music must be good or bad according as it conforms to the laws of this natural language The various inflections of voice which accompany feelings of different kinds and intensities, are the germs out of which music is developed. It is demonstrable that these inflections and cadences are not accidental or arbitrary, but that they are determined by certain general principles of vital actions, and that their expressiveness depends on this. Whence it follows that musical phrases and the melodies built of them, can be effective only when they are in harmony with these general principles . the swarms of worthless ballads that infest drawing-rooms, as compositions which science would forbid. They sin against science by setting to music, ideas that are not emotional enough to prompt musical expression, and they also sin against science by using musical phrases that have no natural relations to the ideas expressed even where these are emotional They are bad because they are untrue. And to say they are untrue, is to say they are unscientific "

गुरुदेव ने भी इसी चिन्तनधारा के साथ एकमत होकर कहा है

"हमारे देश मे सगीत इतना शास्त्रगत, व्याकरणगत, अनुष्ठानगत हो गया है, स्वाभाविकता से वह इतना दूर चला गया है कि अनुभाव (स्वरभगिमा या Sign of feeling) के साथ सगीत का सम्बन्ध विच्छेद हो गया है, केवल कुछ स्वरसमष्टि का कर्दम एव राग-रागिनी की प्राणहीन प्रतिकृति और ढॉचा अवशिष्ट रह गया है, सगीत एक मृतिकामयी

प्रतिमा बन गया है—उसमे ह्रदय नहीं है, प्राण नहीं है।"

ये वैज्ञानिक उपाय क्या हैं, उनके कुछ उदाहरण स्पेसर के प्रबन्ध से ही उद्धृत करता हूँ। उन्होने लिखा है

"... the *staccato*, appropriate to energetic passages—to passages expressive of exhilaration, of resolution, of confidence

"... slurred intervals are expressive of gentle and less active feelings, . The difference of effect resulting from difference of time in music, is also attributable to the same law.

" .. more frequent changes of pitch which ordinarily result from passion, are imitated and developed in song; .

"The slowest movements, *largo* and *adagio*, are used where such depressing emotions as grief, or such unexciting emotions as reverence, are to be portrayed, while the more rapid movements, **andante, allegro, presto,** represent successively increasing degrees of mental vivacity. ."

गुरुदेव ने इस मत के समर्थन में लिखा है

"हम जब रुदन करते हैं तब पास-पास के दो स्वरो मे व्यवधान अति अल्प रहता है, रुदन मे स्वर प्रत्येक कोमल स्वर के ऊपर से फिसलता निकल जाता है, 'सुर' अत्यन्त खिचा रहता है। जब हम हँसते हैं—हा. हा हा हा , एक भी कोमल स्वर नहीं लगता, प्रलम्बित स्वर एक भी नहीं होता, पास-पास के स्वरो मे अधिक व्यवधान रहता है, तथा ताल के आघात-आघात के साथ ही स्वर लगते हैं। दु ख की रागिनी दु.ख की रजनी के समान अत्यन्त धीरे-धीरे चलती है, उसे प्रत्येक कोमल स्वर के ऊपर से जाना पडता है। और सुख की रागिनी सुख के दिवस के समान अत्यन्त द्रुत पदक्षेप से चलती है, दो-तीन स्वरो को लॉघती जाती है। . उच्छ्वासमय उल्लास का 'सुर' ही अत्यन्त आकस्मिक है, हम सहसा हँस पड़ते हैं, कहाँ से आरम्भ करे, कहाँ समाप्त करे, उसका कोई ठिकाना नहीं—रुदन के समान वह क्रमश: विलीन नहीं होता।

" द्रुत ताल सुख के भाव प्रकट करने का अग निश्चय ही है। भाव के परिवर्तन के साथ-साथ ताल भी द्रुत और विलम्बित करना आवश्यक है—सर्वत्र ताल समान रखना ही होगा, ऐसा नहीं है।

"गीतिनाट्य मे, जिसमें आद्योपान्त 'सुर' के साथ अभिनय करना पडता है, स्थल विशेष पर ताल न रहना विशेष आवश्यक है।' अन्यथा अभिनय की स्फूर्ति असम्भव है।"

जीवन के शेषार्ध मे उन्होंने कहा है :

"विलायती गान और देशी गान में स्वरूपगत या गठनगत अन्तर कहाँ है ? प्रधान अन्तर अतिसूक्ष्म स्वरो को लेकर है जिन्हे श्रुति कहा जाता है। . इनके योग से एक स्वर अन्य स्वर के पास-पास रहे, ऐसा नहीं है, बल्कि उनमें नाडी का सम्बन्ध स्थापित होता

है। नाडी का यह सम्बन्ध विच्छिन्न करने पर राग-रागिनी टिक भी जाए, उनकी आकृति बदल जाती है। कुछ समय पहले कसर्ट का जो प्रचलन था, उसकी गते इसके प्रमाण है। इन गतों के 'सुर' (स्वर) निर्दिष्ट क्रम से च्युत होकर या कटे-कटे नृत्य करते लगते है, किन्तु उनमे उस वेदना का सम्बन्ध नहीं रहता, जिसे लेकर सगीत की गभीरता है। इन सब विच्छिन्न या कटे स्वरो को लेकर विभिन्न खेल किए जा सकते है—उत्तेजना, उल्लास, परिहास, मनुष्य का विशेष-विशेष हृदयावेग—जो भी कहा जाए, विविध प्रकार से उनका व्यवहार किया जा सकता है, किन्तु जहाँ राग-रागिनी अपनी सुसम्पूर्णता के गाम्भीर्य के साथ निर्विकार रूप मे विराजमान है, वहाँ ये (स्वर) लज्जित हैं।"

ज्योतिरिन्द्रनाथ इस प्रकार के सिद्धान्त को सामने रखकर 'वाल्मीकि प्रतिभा' के रचना-काल मे भारतीय राग-रागिनियो को लेकर जब विविध परीक्षण करते थे, तब गुरुदेव उनके साथ रहते थे। प्यानो-वाद्य पर ज्योतिरिन्द्रनाथ के इस परीक्षण के विषय मे गुरुदेव ने कहा है, "उस समय ज्योतिदादा प्राय रोज पूरे दिन उस्तादी गानों को प्यानो पर बजाकर उनका यथेच्छा मथन करने मे प्रवृत्त थे। वे सब 'सुर' (राग-रागिनी) निर्धारित नियमो के अन्तर्गत मन्द गति मे दस्तूर से चलते हैं, उन्हे प्रथा-विरुद्ध उलट-पलट ढग से व्यवहार करने मात्र से उस विल्पव मे उनकी प्रकृति मे अकल्पित शक्ति दिखाई देती एव उससे हमारा चित्त सर्वदा विचलित हो उठता। हम स्पष्ट रूप से सुन सकते थे कि 'सुर' (स्वर-सज्जा) जैसे विविध प्रकार की कथाएँ कह रहे है।"

गुरुदेव ने यह स्वीकार करते हुए कि 'वाल्मीकि प्रतिभा' की रचना के समय स्पेसर का अभिमत उपयोगी रहा, कहा है

"स्पेंसर की यह बात मन मे लग गई थी, स्पर्श कर गई थी। मैंने सोचा था कि इस मत के अनुसार पूरा 'सुर' (स्वर-सज्जा) तैयार कर विविध भावो को गान के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान कर अभिनय करने से चलेगा क्यो नहीं ?"

इस नाटक के अधिकांश 'सुर' (धुने, स्वर-सज्जा) देशी राग-रागिनी के अवलम्बन से गठित थे।

" . किन्तु इस गीतिनाट्य में उसे उसकी बैठकी मर्यादा से बाहर अन्य क्षेत्र मे लाया गया है, उडते चलना जिसका व्यवसाय है, उसे जमीन पर दौड लगाने को प्रवृत्त किया गया है। सगीत को इस प्रकार नाट्यकार्य में नियुक्त करना असगत या निष्फल नहीं हुआ। 'वाल्मीकि प्रतिभा' गीतिनाट्य की यही विशेषता है। सगीत के इस प्रकार बन्धन-मोचन और उसे नि संकोच सभी प्रकार के व्यवहार मे लगाने के आनन्द ने जैसे मेरे मन पर विशेष रूप से अधिकार कर लिया था।"

सक्षप में कहा जा सकता है कि इस गीतनाट्य की सहायता से उन्होंने देशी राग-सगीत को विविध वाहनो के रूप में प्रतिष्ठित करने का परीक्षण किया एवं उसे वास्तविक वैचित्र्य भी प्रदान किया। उदाहरणस्वरूप कुछ गान उद्धृत करता हूँ - 'वाल्मीकि प्रतिभा' मे क्रोध का गान—'अहो! आस्पर्धा एकि तोदेर नराधम', रुदन का गान—'हाय की दशा हल आमार', उल्लास का गान—'एइ बेला सबे मिले चलो हो' और विस्मय का गान—'ए की

ए स्थिर चपला' । इसी पद्धति मे पूरा नाटक गानो मे रचित है । श्रवण के विषय को लिखकर समझाना निरर्थक मानकर इस विषय की विस्तृत आलोचना मे मैं प्रवृत्त नहीं हुआ हूँ।

गुरुदेव ने कहा है कि "यह नाटक ऑपिरा नहीं—यह 'सुर' मे नाटिका है, अर्थात् सगीत को ही इसमे प्राधान्य नहीं मिला है, इसके नाट्य विषय को 'सुर' का रूप देकर अभिनय मात्र किया गया है—स्वतत्र सगीत का माधुर्य इसके अल्प स्थलो पर ही है।" इन बातो को लेकर कुछ विचार करने की आवश्यकता है।

यूरोप मे ऑपिरा 'सुर'—प्रधान नाटक था, रचयिता ऑपिरा की कथा या नाटकीय विषयवस्तु की ओर विशेष ध्यान नहीं देते थे। १९वीं शताब्दी के मध्य मे जर्मनी के विख्यात सुरकार, कवि वाग्नर ने इस प्रथा मे परिवर्तन किया। गान या ऑपिरा के स्वर-सयोजन के विषय मे वे कुछ विशेष आदर्श मानकर चलते थे एव उनके बल पर ही वे ऑपिरा-जगत् मे युगान्तर ला सके थे, इसीलिए आज वे सम्मानित हैं। यूरोप के कुछ समालोचको ने इसीलिए उनके सम्बन्ध मे कहा है

"He did give the world a new and perfect form of musical drama He broke completely with older conceptions according to which an opera had been merely an opportunity for a few strong-lunged singers to show how they could juggle their high C's while paying absolutely no attention to the text "

इसीलिए इस विशेष पद्धति के ऑपिरा का उस देश के समालोचको ने नया नामकरण कर कहा है · 'Music Drama' । वाग्नर के 'Mucis Mrama' मे स्वर-सयोजन के कुछ मूल तत्त्व उस देश के सगीत-विशेषज्ञ की भाषा मे ही यहॉ उद्धृत करता हूँ। उससे पता चलेगा कि हर्बर्ट स्पेसर ने जिस मतवाद का प्रचार किया था, वह वाग्नर के मतवाद के प्राय समान है

"The abolition of a set form (that is, ending as one began), and the use of any shape that the poem suggested

Absolute unity of the entire work. No division into songs, duets, choruses, with applause between and some times even encores Continuity from beginning to end.

The music is always to interpret the poetry Its entire character is to be dictated by words

'In the wedding of the arts Poetry is the man, Music the Woman'; Poetry must lead, Music must follow', 'Music is the handmaid of poetry'; are a few of wagner's apothegms

Abolition of mere tune and the substitution of a melodie recitative,

called the `Melos'.

Excellence of lıbretto No book ıs fit to be used for the text of an opera unless ıt would make a successful drama by ıtself.

He apparently made musıc express everythıng of whıch ıt ıs capable, when unıted wıth poetıcal and dramatıcaly lıterature."

गुरुदेव ने जिसे "'सुर' मे नाटिका" कहा है, वाग्नर के `Musıc Drama' कहने से ठीक यही बोध होता है। 'कालमृगया' भी ठीक इसी पद्धति की रचना है। 'मायार खेला' के विषय मे उन्होने कहा है कि उसमे नाट्य मुख्य नहीं, गीत ही मुख्य है। 'मायार खेला' उसी प्रकार नाट्य के सूत्र से गानो की माला है। उन्होने कहा है, "जब मैंने 'मायार खेला' लिखा था, तब गान के रस से ही पूरा मन अभिषिक्त था।" इस गीतनाटिका को इतालवी ऑपिरा के समान कहा जा सकता है। सुनते ही समझ मे आ जाता है कि गान-रचना की ओर ही अधिक दृष्टि थी। 'वाल्मीकि प्रतिभा' और 'कालमृगया' के गान विभिन्न जातियो, विभिन्न ढग और विभिन्न रस के अन्य गानो की राग-रागिनियो को लेकर रचित हैं, किन्तु वे राग-रागिनियॉ अभिनय के छन्द, लय, भगिमा मे गाई जाने के कारण बगला गीत-नाटक की दृष्टि से एक आश्चर्यजनक आदर्श की सृष्टि हुई है।

१३४५ बगाब्द (ई १९३८) मे जब शान्तिनिकेतन की छात्राओ द्वारा 'मायार खेला' नृत्य मे अभिनय कराने की बात थी, तब गुरुदेव ने नाटक मे आमूल परिवर्तन किया। कई गानो की उन्होने नए ढग से रचना की। नवीन 'मायार खेला' की रचना पूरी नहीं हुई या यह सम्पूर्ण अभिनीत भी नहीं हुआ, किन्तु गुरुदेव किस लक्ष्य को ध्यान मे रखकर 'मायार खेला' के रूपान्तर मे प्रवृत हुए थे, उस सम्बन्ध मे मैंने पहले ही कुछ आलोचना की है।

जीवन के शेषकाल मे उन्होने रूपान्तरित 'मायार खेला' के गानो की रचना शुरू के 'मायार खेला' के आदर्श से की थी। इसीलिए देखा जाता है कि उन्होने प्रत्येक गान की रचना स्वय सम्पूर्ण रूप मे करने की चेष्टा की थी एव इसके कई गानो को नाटक से अलग कर देने पर भी वे गाए जा सकते हैं।

मैंने पहले ही कहा है कि स्पेसर और वाग्नर का अभिमत यह है कि गान-रचना मे कविता जो बात कह रही है, 'सुर' (स्वर-सज्जा, रागिनी) उसी को मानकर चलता है। गुरुदेव ने भी यौवनकाल मे इस मत के समर्थन मे कहा था, "गान की बात को ही गान के 'सुर' के द्वारा प्रस्फुटित करना सगीत का मूल उद्देश्य है।"

"मैं गान के शब्दो को 'सुर' (स्वर-सज्जा) पर खडा करना चाहता हूँ। मै शब्दो के अन्तर्निहित भावो के प्रस्फुटन के लिए 'सुर' बिठाता हूँ।"

किन्तु विलायती आदर्श से अनुप्राणित होते हुए भी उस समय अपने गानो के स्वर-संयोजन मे उन्होने जो मार्ग अपनाया था, वह उनका अपना मार्ग था।

पाश्चात्य सगीत-रचयिताओ और गुरुदेव मे एक स्थल पर अन्तर दिखाई देता है। गुरुदेव

को हमारे देश के विविध रागो एव रागिनियो तथा उनकी गायन पद्धति प्राप्त हुई थी और उन्होने गीतनाट्य के भावो के अनुसार उनका ही व्यवहार किया है। यूरोपीय सगीत मे राग-रागिनी जातीय किसी सगीत-पद्धति का अर्से से चलन नहीं है। वे स्वरो को विविध रूप मे और विविध छन्द मे मात्र सजाकर उनसे विभिन्न भाव अभिव्यक्त करने का प्रयास करते हैं।

भारतीय सगीत का राग-रागिनी जगत् और उसका विविध प्रकार का गीत-प्रकरण विविध रसाभिव्यजना की दृष्टि से विशेष मूल्यवान् सम्पद है। विभिन्न रागिनियॉ भिन्न-भिन्न ढग से गाते समय जिस विचित्र रस की सृष्टि होतीं है, वह गान-रचना की दृष्टि से विशेष प्रयोजनीय है। हमारा राग-रागिनी-सगीत मन के ऐसे स्तर का प्रकाश है, कि उसे बाह्य जगत् के काम मे लगाना सम्भव प्रतीत नहीं होता था। यह सगीत शान्त रस की साधना करता है, वह बडे गभीर अनुभूति-सापेक्ष रस की साधना है। यूरोपीय उस पद्धति की साधना के पक्षधर हैं या नहीं, विदित नहीं, किन्तु मैं इतना जानता हूँ कि वे अपने दैनन्दिन जीवन के क्षणिक सुख-दु ख-राग-द्वेषपूर्ण रस मे ही आनन्द चाहते है। लगता है कि उस देश के सगीत का मूल तथ्य यही है। गुरुदेव ने हमारे सगीत को इस पथ पर लाना चाहा था, इसीलिए स्पेसर के मत को ग्रहणीय माना था। किन्तु अन्तत वे इस मत को तब ग्रहण नहीं कर सके, जब उन्हे बाद में सगीत के आन्तरिक रस का सन्धान मिला। उस दृष्टि से मैं कहूँगा कि 'वाल्मीकि प्रतिभा' का युग उनका शिक्षानवीशी का युग था, रसानुभूति के युग मे उस समय तक वे पहुँच नहीं पाए थे। इसीलिए १९-२० वर्ष की आयु तक उन्होने अपने काम, अपने लेखन में जिस मतवाद का समर्थन किया था, पचास वर्ष की आयु के आसपास पहुँचकर, रसानुभूति के जगत् मे प्रवेश कर उन्होने कहा, "उस समय मैने जो मत इतने साहस, दर्प के साथ व्यक्त किया था, वह मत ठीक नहीं, यह बात मैं आज स्वीकार करता हूँ।"

किन्तु 'सुर'-संयोजन के इस विलायती आदर्श को उन्होने अपनी लिरिकधर्मी कविता मे भिन्न ढग से ग्रहण किया था, इसीलिए 'सुर' और शब्द के मिलन के माधुर्य को हम निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं। भारतीय राग-रागिनी-सगीत को लिरिकधर्मी हृदयावेग के वाहन रूप मे ही हम देखते हैं। गुरुदेव का कहना है कि कविता जिस प्रकार भाव की भाषा है, सगीत भी उसी प्रकार भाव की भाषा है। अत लिरिकधर्मी भाव-प्रकाश की इन दो भाषाओ को यदि एक साथ मिला सको तो गान का माधुर्य और बढ जाता है। मात्र पाठ करने से मन को जो आनन्द मिलता है, 'सुर' (स्वर-सज्जा, प्रतिमा, रागिनी) मिलने से वह आनन्द और भी गभीर रूप से मन को आकृष्ट करता है। इसका कारण यह है कि 'सुर' का आवेदन शब्द और छन्द के आवेदन से प्रबल है। गान को इस ढंग से सचरित करने से शब्द 'सुर' पर प्रभुत्व करेगे और 'सुर' अनुचर के समान रहेगा, ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता, वरन् दोनो एक होकर समग्र रूप में रस का जो सन्धान देते हैं उसकी तुलना नहीं है।

मैंने आरम्भ मे गुरुदेव के और भी अन्य प्रकार के गीतनाट्य का नामोल्लेख किया था, किन्तु उस नाटक के गानो को लेकर 'वाल्मीकि प्रतिभा' के गानो के समान आलोचना

करने जैसा कुछ है नहीं। वहाँ गानो को नाटक से अनायास अलग करके भी उनके रस का उपभोग किया जा सकता है। इन सब गानो के 'सुर' के सम्बन्ध मे अन्यान्य गानो के समान ही आलोचना करना उचित है। इसी से उसका यथार्थ रूप प्रकट होगा।

किन्तु उनके जीवन मे 'चित्रागदा', 'श्यामा', 'चण्डालिका' गीतनाट्य इस श्रेणी मे नहीं आएँगे। ये 'वाल्मीकि प्रतिभा' के समान पूर्णाग गीतनाट्य अवश्य है, किन्तु 'वाल्मीकि प्रतिभा' के समान 'सुर मे नाटिका' या 'मायार खेला' के समान केवल गीतप्रधान नाटिका भी नहीं है। ये नृत्यनाट्य हैं, जो नाच को ध्यान मे रखकर लिखे गए। नाच के कारण इस नाटक के गान मे निर्धारित छन्द की दोलायमान अवस्था की ओर भी ध्यान रखना पडा है। अर्थात् गानो को अधिकतर निर्धारित छन्द मे गाया जाता है। साधारण उत्तर-प्रत्युत्तर के अश भी इस प्रकार निर्धारित छन्द के बन्धन मे आ गए है। इस अवस्था मे भी उन्होने जिस प्रकार का वैचित्र्य प्रदर्शित किया है वह यह है कि नाटक के पात्रो के सम्पूर्ण वक्तव्य के माध्यम से जो भाव प्रकट हो रहा है, रागिनी और ताल की गति उसी को ध्यान मे रखकर चलती है। निर्धारित छन्द हाते हुए भी गुरुदेव ने छन्द की गति भाव के अनुकूल करने की चेष्टा की है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि राग-रागिनी मे ग्रथित इस नाटक की कथा नाच के उद्देश्य से छन्द या ताल मे निबद्ध होते हुए भी 'वाल्मीकि प्रतिभा' के समान 'सुर मे नाटिका' की मर्यादा इसने पाई है। फिर भी इन सब नाटिकाओ मे सवाद के छन्द का वे पूर्णतया वर्जन नही कर सके, कहीं-कही इस पद्धति को रखना पडा है।

भारतीय राग-रागिनी के अन्तर्निहित रस-रूप की अनुभूति गुरुदेव के अन्तर मे प्राचीन भारत के अन्यान्य सगीतसाधको के समान किस प्रकार हुई थी, उसका प्रमाण उनके गीतनाटको के 'सुर' मे मिल जाता है। गतानुगतिक अभ्यास के अनुसार राग-रागिनी का भाव-रूप जिस प्रकार हमारे समक्ष प्रकट होता है, गुरुदेव की सर्जन-दक्षता से गीतनाट्य मे उसने और एक रूप ग्रहण किया है एव गीतनाट्य मे उसका विकास और भी परिस्फुट है। गीतनाट्य के गान हिन्दी राग-रागिनी के अवलम्बन से ही गठित है। ऐसा नहीं कि यह रचना मात्र किसी एक असम्भव मिश्रण द्वारा सार्थक हुई है, इन सब नाटको मे रागिनी या 'सुर' और शब्द को लेकर खेल किया गया है। निपुण शिल्पी के समान गुरुदेव ने 'सुर' और शब्द को लेकर अद्भुत कारीगरी की है, उन्हे विविध रूप में विचित्र रंगो मे सजाया है। जापान मे फूल सजाने की शिक्षा दी जाती है। वृक्ष से डालीसह फूल काटकर उस देश के निपुण शिल्पी बडे यत्न से विविध छन्द-भगिमा मे फूलदान मे फूल सजाते हैं। इस नाटक के गानो मे विभिन्न राग-रागिनियाँ इसी प्रकार प्रयुक्त हुई है। किस सवाद के साथ कौन-सी राग-रागिनी किस प्रकार सजाने पर सही अर्थ मे सुन्दर लग सकती है, उसी का प्रकाश इसमे दिखाई देता है।

इस गीतनाटक के गान के ताल या छन्द मे भी उन्होने अपनी प्रतिभा को बिलकुल ही खर्व नहीं होने दिया। जो छन्द जिस भाव के संवाद के साथ मेल खाता है, उस छन्द का ही उन्होने विशुद्ध रूप से व्यवहार किया है, क्योकि छन्द का भी एक निजस्व भावयम रूप है। छन्द का इधर-उधर निरर्थक ढग से उन्होने कभी व्यवहार नहीं किया। छन्द

के वेग के साथ मनुष्य के मन के उतार-चढाव का घनिष्ठ योग है। वह योगसूत्र गीत-रचयिता के समक्ष सुस्पष्ट हुए बिना गान-रचना कभी सार्थक नहीं होती। छन्द के इस तत्त्व के सम्बन्ध मे गुरुदेव की अभिज्ञता बहुत गभीर थी, इसीलिए वे निपुण शिल्पी के समान उसका व्यवहार गीतनाट्य मे कर सके थे।

गीतनाट्य के विषय मे मैंने जो कुछ कहा है, गान के उदाहरण के साथ उसे न दिखा सकने पर इन सब बातों का आधा अश भी समझाना सम्भव नही होगा। जो इन गीतनाट्य के गानो से परिचित हैं, वे ही इस बात का तात्पर्य समझ सकेगे। इन गानो को आरम्भ कर 'सुर', ताल और भाव मे परिवर्तन के साथ समाप्त किया जाता है, आरम्भ करने पर बीच मे रुकना मुश्किल है। साधारण गानो के समान गाने पर सब बेकार हो जाएगा। जहॉ जिस शब्द मे जो भाव प्रकट होता है, उस भाव को 'सुर' की सहायता से गले से प्रस्फुटित करना होगा।

इन कुछ गीतनाट्यो मे 'चित्रागदा' के जिन अशो पर गान की 'सुर'-हीन आवृत्ति के साथ नृत्यभगिमा मे अभिनय किया जाता है, वे अश भी उल्लेखयोग्य हैं। यह सभी जानते हैं कि आवृत्ति का छन्द और गान का छन्द एक ही नियम से नहीं चलते, किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आवृत्ति के छन्द मे अभिनय करना अच्छे नर्तक के लिए ही सम्भव है। यूरोप मे नर्तको-नर्तकियो ने इस प्रकार का प्रयास किया है। गुरुदेव की कविता 'झूलन' की आवृत्ति के साथ नृत्याभिनय भारतीय नृतयजगत् की एक उल्लेखयोग्य नवीन परीक्षा है। आवृत्ति-पद्धति या 'वाल्मीकि प्रतिभा' की गान-पद्धति मूलत एक है। किनतु 'चित्रागदा' के आवृत्ति-अंश मे राग-रागिनी नहीं रही, नाच हुआ, और 'वाल्मीकि प्रतिभा' मे 'सुर' मे आवृत्ति हुई, नाच नहीं हुआ। इस प्रकार आवृत्ति का छन्द रखते हुए नाच में अभिनय करना सम्भव देखकर हमने कुछ वर्ष पूर्व 'वाल्मीकि प्रतिभा' को नृत्याभिनय का रूप देने की चेष्टा की थी, एवं इस नाटिका की गायकी को न बदलते हुए उसके साथ नाच मे अभिनय की परीक्षा मे हम सफल हुए हैं।

मेरा विश्वास है कि यदि 'वाल्मीकि प्रतिभा' और 'कालमृगया' को नाच की सहायता से सम्पूर्ण अभिनययोग्य बनाया जाए, तो भारतीय नृत्यजगत् का एक नया द्वारा खुलेगा। इसके माध्यम से नृत्यनाट्य या गीतनाट्य का जो रूप सामने आएगा, वही पूर्व और पश्चिम के वास्तविक मिलन का रूप होगा, यथार्थ मे एक नवीन सृष्टि होगी। इसका प्रारम्भिक कार्य गुरुदेव ने शुरू किया था। वे हमे इस काम का सूत्र दे गए हैं। भारतीय गीतनाट्य या नृत्यनाट्य के जगत् मे युगान्तरकारी सृष्टि करने के लिए हमे गुरुदेव द्वारा निर्देशित मार्ग का अवलम्बन करके ही अग्रसर होना होगा—इस पथ को अपनाने मे भारतीय नृत्य के नव-नव विकास की प्रचुर सम्भावनाएँ निहित हैं।

गीतनाट्य का वैचित्र्य

प्राचीन गुणी नाटक को 'दृश्यकाव्य' कहते थे, इसका एक और नाम था 'रूपक'। वर्तमान काल मे हम 'रूपक' शब्द का जिस अर्थ मे व्यवहार करते हैं, उस अर्थ मे वे इसका व्यवहार नहीं करते थे। गठन के तारतम्य के अनुसार इस रूपक को दो भागो मे विभक्त कर उन्होने एक भाग को कहा 'रूपक' और दूसरे को कहा 'उपरूपक'। 'रूपक' और 'उपरूपक' को भी उन्होने विभाजित किया और बताया कि 'रूपक' दस प्रकार के हैं और उपरूपक अठारह प्रकार के। इन अठारह (१८) प्रकार के उपरूपको मे कुछ इस युग मे वे ही हैं जिन्हे हम गीतनाट्य या नृत्यनाट्य कहते हैं। 'रूपक' और 'उपरूपक' का व्यापक विकास मुसलमान-पूर्व युग मे ही अधिक हुआ। मुसलमान युग मे उसकी अवनति हुई एव अग्रेज-युग के साथ-साथ हम इनका व्यवहार भूलने लगे। अत हमारी धारणा है कि उस 'रूपक' और 'उपरूपक' का हूबहू नमूना आज भारत मे प्रचलित नहीं है, किन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि सब प्रकारो का प्रचलन न होते हुए भी कुछ-कुछ नमूने विभिन्न प्रदेशो मे प्रच्छन्न रूप मे प्रचलित हैं।

यहॉ यह बता देना आवश्यक है कि गीतनाट्य अर्थात् गान-बहुल नाटक की बात ही मैं कर रहा हूँ, लिरिक नाट्य की नहीं।

दृश्यकाव्य अर्थात् 'रूपक और उपरूपक' की ठीक आलोचना करने पर समझा जाता है कि जितनी प्रकार की पद्धतियो मे अभिनय हो सकता है, उस दृष्टि से किसी प्रकार की चेष्टा मे त्रुटि प्राचीन गुणियों मे नहीं थी। प्राचीन नियम के अनुसार सब प्रकार के उपरूपको मे नाच या नाच के अभिनय का विशेष प्राधान्य था। नाच के बिना उपरूपक अभिनीत होगा, यह बात हमारे पूर्वपुरुष जैसे सोच भी नहीं सकते थे। इस कारण ही हमारे देश के प्राचीन सभी प्रकार के उपरूपको या गीतनाट्यो के गानमात्र के साथ नाच मे अभिनय किया जाता था—जो आज भी होता है। सम्भवत इसीलिए प्राचीन पडितो ने संगीत की व्याख्या करते हुए कहा है—नाच, गान और वादन जहॉ एक रूप मे मिश्रित हुए हैं, उसी को 'सगीत' कहा जाता है।

प्राचीन भारत मे गान और नाच को गीतनाट्य मे इतना बडा स्थान क्यो दिया गया, यह सोचने का विषय है। हृदयावेग हम साधारण भाषा मे जितने सुन्दर ढग से अभिव्यक्त कर सकते हैं, कविता के छन्द मे वह और भी सुन्दर बन पडता है, रागिनी मे निबद्ध गान का रूप लेने पर वह अधिक मर्मस्पर्शी हो जाता है। नाटक में साधारण भाषा के साथ अभिनय अच्छा अवश्य लगता है, किन्तु जब उस भाषा को 'सुर' के माध्यम से सुनते हैं

तो वह अभिनय और भी अच्छा लगता है। मन को सर्वाधिक आकृष्ट तब करता है, जब वह देहछन्द की नृत्यभगिमा मे रूप लेता है। इसीलिए भारतीय आदर्श के अनुसार गान के बिना नाच नहीं है, पुन , गान जहॉ है वहॉ नाच होगा ही। वर्तमान काल मे देश मे उपरूपक या गीतनाट्य किस प्रकार का है, अब उसका परिचय दिया जाए।

जिस नाटक मे अभिनेता-अभिनेत्री के सवादो के बीच-बीच मे प्रचुर गान हो, वह एक प्रकार का गीतनाट्य है। दक्षिण भारत के कर्नाटक-प्रदेश मे प्रचलित 'यक्षगान' नामक प्राचीन नृत्याभिनय मे उसका परिचय मिलता है। बगाल के गत युग के यात्राभिनय मे एव गुरुदेव द्वारा रचित 'शारदोत्सव', 'फाल्गुनी', 'अचलायतन', 'तासेर देश' प्रभृति गीतनाट्य ठीक यक्षगान के समान न होते हुए भी उनमे गान का प्राधान्य है। इन सब नाटको के गान सुनकर स्पष्ट समझा जाता है कि नाटक मे केवल सुर-माधुर्य के लिए ही गान नहीं रखे जाते, बल्कि सामान्य भाषा मे जो भाव स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त नहीं होते, गानो द्वारा उस अभाव की पूर्ति की जाती है। कहना न होगा कि प्राचीन नाटक के साथ अभिनय-पद्धति मे यथेष्ट पार्थक्य अवश्य है।

और एक प्रकार का गीतनाट्य है, जिसमे अभिनेता-अभिनेत्री साधारण भाषा मे सवाद नहीं बोलते। एक सूत्रधार नाटक की घटना और विषयवस्तु को साधारण भाषा मे दर्शको के समक्ष स्पष्ट करता है, अभिनेता केवल गानो के साथ अभिनय करते है। एक समय था जब सूत्रधार ही नाच मे, गान मे, सवाद मे, सभी मे प्रधान अश ग्रहण करता था। सूत्रधार परिचालित गीतनाट्य के साथ आसाम के वैष्णव-सम्प्रदाय के 'अकियानाट' नाटक, बगाल के प्राचीन और अधुना अप्रचलित 'कालीय दमन' यात्रागान, दक्षिण भारत के आन्ध्रप्रदेश मे प्रचलित 'कुचिपुडी' ब्राह्मणो के अभिनय एव गुरुदेव के 'शापमोचन' और 'शिशुतीर्थ' गीतनाट्य-पद्धति का काफी मेल है।

गुरुदेव द्वारा रचित 'वसन्त', 'ऋतुरग', 'नवीन' और 'श्रावणगाथा' और एक पद्धति के गीतनाट्य हैं। कुछ पूर्णांग गानो की बात सोचकर ही नाटक का परिवेश तैयार किया गया है। गानो को एक मूल भावसूत्र मे ग्रथित कर दर्शकों के सामने रखने की इच्छा से ही यह नाटकीय आयोजन है। यहॉ कहानी के लिए नाटक नहीं, गानो को सजाने के लिए नाटक है।

एक पद्धति का गीतनाट्य है जिसका शुरू से अन्त तक समस्त कथोपकथन रागिनियो मे निबद्ध है। यूरोप मे इस पद्धति के नाटक का प्रचलन बहुत अधिक है। उनकी भाषा मे इसे 'ऑपेरा' कहा जाता है। इस पद्धति का पूर्णांग गीतनाट्य दक्षिण भारत के केरल और तमिलो मे आज भी प्रचलित है। गुरुदेव ने स्वय इस पद्धति के कुल छह गीतनाट्य की रचना की थी, यौवनकाल मे तीन, जीवन के अन्तिम दस वर्षो मे बाकी तीन। अर्थात् गुरुदेव के जीवन मे नाटक-रचना का आरम्भ गीतनाट्य से हुआ, नाटक-रचना की समाप्ति भी की गीतनाट्य से। नाटको के नाम हैं—'वाल्मीकि प्रतिभा', 'कालमृगया', 'मायार खेला', 'चित्रागदा', 'श्यामा' और 'चण्डालिका'।

अत देखा जाता है कि गुरुदेव ने कुल मिलाकर छह प्रकार के गीतनाट्य की रचना

की थी, प्रथम वर्ग मे हैं 'वाल्मीकि प्रतिभा', 'कालमृगया' और 'मायार खेला'। द्वितीय वर्ग मे हैं 'अचलायतन', 'शारदोत्सव', 'फाल्गुनी', 'अरूपरतन' और 'तासेर देश'। तृतीय वर्ग मे है 'वसन्त', 'श्रावणगाथा'। चतुर्थ वर्ग के गीतनाट्य हैं 'ऋतुरग', 'सुन्दर' और 'नवीन'। पचम वर्ग मे है 'शिशुतीर्थ' और 'शापमोचन'। और अन्तिम अथवा षष्ठ वर्ग मे है 'चित्रागदा', 'श्यामा' और 'चण्डालिका'।

प्रथम वर्ग के गीतनाट्य ऑपेरा के आदर्श से रचित है। 'शारदोत्सव' प्रभृति नाटको की रचना प्रचलित यात्रा के आदर्श से की गई। 'वसन्त', 'श्रावणगाथा' पूर्ण गीतनाट्य होते हुए भी इस पद्धति के पहले के गीतनाट्य के समान बिलकुल नहीं है। वसन्त या वर्षाऋतु के कुछ लिरिक गानो को एक मूल भावसूत्र मे सजाकर गानो को कभी साधारण अभिनय-भगिमा मे, कभी नाच की भगिमा मे रूप देने की चेष्टा की गई है। एक के बाद एक गान के साथ भावगत योग कायम करने के लिए राजसभा सजाकर नाटकीय परिवेश की रचना की गई। राजा, मत्री, सभासदो सहित जैसे ऋतु-उत्सव मे बैठे हैं। राजा, राजकवि, नटराज इत्यादि के परस्पर सवाद के माध्यम से एक गान से अन्य एक गान का योग प्रस्थापित किया गया है। 'ऋतुरग' और 'नवीन' प्राय एक ही है, ऋतुओ के गान ही यहॉ मुख्य हैं, किन्तु राजसभा इनमे नहीं है। गुरुदेव स्वय गान, आवृत्ति, पाठ मे प्राचीन नाटक के सूत्रधार के समान एक गान के साथ अन्य गान के योगसूत्र की रचना कर गए थे। इसकी पृष्ठभूमि में कोई कहानी नहीं है। 'शिशुतीर्थ' और 'शापमोचन' गीतनाट्य उपरोक्त किसी गीतनाटक के समान नहीं हैं। इन दो नाटको की कहानियो को ठीक कर उनके भावो से मेल खानेवाले पूर्व-रचित कई गान कहानी की गति कायम रखने के उद्देश्य से इनमे बिठा दिए गए थे। गुरुदेव प्राचीन सूत्रधार के समान बीच-बीच मे कहानी साधारण भाषा मे पढ कर सुनाते थे। अतिम गीतनाट्य—'चित्रागदा', 'श्यामा' और 'चण्डालिका' पूर्णाग गीतनाटक हैं, गानो मे ही पूरे सवाद हैं, किन्तु अभिनेता गान नहीं गाते, वे नाच की भगिमा मे अभिनय करते चलते हैं। गायक-दल रगमच के पीछे बैठकर गायन करते हैं। किन्तु 'चित्रागदा' मे कुछ आवृत्तियॉ हैं, जो कहानी के एक भाव का अन्य भाव के साथ सम्बन्ध स्थापित करती हैं।

गुरुदेव के जीवन मे कुछ कला-सृष्टि स्वत -प्रवर्तित, स्वत -स्फूर्त थीं। इस प्रकार की कलासृष्टि ने कभी रूप लिया, कभी लुप्त हो गई। वे सब जैसे गुरुदेव के अन्तरतर के अन्य किसी मानव की सृष्टि थीं, गुरुदेव उपलक्ष्य के समान थे। वे शिल्प हैं कविता, गान और छवि। उनका अन्य सभी सर्जन इस प्रकार स्वत -प्रवर्तित नहीं है, बाहर के तकाजे के कारण उनकी रचना हुई है। प्राय सभी गीतनाट्य या नृत्यनाट्य इसी प्रकार के बाहर के तकाजे के कारण रचित हैं।

यौवनकाल मे जोडासॉको निवास पर 'विद्वज्जन-समागम' सभा के प्रयोजन से उन्होने 'वाल्मीकि प्रतिभा' और 'कालमृगया' लिखे। 'सखी समिति' की माग को ध्यान मे रखकर 'मायार खेला' लिखना पडा। शान्तिनिकेतन के विद्यालय मे छात्रो एव छात्राओ की सर्वागीण शिक्षा की सहायता की दृष्टि से गुरुदेव ने 'शारदोत्सव' से शुरू कर कई गीतनाट्य और

नृत्यनाट्य लिखे। 'वाल्मीकि प्रतिभा' और 'मायार खेला' के समय मे नाच नहीं था, इसीलिए नृत्य की सहायता से अभिनय प्रस्तुति का प्रयास नही किया गया। उस समय मे साधारण भगिमा मे अभिनय करने की ही प्रथा थी, इसीलिए गान के साथ अभिनय किया गया। 'शारदोत्सव' से 'फाल्गुनी' तक शान्तिनिकेतन मे बालको का युग था। इसी कारण उस समय उन्होने नारीवर्जित गीतनाट्य ही लिखे। इनके गानो मे सहज छन्द की अगभगिमा थी, उसे कुशलता से निष्पन्न नाच नहीं कहा जा सकता। जबसे शान्तिनिकेतन मे युवतियो का प्रवेश शुरू हुआ एव नाच की शिक्षा शुरू हुई, तबसे गान के साथ नृत्य मे अभिनय का प्रयास देखा गया। वह नाच जब अधिक उन्नत हो गया, तब पूर्णाग गीतनाट्य उपयुक्त लगने के कारण नृत्यनाट्य ने रूप लिया। मूलत उन्होने अपने जीवन के यौवनकाल मे गीतनाट्य रचना की जो अभिज्ञता प्राप्त की थी, वही गीतनाट्य विविध प्रकार की अभिव्यजना के माध्यम से नाच के युग मे नृत्यनाट्य मे परिणत हुआ है। पूर्णाग गीतनाट्य रचना की प्रेरणा उन्हे प्रथम बार ऑपेरा-सगीत से मिली थी। शान्तिनिकेतन के जीवन मे गीतनाट्य की रचना अपने स्वतत्र रूप मे हुई। जीवन के शेषकाल मे उन्होने बीते जीवन की अभिज्ञता का आधार लेकर और यहाँ के नृत्य-अनुशीलन की सुविधा के लिए नृत्यनाट्य की रचना की है।

गुरुदेव के पूर्णाग गीतनाट्य या नृत्यनाट्य उनकी सगीत-प्रतिभा का एक बडा पक्ष है। इस मार्ग पर वे बगाल मे अद्वितीय हैं। गुरुदेव के जीवनकाल मे बगाल के अन्य किसी सगीतकार को इस क्षेत्र मे सक्रिय होते नहीं देखा गया। गीतनाट्य की रचना मे सृष्टि-क्षमता की जो आवश्यकता है, सम्भवत वह अन्य किसी मे नहीं थी। गुरुदेव यदि अन्य प्रकार के गान न लिखकर केवल इन गीतनाट्यों की रचना ही कर जाते, तो 'सुर' स्रष्टा के रूप मे बगाल मे वे श्रेष्ठत्व का आसन प्राप्त करते। ये गीतनाट्य बगाल के इस युग के सगीत-जगत् में युगान्तरकारी सृष्टि हैं।

नृत्यनाट्य का अभिनय

गुरुदेव के नृत्यनाट्य पर अग्रेजी भाषा मे लिखित एक प्रबन्ध देखने मे आया। लेखिका स्वय एक गुणी नृत्यागना हैं एव उन्होने गुरुदेव का आशीर्वाद भी पाया है। किन्तु देखा जाता है कि गुरुदेव के नृत्यनाट्य विषय मे उनका लिखित अभिमत गुरुदेव के चिन्तन और कर्म के साथ बिलकुल मेल नहीं खाता। मैं समझता हूँ कि उनके इस लिखित अभिमत को लेकर कुछ विवेचन की आवश्यकता है। लेखिका लिखती हैं

"In Chitrangada, the Manipuri technique appeared at its best "

'श्यामा' नृत्यनाट्य के सम्बन्ध मे उनका मत है

"Apart from the group dances which are generally in the Manipuri style, we find Bajrasena dancing in Bharat-Natyam and Kathakali style, the watchman rendering their part in Kathakali technique while Uttiya exhibited his proficiency in the Kathaka style To some, this exhibition of the three techniques in one play is a great achievement For me, however, they seem to be artificially pushed in, disturbing the atmosphere of Tagore's play Imagine the dance of the guards jumping and dancing all over the stage preparing to kill Uttiya, who is silently waiting for the last moment of his life Then again, imagine the character of Uttiya a dreamer, a sensitive youth filled with the youthful joy of his love for shyama dancing in the technicalities of Kathak styles to me Tagore's dramas and characters–the whole atmosphere of his plays–have an aesthetic appear and cannot form a platform for exhibition of various techniques "

यहाँ उन्होने अपना मतामत व्यक्त करते हुए खुले रूप मे गुरुदेव की चिन्तनधारा या कार्यपद्धति को अस्वीकार किया है, जिसे वे सम्भवत समझ नहीं सकी हैं।

पहले ही यह बता देना आवश्यक है कि गुरुदेव के नृत्यनाट्य यद्यपि नाच के आगिकाभिनय के लिए थे, किन्तु इन नाटको के माध्यम से वे जिस रस की अभिव्यजना चाहते थे, वही उनका मुख्य पक्ष था। नृत्य की सहायता से जो वह अभिनय करेंगे, उनका मुख्य काम उस नाटकीय रस को यथासम्भव दर्शको के समक्ष परिस्फुट करने का प्रयास करना होगा। इन सब नाटको के नर्तक व्यक्तिगत रूप से कितने बडे नर्तक हैं या वे

नृत्याभिनय मे कितने दक्ष हैं, यह बडी बात नहीं है। यहाँ देखने, या परिलक्षित करने की बात यह होगी कि छोटे-बडे सभी मिलकर समग्र नाटक के रस को ठीक ढग से प्रस्फुटित कर सकते हैं या नहीं।

इस प्रकार का एक आदर्श सामने रखकर ही शुरू से आखिर तक गुरुदेव का काम चलता आ रहा है। नृत्यनाट्य के समय भी देखा गया है कि गुरुदेव के अपने नृत्यनाट्य के लिए या अपने गानो के साथ नाच के लिए आवश्यकतानुसार जिस पद्धति के नर्तक या नर्तकियाँ उपलब्ध हुई हैं, उसका ही उन्होने अपने नृत्यनाट्य मे या अपने गानो के नाच के लिए व्यवहार किया है, किन्तु उनका ध्यान सर्वदा इस बात पर रहता था कि नाच मे प्रयुक्त तकनीक कोई भी हो, नृत्यनाट्य या गान के रस की निष्पत्ति का भार उन पर पडा है और उसकी ठीक अभिव्यजना हो रही है या नहीं।

ई १९२६ मे 'नटीर पूजा' मे श्रीमती का नाच मणिपुरी शैली मे रचित हुआ। उस नाच ने उस समय प्रत्येक दर्शक का मन आकृष्ट किया था। किन्तु ई १९३१ मे गुरुदेव के ७०वे जन्मोत्सव के समय पुन 'नटीर पूजा' के अभिनय की जब बात उठी, तब गुरुदेव ने निर्देश दिया कि श्रीमती के नाच की रचना पूर्णतया नए ढग से की जाए। इस बार ही पहली बार मणिपुरी शैली के साथ कथकली शैली का मिलन हुआ। नए ढग से रचित इस नाच का गुरुदेव ने अनुमोदन किया और इसे कलकत्ता के रगमच पर भी दिखाया गया। नाच नवीन पद्धति से रचित होते हुए भी गान के भावो के साथ उसका मेल बैठा था, इसीलिए गुरुदेव ने उसका समर्थन किया था। नवीन तकनीक मे रचित होते हुए भी वह भाव का अनुगत था।

ठीक इसी समय कलकत्ता मे 'शापमोचन' का मचन हुआ। राजा के रूप मे एक विदेशी–रूसी लोकनृत्यविशारद ने नृत्य मे अभिनय किया था। उन्होने रूसी लोकनृत्य-पद्धति मे ही अभिनय किया था एव गुरुदेव के आग्रह पर ही यह सम्भव हो सका था। उस पद्धति मे 'शापमोचन' के राजा का अभिनय किसी को भी अशोभन नहीं लगा, क्योकि वे नाटक के रस की अभिव्यजना मे सफल रहे थे। किन्तु उसके बाद यह 'शापमोचन' नृत्यनाट्य भारत के विभिन्न अचलो और सिहलदेश मे कई बार अभिनीत हुआ है। राजा की भूमिका का तब निर्वाह पूर्णतया देशी धारा की नृत्यपद्धति मे हुआ है, किन्तु गुरुदेव ने उस अभिनय की भी प्रशसा की है। उन्होने जो चाहा था, वह उस नृत्यपद्धति के माध्यम से मिल गया।

ई १९३१ मे 'झूलन' नामक कविता की आवृत्ति के साथ श्रीमती ठाकुर ने पहली बार नाचकर दिखाया। गुरुदेव ने स्वय उस नाच के साथ आवृत्ति की। नाच की रचना यूरोप की नवीन धारा के प्रभाववादी (impressionist) नाच की पद्धति मे की गई थी। कविता की आवृत्ति के साथ इस पद्धति का नाच बगाल मे पहला था। इस नाच को देखकर सभी मत्रमुग्ध हो गए थे। ई १९३६ मे कलकत्ता के रगमच पर 'झूलन' कविता की आवृत्ति के साथ और एक बार नृत्याभिनय हुआ। इस बार भी गुरुदेव ने स्वय आवृत्ति की थी। जिस बगाली कलाकार ने नृत्य किया था, गुरुदेव ने उसके साथ आवृत्ति कर उसे तैयार किया था। वह नाच सिंहल देश की कैण्डी नाच-पद्धति मे तैयार किया गया था। उसमे

भारतीय शैलियों, यथा मणिपुरी और कथकली की सामान्य झलक थी। गुरुदेव इस नाच से इसलिए खुश हुए थे कि कविता के भाव के साथ नाच का सामजस्य था।

ई १९३८ मे 'श्यामा' नृत्यनाट्य मे प्रथम बार कथक नृत्य का समावेश हुआ। एक अबगाली छात्रा आशा ओझा, जो कथक नृत्य मे दक्ष थी, उस समय शान्तिनिकेतन मे थी। उसका नाच देखकर गुरुदेव खुश हुए एव गुरुदेव की इच्छानुसार ही उसे उत्तीय की भूमिका करने के लिए कहा गया। इस छात्री ने कथक नृत्य-पद्धति मे उत्तीय चरित्र का अभिनय किया और सभी को मुग्ध किया। गुरुदेव स्वय भी उसके नृत्य और अभिनय से बहुत खुश हुए थे। कथक नृत्य का इस दर्जे का उपयुक्त शिल्पी शान्तिनिकेतन मे आशा के बाद और कोई नहीं था, इसीलिए इसके बाद गुरुदेव की नृत्यधारा मे इस नृत्य का व्यवहार नहीं किया गया।

ई १९३६ मे पहली बार जब 'चित्रागदा' अभिनीत हुआ, तब उसमे मणिपुरी-पद्धति की प्रधानता थी। उसके साथ कथकली और लोकनृत्य की कुछ भगिमाएँ मिलाई गई थी। किन्तु बाद में कथकली का उपयुक्त शिक्षक मिल जाने के पश्चात् अर्जुन की भूमिका मे अन्यान्य नृत्य-शैलियों के साथ कथकली नृत्य-पद्धति को कुछ अधिक प्रधानता मिली। अन्यान्य नारी-चरित्रो मे अनेकश उस पद्धति का प्रभाव कुछ अधिक बढ गया। इस प्रकार के कई बार के परिवर्तन गुरुदेव की सम्मति से ही हुए है। इस प्रकार के और भी कई निदर्शन हैं, किन्तु उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। उपरोक्त कुछ घटनाओ से यह स्पष्ट समझा जाता है कि नाच की कोई भी तकनीक गुरुदेव के नृत्यनाट्य के लिए अशोभन नहीं, यदि उस नाच मे भावाभिव्यजना की क्षमता है। यह है गुरुदेव का मत। विविध छन्दोबद्ध नृत्य का भी उसमे समावेश होता है, किन्तु वह भावानुयायी होना चाहिए। केवल नृत्यछन्द मे दक्षता दिखाने के उद्देश्य से भावप्रकाश के विपरीत किसी भी नृत्यभगिमा को उनके नृत्यनाट्य मे स्थान नही मिला। गुरुदेव के नृत्यनाट्य मे अन्यान्य क्लासिकल नाच के समान भावहीन नृत्यछन्द की पारदर्शिता दिखाने का प्रयास नहीं रहता, इसलिए कुछ लोग उसे गुरुदेव के नृत्यनाट्य का एक बडा अभाव मानते हैं, यह दु ख की बात है।

१३६५ बगाब्द (ई १९५८)

मन्त्रगान

'सुर' के राज्य मे विचरण करने की क्षमता गुरुदेव की कितनी सहज थी, सस्कृत मंत्रो के स्वर-सयोजन से उसका प्रमाण उन्होने दे दिया है। काशी के पंडित जिस ढग से सस्कृत मत्रो की आवृत्ति करते हैं, उसे सभी ने सुना होगा। गुरुदेव स्वय भी आवृत्ति के समय उसी पद्धति का अवलम्बन करते थे। यह आवृत्ति केवल तीन 'सुरो' मे ही होती है। इस 'सुर' को किसी रागिनी रूप मे नहीं माना जा सकता। भावभगीगीतादि के साथ वेदपाठ के समय पाठक सस्कृत मत्रो की 'सुर' मे आवृत्ति करते हैं, उसकी भी परिधि कम है। बडे हिन्दुस्थानी गायक को ध्रुपद की रागिनी और ताल मे सस्कृत-मंत्र गाते सुना है। कीर्तन मे भी धारा परिलक्षित हुई। सामवेद की प्राचीन प्रथा से मत्रगान के नियम आज भी दक्षिण भारत मे प्रचलित है।

गुरुदेव ने सामाजिक उपासना मे व्यवहार के उद्देश्य से प्रथम बार निम्नलिखित कुछ वेदमत्रो को 'सुर' मे बिठाया था, इसके पूर्व उनके पिता और अन्यो ने भी मत्रो को गान का रूप दिया था

'तमीश्वराणां परमं महेश्वर', 'यदेमि प्रस्फुरन्निव धृतिर्नध्नातो', 'य आत्मादा बलदा यस्यविश्व', 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा ', 'सगच्छध्वम् सवदध्वम्' और 'ऊषो वाजेण वाजिनि प्रचेता'।

इन मत्रो मे पहले पॉच मत्रों को गुरुदेव ने यमन-भूपाली मिश्रित रागिनी में निबद्ध किया था और अन्तिम को भैरवी मे। किन्तु गान के समान ताल मे निबद्ध कर इनकी गति की स्वाधीनता खर्व नही की। इन मत्रो के ह्रस्व-दीर्घ स्वरो के नियमो का पालन करते हुए मत्रपाठ के समय जो छन्द बनता है, उसी छन्द के अनुसार रागिनी का सयोजन किया गया है। सुनने मे सम्भवत यह कुछ-कुछ हिन्दी गान के आलाप के समान लगेगा, किन्तु 'सुर' के गठन मे विदेशी चर्च-सगीत का स्पष्ट रूप से अनुभव किया जाता है।

इसके बाद 'नटीर पूजा' और 'चण्डालिका' नाटको के लिए उन्होने पॉच मत्रो को स्वरबद्ध किया

भैरवी

ॐ नमो बुद्धाय गुरवे
नमो धर्माय तारिणे
नम सघाय महत्तमाय नम।

बिहाग

नमो नमो बुद्ध दिवाकराय
नमो नमो गोतम चन्दिमाय
नमो नमो नन्त गुणन्नवाय
नमो नमो साकिय नन्दनाय।

काफी

उत्तमगेन वन्देह पादपसु-वरुत्तम
बुद्धे यो खलितो दोसो बुद्धो खमतु त मम ॥

मिश्र रामकली

नत्थिमे सरण अञ ञ बुद्धो मे सरण वर
एतेन सच्चवज्जेन होतु मे जय मगल ॥

मिश्र रामकली

बुद्धो सुसुद्धो करुणा महान्नवो
यो चन्त सुद्धव्वरञान लोचनो
लोकसस् पापुपकिलेस घातको
वन्दामि बुद्धम् अहमादरेण त ॥

इन मत्रो को जिस प्रकार स्वरबद्ध किया गया है, उसमे पूर्वोक्त मत्रो के समान धीर, गाम्भीर्य नहीं है, इनमे आवेगमय कोमल करुणता प्रस्फुटित हुई है। बुद्ध के वदना-गान के हिसाब से मत्र अत्यन्त प्राणस्पर्शी हुए हैं। गुरुदेव ने अन्तिम बार वेद के उषा-स्तव को 'सुर' मे निबद्ध किया। इस गान के सम्बन्ध मे मैंने अन्यत्र लिखा है।

पहले जिन वैदिक मत्रो का उल्लेख मैंने किया है, वे कलकत्ता के सभी ब्राह्मसमाज मे विशेष प्रचलित हैं, कहीं गान के 'सुर' मे, कहीं साधारण मत्र के समान पाठ होता है। 'सुर' मे गाते समय गायक प्राय साधारण गान के ताल से इसमे छन्द प्रदर्शित करते हैं। गुरुदेव स्वय इस पद्धति का अनुमोदन नहीं करते थे। शान्तिनिकेतन मे उन्होने कभी वैदिक मत्रो या पाली मत्रो का इस प्रकार गान नहीं करवाया। वे मानते थे कि मत्र के अपने छन्द की जो गति है, उसे नष्ट कर मत्र-पाठ करना या गाना उसे प्राणहीन करना होगा।

जीवन के शेष काल मे गुरुदेव की इच्छा थी कि कालिदास के शकुन्तला को नृत्यनाट्य मे परिणत किया जाय एव यथासम्भव सस्कृत श्लोक रखकर उन्हे स्वरबद्ध किया जाय, ज़िस प्रकार 'चण्डालिका' के गानो की रचना की गई। अस्वस्थता के कारण उनकी यह इच्छा अपूर्ण ही रही। आज ऐसा लगता है कि यदि वे यह रचना पूर्ण कर जाते तो भारतीय सगीत जगत् मे हम सम्भवत और एक दु साहसिक परीक्षण का परिचय प्राप्त करते।

कुछ तथ्य

गुरुदेव की रचना और जीवन के सम्बन्ध मे, उनकी दिनचर्या के सम्बन्ध मे तथ्य जानने के लिए भी देशवासियो के कौतूहल की सीमा नहीं है। उनकी गान-रचना के सम्बन्ध मे भी कई लोगो के इसी प्रकार के कौतूहल का परिचय मिला है। 'कौन-सा गान/क्या सोचकर, किस उपलक्ष्य मे रचा गया, इस सम्बन्ध मे जानने के लिए कई लोग उत्सुकता दिखाते हैं।

कौन-सा गान उन्होने क्या सोचकर लिखा, इस प्रश्न का उत्तर सभी गानो को लेकर देना बिलकुल असम्भव है। काव्यसृष्टि का गभीर स्रोत कहॉ है, यह भी इस आलोचना के बहिर्भूत है। किन्तु उनके कई गान किसी घटना को उपलक्ष्य मानकर रचित है, कई गान अभिनय की आवश्यकता के लिए रचित है, यह विवरण भी रवीन्द्र-सगीतानुरागियो के लिए कुतूहल-उद्दीपक हो सकता है।

'नटराज' गीताभिनय के आधे से अधिक गानो की रचना उन्होने गीताभिनय की मॉग को देखते हुए, प्रत्येक ऋतु का रूप अभिनय मे प्रस्फुटित करने की इच्छा से की। अभिनय के तकाजे के कारण उन्होने एक दिन मे पॉच-छह गानो की भी रचना की है। नाच का पूर्वाभ्यास कराते समय सम्भवत उन्होने महसूस किया है कि दो नाच के बीच कुछ अवकाश की आवश्यकता है, उसी समय उन्होने एक छोटा गान लिख डाला। 'नटराज' के नमस्कार के प्राय सभी गान इसी प्रकार लिखे गए। 'नवीन' नाटक के कई गानो की रचना भी इसी प्रकार हुई। नृत्यनाट्य मे भी देखा गया है कि अभिनय के लिए या नाच की सुविधा के लिए उन्होने कई गानो की रचना की है। वर्षामगल या वसन्तोत्सव के समय उन्हे बताया गया है कि 'हमे किस प्रकार के गानों की जरूरत है', इस प्रकार उन्होने हमे आश्वस्त कर गानो की रचना की है। कई नाटको के मामले मे भी ऐसा ही हुआ है। किन्तु सामयिक आवश्यकता को ध्यान मे रखकर गानो की रचना मे प्रवृत्त होने के बावजूद गुरुदेव के वे गान उस सामयिक उपयोगिता का अतिक्रम कर सार्वकालिक बन गए हैं। गान के पीछे जो इतिहास है, उसे बिना जाने भी वे गान परवर्ती युग के श्रोताओ के लिए अनुपयोगी नहीं होगे। इस प्रकार के कुछ गानो की रचना का इतिहास यहॉ लिखा जा रहा है

१३३६ बगाब्द (ई १९२९) मे जब यतीनदास ने लाहौर जेल में अनशन का व्रत लिया, यह बात सभी को स्मरण है; मृत्युप्रण के उनके सकल्प ने भारतवासियो को उद्वेलित कर दिया था। इस प्रकार के वेदनादायक वातावरण मे 'तपती' लिखा गया। आश्रमवासियो को

गुरुदेव उसका पूर्वाभ्यास करा रहे थे। अतत यतीनदास की मृत्यु हो गई। यह सवाद जब शान्तिनिकेतन पहुँचा, उस दिन गुरुदेव को जो दु ख, वेदना हुई थी, उसकी तुलना नहीं है। सन्ध्या के समय 'तपती' का पूर्वाभ्यास बन्द न करने की बात हुई, किन्तु वे बार-बार अपने पाठ का सूत्र भूलने लगे, कई बार प्रयास करने पर भी उस सूत्र को किसी भी प्रकार ठीक नहीं रख सके, अन्यमनस्क हो गए। अन्तत पूर्वाभ्यास बद कर दिया गया। उस रात को ही उन्होने लिखा यह गान–'सर्व खर्वतारे दहे तव क्रोधदाह'। इस गान को बाद मे 'तपती' नाटक मे शामिल किया गया। यह गान उनके अन्तर की तीव्र वेदना का प्रकाश है, आज यह बात सम्भवत कई लोग नहीं जानते, इस तथ्य को जान लेने पर यह गान सभी के समक्ष अधिक सत्य हो उठेगा।

१३२९ बगाब्द (ई १९२२) मे कलकत्ता मे विश्वभारती की ओर से वर्षामगल के आयोजन के उपलक्ष्य मे वर्षा के कई नए गानों की रचना की गए थी। हम सब गायक कुछ दिन पूर्व ही कलकत्ता मे एकत्र हुए। बडे जोरो से पूर्वाभ्यास चल रहा था, जोडासॉको निवास जैसे गीतो से गूँज रहा था। इसी बीच एक दिन अचानक ठडी के कारण गुरुदेव का गला बैठ गया, वर्षामगल में उनकी आवृत्ति आदि ही आकर्षण का केन्द्र था, बैठे गले के कारण गुरुदेव बडे चिन्तित थे–कई प्रकार की ओषधियॉ खुद खा रहे हैं और हमे भी खिला रहे है ताकि हमारा गला न बैठ जाय। गले की उस अवस्था मे भी गुरुदेव ने एक गान की रचना की तथा दिनेन्द्रनाथ और हम सब को सिखाया शाम को गाने के लिए। वह गान है–'आमार कठ हते गान के निल भुलाये'।

इसी वर्ष के शुरू मे शान्तिनिकेतन मे नलकूप की सहायता से जल-पूर्ति इच्छा से एक नलकूप के खनन का काम शुरू हुआ। उस काम को शीघ्र पूरा करने की गरज से देर रात तक काम चलता था। मैंने कई बार देखा है कि ग्रीष्म की छुट्टियो मे शान्तिनिकेतन के कई अध्यापक महाशय कूपखनन के इस काम मे अक्लान्त परिश्रम कर रहे है, कई दिनो तक वे कीचड मे काम करने वाले कुलियो की सहायता करते रहे। गुरुदेव प्राय वहॉ उपस्थित रहते थे, जिससे सभी को प्रेरणा मिलती थी। इस उत्साह को और बढाने के उद्देश्य से उन्होने ज्येष्ठ की चतुर्थी को इस गान की रचना की–'एसो एसो हे तृष्णार जल'।

जब दूसरी बार नलकूप से जलपूर्ति की व्यवस्था सफल हुई, उस समय इस काम का दायित्व जिस बगाली व्यवसायी ने ग्रहण किया था, उसके अभिनदन की व्यवस्था की गई। नलकूप से जलपूर्ति मे सफलता से उत्साहित होकर गुरुदेव ने उस सभा के प्राय· दो घटे पूर्व एक गान की रचना की–हे आकाशविहारी नीरदवाहन जल'।

ई १९३७ में गुरुदेव ने अन्तिम बार कलकत्ता मे 'वर्षामगल' का अनुष्ठान किया। उस समय शान्तिनिकेतन मे वर्षा के कई गानो की रचना हुई। शान्तिनिकेतन में वर्षामगल का अनुष्ठान सुन्दर होने के कारण कई लोगो ने गुरुदेव से यह अनुष्ठान कलकत्ता मे करने का अनुरोध किया। इस पर गुरुदेव सहमत हो गए और शान्तिनिकेतन के पूर्वाभ्यास का काम जारी रखने का दायित्व मुझे सौंपकर स्वयं किसी काम से कलकत्ता चले गए एवं वहाँ गायिका का दल एकत्र कर उसे गान सिखाने लगे। वहाँ की गायिकाओ का गला

मीठा अवश्य था, किन्तु उनका कठस्वर क्षीण था, इसीलिए पहले दिन एकाकी गान प्रेक्षागृह की अन्तिम पक्ति तक सुनाई नहीं दिया। इस कारण गुरुदेव बहुत दु खी हुए। रात को निवास पर लौटकर उन्होने कहा, "इतना परिश्रम किया, किन्तु सब व्यर्थ हो गया"। उसके बाद की उनकी बातो से लगा कि उनके मन मे यह धारणा बनी कि रचना की दृष्टि से इस बार गान वैसे अच्छे नहीं बने, इसीलिए श्रोता उनका वैसा उपभोग नहीं कर सके। उन्हे यह समझाने की चेष्टा की गई कि दोष गानो का नही, किन्तु गायक-दल के दोष के कारण ऐसा हुआ है, फिर भी वे कहने लगे, "विलम्बित लय के 'सुर' के गानो की रचना अधिक की है, वास्तव मे जोरदार सशक्त गानो की जरूरत है।" उसी रात एक गान की रचना की, सबको बुलाकर वह गान सिखाया, उसके बाद ही विश्राम करने के लिए गए। इस गान की प्रथम पक्ति है–'धामाओ रिमिकि-झिमिकि वरिषन, झिल्लिझनक-झन-नन'। गान के माध्यम से उनके मन की उस समय की अवस्था स्पष्टत अभिव्यक्त हुई है।

'मरणसागर पारे तोमरा अमर' गान साधारणतया सभी महापुरुषो के सम्बन्ध मे प्रयोज्य होते हुए भी इसकी रचना गुरुदेव के बडे भ्राता द्विजेन्द्रनाथ की मृत्यु के उपलक्ष्य मे की गई। इस गान की बात याद न आने पर वे 'दादा की मृत्यु के बाद लिखा गया गान' कहा करते थे। इस प्रसग में यह बता देना उचित होगा कि उन्होने कई दिन पूर्व राजा राममोहन राय के मृत्युदिन को याद कर एक धर्मसगीत की रचना की थी–'के जाय अमृतधामयात्री'।

कई लोगो की धारणा है कि 'फाल्गुनी' नाटक के सभी गानो की रचना नाटक की कहानी को ध्यान मे रखकर ही की गई, किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है। उस फाल्गुन माह मे गुरुदेव ट्रेन से कहीं गए थे, ट्रेन की द्रुत गति ने उनके मन मे एक विशेष आवेग की सृष्टि की थी, उस आवेग मे ही दो गानो की सृष्टि हुई। एक है–'चलि गो चलि गो याइ गो चले', दूसरा है–'ओ गो नदी, आपन वेगे पागल पारा'। किन्तु 'फाल्गुनी' मे इन दो गानो को जिस प्रकार शामिल किया गया है, उससे उपरोक्त तथ्य पकड मे नहीं आता।

१३२९ बगाब्द (ई १९२२) मे गुरुदेव जब सिन्धुकाठियावाड का भ्रमण समाप्त कर शान्तिनिकेतन लौटे, तब वे काठियावाड के एक कृषक-परिवार को अपने साथ ले आए थे। उस परिवार की एक बारह-तेरह वर्षीय पुत्री दोनो हाथो मे दो जोडा मन्दिरा (a kind of small cup-shaped cymbals) लेकर बहुत सुन्दर नाचती थी। गुरुदेव की इच्छा थी कि इस नाच का शान्तिनिकेतन की छात्राओ मे प्रचार किया जाए। सभी आश्रमवासियो को दिखाने के उद्देश्य से चैत्र मास के अन्त मे उस किशोरी के नाच का आयोजन किया गया। यह नाच देखने के बाद गुरुदेव ने यह गान लिखा था–'कालेर मन्दिरा ये सदाइ बाजे'।

प्राय सोलह वर्ष पूर्व, श्रीयुक्त रथीन्द्रनाथ ठाकुर की कन्या नन्दिनी जब शिशु ही थी, तब उसे (नन्दिनी को) गुरुदेव से कहानी सुनने का बड़ा चाव था एव वह स्वय अपने मन से कई शिशुसुलभ कथाएँ गुरुदेव को सुनाती। गुरुदेव को हर बार सभी बात स्पष्टत समझ मे नहीं आती, किन्तु उस शिशु के वाक्यालाप को वे उपभोग करते थे। उस समय

नन्दिनी को ध्यान मे रखकर उन्होने एक गान लिखा था–'अनेक कथा जाओ ये बले कोनो कथा ना बलि, तोमार भाषा बोझार आशा दियेछि जलाजलि'।

नन्दिनी को याद कर उन्होने इस गान की भी रचना की थी–'तुमि उषार सोनार बिन्दु प्राणेर सिन्धुकूले'।

१३३३ बगाब्द (ई १९२६) मे 'प्रवासी' पत्रिका के पच्चीस वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य मे गुरुदेव ने आशीर्वाद-स्वरूप एक बडी कविता लिखी थी–'परवासी, चले एसो घरे, अनुकूल समीरणभरे'। इस कविता के प्रथम अश और बीच के अश को अलग कर, शब्दो का कुछ अदल-बदल कर उन्होने दो गानो की रचना की। प्रथम गान यमन-कल्याण राग मे निबद्ध है और वह है–'परवासी चले एसो घरे', और दूसरा अश मिश्र रामकली मे निबद्ध है, उसकी प्रथम पक्ति है–'एसो एसो एसो प्राणेर उत्सवे, दक्षिणवायुर वेणुरवे'।

१३२४ बगाब्द (ई १९१७) मे दिनेन्द्रनाथ का पाला हुआ एक हरिण अचानक शान्तिनिकेतन से भाग गया, बाद मे एक दूरवर्ती ग्राम मे सथालो ने उसे मार डाला। इस सवाद से दिनेन्द्रनाथ की पत्नी श्रीमती कमलादेवी बडी दु खी हुई। इस समय उन्हे सात्वना देने के लिए गुरुदेव ने इस गान की रचना की–'से कोन् वनेर हरिण छिल आमार मने'।

सुना जाता है कि बुद्धगया-भ्रमण के समय उन्होने वहॉ एक दिन प्रात काल यह गान लिखा था–'एदिन आजि कोन् घरे गो खुले दिल द्वार'। उस समय सम्भवत उन्होने भगवान् बुद्ध का ही स्मरण किया था।

चित्रशिल्पी श्रीयुत् असितकुमार हलदर की एक छवि (paintıng) देखकर गुरुदेव ने गान लिखा–'एकला बसे एके एके अन्यमने' एव उनकी 'अग्निवीणा' गोद मे लिए सरस्वती की छवि को उपलक्ष्य बनाकर इस गान का उद्भव हुआ–'तुमि जे सुरेर आगुन लागिये दिले मोर प्राणे'।

शिल्पाचार्य नन्दलाल बसु महाशय की एक छवि देखकर उन्होने गान लिखा–'निभृतप्राणेर देवता'।

व्यक्तिगत अनुभूति उनकी रचनाओ मे किस प्रकार नैर्व्यक्तिक हो उठी, उनके गानो के अलावा काव्य और नाटक मे भी उसके कई उदाहरण मिलते हैं, इस प्रकार का एक उदाहरण उनके एक नाटक की आलोचना के प्रसग मे यहॉ यह सोचकर दे रहा हूँ कि यह विषय कइयो को नया लगेगा। नाटक है 'डाकघर'। इसकी रचना का स्रोत कहॉ है, यह आलोचना के योग्य है। १३४६ बगाब्द (ई १९३९) मे उन्होने एक बार तीन-चार महीनो तक इस नाटक का पूर्वाभ्यास कराया था, उस समय अधुना प्रसिद्ध इस गान की रचना हुई–'समुखे शान्तिपारावार'। उस समय एक दिन उन्होने कहा था कि उनकी मृत्यु होने में तो अधिक देरी नहीं, यद्यपि यह अमल की मृत्यु का गान है किन्तु उनकी मृत्यु पर भी हम इसका प्रयोग कर सकेगे।

वस्तुत पूरा 'डाकघर' नाटक उनकी अपनी मृत्यु-कल्पना के अलम्बन से लिखा गया। १३२२ बगाब्द (ई १९१५) के पौष मास मे गुरुदेव ने सभी आश्रमवासियो के समक्ष अपने नाटक के विषय मे धारावाहिक वक्तव्य दिए थे। पौष की चतुर्थी के वक्तव्य का विषय

था 'डाकघर'। मेरे पितृदेव स्वर्गीय कालीमोहन घोष महाशय ने अपनी दैनन्दिनी मे उन वक्तव्यो को लिपिबद्ध कर रखा था, उससे कुछ अश मै यहॉ उद्धृत करता हूँ

"'डाकघर' जब मैंने लिखा तब मेरे अन्तर में अचानक आवेग, प्रबल चित्रवृत्ति का सचार हुआ था। तुम लोगो के ऋतु-उत्सव के लिए मैंने नहीं लिखा है। शान्तिनिकेतन की छत पर चटाई बिछाकर पडा रहता था। अन्तर मे एक प्रबल आवेग उठा था। चलो चलो बाहर, जाने के पहले तुम्हे पृथिवी की प्रदक्षिणा करनी होगी—वहॉ के लोगो के सुख, दु ख का परिचय प्राप्त करना होगा। उस समय मे विद्यालय के काम मे मैं काफी व्यस्त था। किन्तु अचानक क्या हुआ। रात के दो या तीन बजे अन्धकार मे छत पर आकर मन जैसे अपने पख फैलाने लगा। 'जाता हूँ - जाता हूँ' इसी प्रकार की वेदना मन मे जाग उठी। पहले भी मेरे मन मे एक-दो बार वेदना जागी थी। मन मे ऐसा लग रहा था कुछ होगा, सम्भवत मृत्यु। मेरे मन मे ऐसे आनन्द का सचार हो रहा था कि स्टेशन पर जैसे उछलकर ट्रेन मे चढना होगा। जैसे यहाँ से जा रहा हूँ। बच गया। इस प्रकार जब पुकार रहे हैं तो मेरी जिम्मेदारी नहीं। कहीं जाने की पुकार और मृत्यु की बात, दोनो को मिलाकर, बडे आवेग से उस चचलता को भाषा मे 'डाकघर' के रूप मे प्रकट किया। मन के भावावेश को एक वाणी मे सवाद द्वारा प्रकाश करना पडा। मन मे जो अव्यक्त किन्तु चचल था, उसे किसी प्रकार का रूप देने पर शान्ति मिलती है। अन्तर की प्रेरणा से मैंने लिखा। इसमे कहानी नहीं है। यह गद्य-लिरिक है। आलकारिको के मतानुयायी नाटक नहीं, आख्यायिका है। वस्तुत. यह है क्या ? उस समय मेरे मन के भीतर का अकारण चाचल्य दूर की ओर हाथ बढा रहा था, दूर की यात्रा हेतु जो दूर से पुकार रहे थे, दौडकर उन्हें पकडने की यह एक तीव्र आकाक्षा है। उस दूर जानें मे रमणीयता है। जाने मे एक वेदना है, किन्तु मेरे मन मे विच्छेद की वेदना उतनी नहीं थी। चले जाने में जो विचित्र आनन्द है, उसी ने मुझे पुकारा था—बहुत दूर है वह अपरिचित, उसके परिचय के माध्यम से उस अनजाने की पुकार, दूर वहॉ उसने मुग्ध कर दिया है, यात्रा वहॉ रमणीय है, कई विस्मृतियो, अपरिचितो के बीच जो आनन्द है, उसने जब अन्तराल, दूर से बॉसुरी बजाकर पुकारा, उस भाव को मैंने अभिव्यक्त किया। नहीं रहूँगा, नहीं रहूँगा, जाऊँगा, जाऊँगा, सभी आनन्द से जा रहे हैं। सभी पुकारते-पुकारते जा रहे हैं और मैं बैठा ही रहा। इस दु ख को, व्याकुलता को अभिव्यक्त करना होगा। यदि यह भाव किसी से पूर्णतया अपरिचित हो तो उसे पहेली कह सकते हो। यदि यह वेदना किसी मे हो, तो वह समझ सकेगा कि इसका मर्म क्या है।"

इस लोक से सुदूर एक अपरिचित लोक मे जाने की प्रेरणा ने उन्हे अपने जीवन के शेषकाल में 'डाकघर' के अभिनय के लिए पुन प्रोत्साहित किया था।

'डाकघर' का स्रोत कहॉ है, श्रीमती निर्झरिणी सरकार को लिखी गई एक चिट्ठी से इसका पता चलता है। यह चिट्ठी इस नाटक की समसामयिक है, यानी २२ आश्विन १३१८ बंगाब्द (ई १९११) को लिखी गई .

"माँ, मैं दूरदेश जाने के लिए तैयार हो रहा हूँ। वहाँ मेरा कोई उद्देश्य नहीं है, कुछ दिनो से मेरा मन कह रहा है कि जिस पृथिवी पर मैंने जन्म लिया है, उस पृथिवी की एक

बार प्रदक्षिणा कर मैं उससे विदा होऊँगा। इसके बाद और समय तो मिलेगा नहीं। समस्त पृथिवी की नदियॉ, पर्वत, समुद्र एव लोकालय मुझे पुकार रहे हैं—मेरे चारो ओर के क्षुद्र परिवेष्टन से बाहर निकलने के लिए मन उत्सुक हो उठा है। जहॉ मैं दीर्घकाल से काम करता हूॅ वहॉ हमारे कर्मो और सस्कारो का उच्छिष्ट मैला दिन-दिन जमा होकर हमारे चारो ओर एक घेरा तैयार करता है। हम जीवनभर हमारे अपने उस घेरे मे ही रहते हैं, जगत् मे नहीं। अन्तत बीच-बीच मे उस घेरे को चीरकर बृहत् जगत् को देख आने पर समझ पाता हूॅ कि हमारी जन्मभूमि कितनी बडी है—समझ पाता हूॅ कि जेलखाने मे ही हमारा जन्म नहीं है। इसीलिए सवपिक्षा बडी यात्रा के पूर्व एक छोटी यात्रा से उसकी भूमिका तैयार करना चाह रहा हूॅ—अब से एक-एक कर घेरा तोडना होगा, उसी का आयोजन है।"

इस व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यजना ने बाहर लेखन के माध्यम से इस प्रकार रूप लिया कि तब गुरुदेव के साथ इसका कोई व्यक्तिगत योगसूत्र रखने का उपाय शेष नहीं रहा।

यहॉ यह बता देना उचित होगा कि गुरुदेव ने 'कोन् आलोते प्राणेर प्रदीप ज्वालिये तुमि धराय आस' गान अपने पिता की मृत्यु पर लिखा एव 'केन रे एइ दुयारटुकु पार होते सशय' गान अपनी बडी पुत्री माधुरीलता की मृत्यु के समय लिखा १३२५ बगाब्द (ई १९१८) मे। कई लोगो का विश्वास है कि गुरुदेव ने अपनी पत्नी मृणालिनीदेवी की मृत्यु के बाद 'आछे दु ख आछे मृत्यु' गान लिखा था।

१३२९ बगाब्द (ई १९२२) मे शान्तिनिकेतन मे वर्तमान श्रीभवन का शिलान्यास हुआ, तब छात्राओं की 'गर्लगाइड' तैयार करने की इच्छा से कलकत्ता से एक अग्रेज महिला को लाया गया था, यह अग्रेज महिला एक 'गर्लगाइड' दल तैयार कर गई। इस दल के लिए गान की जरूरत पडी, इसकी पूर्ति 'अग्निशिखा, एसो एसो' गान लिखकर की गई। प्रसगवश कहा जा सकता है कि 'गर्लगाइड' का पहले बगला नामकरण हुआ 'गृहदीप', बाद मे उसे बदलकर किया 'सहायिका'। वह दल कुछ दिनो के बाद टूट गया। आजकल यह गान श्रीनिकेतन के वार्षिक उत्सव मे प्रदर्शनी के उद्बोधन मे प्रदीप जलाते समय गाया जाता है। १३३२ बगाब्द (ई १९२५) से यह गान 'गृहप्रवेश' नाटक के गान के रूप मे व्यवहृत होता है।

१३३१ बंगाब्द (ई १९२४) मे गुरुदेव जापानी युयुत्सू-मल्ल ताकागाकी को शान्तिनिकेतन ले आए और उन्होने युयुत्सू-शिक्षा का प्रवर्तन किया। इस सम्बन्ध मे देशवासियो को प्रोत्साहित करने के लिए कई स्थानों पर प्रदर्शनी की भी व्यवस्था की गई थी। इन प्रदर्शनियो के उद्बोधनस्वरूप सगीत की रचना हुई—'सकोचेर विह्वलता निजेरे अपमान', यह गान सर्वप्रथम १३३८ बगाब्द (ई १९३१) मे कलकत्ता के न्यू एम्पायर रगमंच पर प्रस्तुत किया गया। अब यह 'चित्रागदा' का गान है, और राष्ट्रीय सगीत के रूप में भी उसने स्थान प्राप्त कर लिया है।

१३३१ बगाब्द (ई १९२४) में दोलपूर्णिमा पर शान्तिनिकेतन में हमेशा की तरह उत्सव आयोजित करने की बात थी। इसके उपलक्ष्य मे गुरुदेव ने प्राय दस-बारह नए गानो की

रचना की थी और यह निश्चय किया गया था कि 'सुन्दर' नाम से नृत्याभिनय सम्पन्न होगा। उस दिन अपराह्न मे जब पूरा आयोजन समाप्त हो गया, तब जबरदस्त तूफान् के साथ जोरदार वृष्टि हुई, श्रीयुत् नन्दलाल बसु और श्रीयुत् सुरेन्द्रनाथ कर महाशय द्वारा विचित्र ढग से सज्जित आम्रकुज बिलकुल उलट-पलट हो गया। उस तूफान व वर्षा के समय गुरुदेव ने यह गान लिखा—'रुद्रवेशे केमन खेला, कालो मेघेर भ्रुकुटि'। वर्षा के बाद २वर्तमान पुस्तकागार की ऊपरी मजिल के बडे लम्बे हाल मे देर रात तक गान की मजलिस जमती रही। वहाॅ गुरुदेव ने यह नवीन गान स्वय अकेले ही गाया था। उस वर्ष चैत्रसक्राति के दिन 'सुन्दर' बडे ठाटबाट के साथ अनुष्ठित हुआ।

शान्तिनिकेतन के छात्रो एव छात्राओ के लिए रचित 'आमादेर शान्तिनिकेतन' गान के समान श्रीनिकेतम के शिलान्यास के समय कर्मियो और छात्रो के एक साथ गाने के उपयुक्त गान की आवश्यकता को ध्यान मे रखकर गुरुदेव ने 'फिरे चल माटिर टाने' गान की रचना की। गान-रचना की तारीख है २३ फाल्गुन, १३२८ बगाब्द (ई १९२१)।

शान्तिनिकेतन के प्राक्तन छात्र द्वारा वर्णित दो गानो के बारे मे यहाॅ उल्लेख कर देता हूॅ—वसन्तोत्सव की घटना (१३२८—ई १९२१) याद आती है। दिनुबाबू के निवास पर प्रात काल पूर्वाभ्यास चल रहा है। इसी समय मजुश्रीदेवी (सुरेन्द्रनाथ ठाकुर की कन्या) आ गई। उन्हे देखते ही कवि बोल उठे, "दिनु, यह तो आम की मजुरी आ गई है, तो आम के बोलो के गान मजु ही गाएगी, क्या कहते हो ?" उत्तर मे दिनुबाबू ने कहा, "हमारे पास तो आम की मजरी नही," सहसा कवि को अपनी भूल समझ मे आ गई। "क्या हो गया है, नातनी के साथ परिहास ही तो किया है।" किन्तु इस बिलकुल व्यक्तिगत परिहास को केन्द्र कर गुरुदेव शाम को लिखकर ले आए—'ओ मजरी, ओ मजरी, आमेर मजरी'।

"असहयोग आन्दोलन के बाद की घटना। कलकत्ता मे खूब धरपकड हो रही है। आश्रम मे खबर मिली कि वासन्ती देवी को गिरफ्तार किया गया है। इसी प्रकार दुर्दैव से कवि चिरकाल ही भारी व्याकुलता बोध कर रहे थे। कवि के नाम एक बेनामी चिट्ठी आई, उसमे लिखा हुआ है—'देश मे आग लगी हुई है और आप गान गाते घूम रहे है ?'— उस समय हमारे गायन की क्लास चल रही थी। संगीत-अध्यापक (प्राक्तन) पडित भीमराव शास्त्री से कवि ने आकर कहा, 'पंडितजी, मेरे नाम अभियोग आया है कि मै गान क्यो गाता हूँ ? तो, मुझमे तो और कोई गुण नहीं है यह आक्षेप ही बाद मे उनकी अननुकरणीय, अप्रतिम भाषा मे मूर्त हुआ है

'समय कारो ये नाइ, ओरा चले दले दले
गान हाय डुबे याय कोन् कोलाहले।'"

१३२८ बंगाब्द (ई १९२१) के १८ कार्तिक को लिखित एक चिट्ठी मे उन्होने उस समय के इस मनोभाव का परिचय दिया है—"मुझे बताया गया है कि देश मे जब आग लगी हुई है, तब वर्षामगल का गान करना अनुचित है एव उस दिन गान-सभा मे सजधजकर

जो गायिकाएँ आई थी, उन्होने इस अग्निकाड मे आहुति दी है।"

'मातृमन्दिर पुण्य अगन कर महोज्ज्वल आज हे' गान से कई लोग परिचित हैं। इसका प्रथम रूप 'बगाल लैंडहोल्डर्स एसोसिएशन' मे बडौदा के महाराजा गायकवाड की अभ्यर्थना के उपलक्ष्य मे रचित था, उसे उद्धृत कर रहा हूँ

रागिनी भूपाली - ताल तेवडा[१]
बगजननी-मन्दिरागन मगलोज्ज्वल आज हे!
जय बरोदाराज हे!
शख, बाजह, बाज हे—
जय नृपोत्तम पुरुषसत्तम
जय बरोदाराज हे!
भाषिछे शुन बगवाणी
राजदर्शन पुण्य मानि—
एस हे, नृप, एस हे!
धन्य कर ए देश हे!
एस मगल, एस गौरव,
एस अक्षयकीर्तिसौरभ,
एस तेज सूर्य उज्ज्वल
नाश भारत लाज हे!
राजधर्मे पुण्य कर्मे
लोकहृदये राज' हे!
शख, बाजह, बाज हे—
जय नृपोत्तम पुरुषसत्तम
जय बरोदाराज हे।[२]

बसु विज्ञानमन्दिर के उद्बोधन-उत्सव के उपलक्ष्य मे इसे गाया गया और इस गान का रूपान्तर हुआ - 'मातृमन्दिर पुण्य अगन', यह गान सुपरिचित है, इसीलिए मैने इसे उद्धृत नहीं किया है। विख्यात इतालवी पडित कार्लो फॉरमिकी जब शान्तिनिकेतन के अतिथि होकर आए तब आम्रकानन मे उनकी अभ्यर्थना की गई। उस समय का गान था

---

१ सर्वत्र दीर्घह्रस्व कायम रखते हुए पढना होगा।

२ इस गान के अस्तित्व के सम्बन्ध मे 'देश' पत्रिका मे प्रकाशित श्रीयुत् अमलचन्द्र होम के एक पत्र की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ। बाद मे मेरे एक बन्धु ने बताया कि यह गान अग्रहायण, १३११ बगाब्द (ई १९०४) के 'बगदर्शन मे प्रकाशित हुआ था। 'बगदर्शन' से यह गान यहाँ उद्धृत किया गया, गान के पाठ, 'सुर , रचना के उपलक्ष्य, और कविता के हिसाब से पाठ की रीति के सम्बन्ध मे 'बगदर्शन' मे जैसा निर्देश दिया गया है, उसी को मुद्रित किया गया हे। श्रीयुत् अमलचन्द्र होम ने सम्प्रति इस गान की एक प्रतिलिपि मुझे भेजी है, उसमे 'एस मगल' के स्थान पर 'एस विक्रम' एव 'राजधर्मे' के बदले 'ज्ञानधर्मे' पाठ है।

शान्तिमन्दिर पुण्य अगन
होक सुमगल आज हे
प्रिय सुहृत्प्रवर विराज हे
शुभ शख बाजह बाज हे।
चिर समुत्सुक तव प्रतीक्षा सफल कर लह प्रेमदीक्षा,
मालाचन्दने साज हे, शुभ शख बाजह बाज हे।
जय जय बुधोत्तम अतिथिसत्तम
ज्ञानतापसराज हे // जय हे।
एस आम्रनिकुजभवने
शिशिरसचित स्निग्ध पवने,
हउक सुन्दर शुभ आतिथ्य,
होक प्रसन्न तोमार चित्त,
तव समागम पुलक दीप्त
आजि बन्धु समाज हे।

१३४७ बंगाब्द (ई. १९४०) के अगस्त माह मे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से गुरुदेव को उपाधि दी जाने के उपलक्ष्य मे आयोजित अनुष्ठान मे शान्तिनिकेतन मे सभागत पडित-मडली की सवर्धना करने के लिए गान को और एक बार परिवर्तित किया गया

विश्वविद्यातीर्थ-प्रागण करो महोज्ज्वल आज हे
वरपुत्रसघ विराज हे।
घन तिमिररात्रिर चिरप्रतीक्षा
पुण्य करो, लह ज्योतिदीक्षा
यात्रीदल सब साज हे।
एसो कर्मी एसो ज्ञानी एसो जनकल्याणध्यानी
एसो तापसराज हे।
एसो हे धीशक्ति सम्पद मुक्त बन्ध समाज हे।

१३३१ बंगाब्द (ई १९२४) में गुरुदेव ने गगनेन्द्रनाथ की छवि के अवलम्बन से 'सात भाइ चम्पा' नाम से विवाह के उपहारोपयोगी एक कविता इस छवि के साथ लिखी। चैत्र १३४० बंगाब्द (ई. १९३३) मे इसी कविता को गान मे परिणत किया एव पहले के शब्दो मे कुछ हेरफेर किया। पहले की कविता थी

ओगो वधू सुन्दरी
नव मधु मंजरी
सात भाइ चम्पार लह अभिनन्दन—
पर्णेर पात्रे

फाल्गुनरात्रे
स्वर्णेर वर्णेर छन्देर बन्धन।

मिश्र भैरो राग की सहायता से जब कविता ने गीत का रूप लिया, तब उसके शब्द बदल गए और उसका रूप हुआ

ओगो वधू सुन्दरी
तुमि मधु मजरी
पुलकित चम्पार लह अभिनन्दन–
पर्णेर पात्रे
फाल्गुन रात्रे
मुकुलित मल्लिकामाल्येर बन्धन।

दक्षिणभारत के एक लोकनृत्य की भगिमा के साथ मिलाकर इस गान के साथ एक दलबद्ध नृत्य शान्तिनिकेतन की छात्राओ के लिए तैयार हुआ। नाच काफी आनन्दप्रद रहा। १३४१ बगाब्द (ई १९३४) मे सिहलद्वीप मे 'शापमोचन' अभिनीत हुआ। उस समय वह नाच इन्द्रसभा मे अप्सराओ के नाच के रूप मे रखा गया। पूर्व कथा नाटक के इस दृश्य से मेल नहीं खाती, इसलिए छन्द कायम रखा एव कहानी बदलकर इन्द्र का वन्दनागान लिखा–'नमो नमो शचीचितरजन सन्तापभजन', उसके साथ ही युवतियो ने वही पहले का नाच पेश किया। यह वन्दनागान यमन-कल्याण मे निबद्ध है। उस वर्ष 'वर्षामगल' उत्सव की कार्यसूची मे जब इस नाच को रखने का निश्चय किया गया, तब यह महसूस किया गया कि गान के शब्द और एक बार बदले बिना काम नहीं चलेगा। किन्तु गान के साथ नाच की भगिमा इस प्रकार एकाकार हो गई है कि वह भगिमा अन्य किसी गान के छन्द से इतनी अच्छी तरह से मेल नहीं खाएगी। तब उस छन्द मे गुरुदेव ने पुन वर्षा का गान लिखा, उसकी प्रथम पक्ति है–'एसो निखिलेर पिपासाभजन एसो गम्भीर कान्ति घननील अजन'। किन्तु उसे नाच के साथ बिठाते समय जब देखा गया कि मेल बैठ नहीं रहा है, तब उसमें परिवर्तन कर गुरुदेव ने लिखा

तुमि सन्तापेशान्ति
तुमि सुन्दर कान्ति
तुमि एले निखिलेर पिपासाभजन।
ऍके दिले धरावक्षे
दिक्रमणीर चक्षे
सुशीतल सुकोमल श्यामरसरजन।

रागिनी बदलकर इसे बिहाग मे निबद्ध किया गया। दो दिन बाद इसी मे और परिवर्तन किया

तुमि तृष्णार शान्ति
सुन्दर कान्ति।
तुमि एले निखिलेर सन्तापभजन।
ऑको धरावक्षे
दिक्वधू चक्षे
सुशीतल सुकोमल श्यामरसरजन।

इसी नाच के लिए उपरोक्त गान ने पुन एक बार नया रूप धारण किया। 'चित्रागदा' नृत्यनाट्य के अन्त मे वह गान रखा गया है

तृष्णार शान्ति सुन्दर कान्ति
तुमि एसो विरहेर सन्तापभजन।
दोला दाओ चक्षे
ऍके दाओ चक्षे
स्वपनेर तुलि दिये माधुरीर अजन।
एने दाओ चित्ते
रक्तेर नृत्ये
वकुल निकुंजेर मधुकर गुजन।
उद्वेल उतरोल
यमुनार कल्लोल
कम्पित वेणुवने मलयेर चुम्बन,
आनो नव पल्लवे
नर्तन उल्लोल
अशोकेर शाखा घेरि वल्लरीबन्धन।

नाच के उद्देश्य से और भी कई गानो के शब्द बदले गए हैं, उनमे से कुछ उदाहरण दे रहा हू 'हृदय आमार ओइ बुझि तोर बैशाखी झड' गान बदलकर हो गया वसन्त का गान 'हृदय आमार ओइ बुझि तोर फाल्गुनी ढेउ', 'देखो देखो देखो, शुकतारा ऑखि मेलि चाय' गान के शब्द बदलकर किया गया 'चले छलछल नदीधारा निविड छायाय', 'बाकि आमि राखब ना' गान के शब्द बदलकर किया गया 'आमार एइ रिक्त डालि', 'देखा ना-देखार मेशा हे विद्युत्लता' बदलकर हुआ 'स्वप्नमदिर नेशाय मेशा', 'वसन्ते फुल गॉथल' को हम इस रूप मे पाते हैं—'अशान्ति आज हानल', 'बॅधु कोन् माया लागल चोखे' गान को बदलकर किया गया—'बॅधु, कोन् आलो लागल चोखे'—यानी 'माया' के स्थान पर 'आलो' किया गया। 'ओरे चित्ररेखाडोरे' गान की रचना 'केन पान्थ ए चंचलता' गान के छन्द को ध्यान मे रखकर नाच की सुविधा के लिए की गई। पहले 'केन पान्थ ए चचलता' गान के साथ एक नाच था, उसी छन्द मे 'शापमोचन' का यह अभिनय-नृत्य तैयार हुआ।

इन सब परिवर्तनो मे 'सुर' छन्द अविकल रूप मे समान है, केवल शब्दों के परिवर्तन द्वारा अर्थ-परिवर्तन किया गया है—किसी-किसी मे उन्होने सभी शब्द बदल दिए हैं, और कुछ गानो मे सभी शब्दो को बदलने की जरूरत महसूस नहीं की, एक-दो शब्द बदलने से ही उद्देश्य सिद्ध हो गया है।

अब मै कुछ ऐसे गान उद्धृत करता हूँ, जो परिवर्तित होकर विवाहसगीत मे परिणत हुए हैं। नववर्ष की उपासना के उपलक्ष्य मे रचित 'हे चिरनूतन, आजि ए दिनेर प्रथम गाने, जीवन आमार उठुक विकाशि तोमार पाने' गान के 'जीवन आमार' शब्दो के स्थान 'जीवन दोहार' कर उन्होने इस गान का विवाह-अनुष्ठान मे व्यवहार किया था। १३३० बगाब्द (ई १९२३) मे 'नटीर पूजा' के गान 'ओरे की शुनेछिस घूमेर घोरे' को विवाह-गान के रूप मे परिणत करते हुए उसके शब्द इस प्रकार बदले थे

ओरे कि अपरूप रूप देख रे
नयन एल जले भरे
एतदिने तोमाय बुझि
आँधार घरे पेल खुँजि,
बन्धु तोमार खुलल दुयार
निल तोमाय आपन करे।
तोर दुखेर शिखाय ज्वाल् रे प्रदीप ज्वाल रे
तोर सकल दिये भरिस पूजार थाल रे।
येन जीवन मरण एकटि धाराय
तॉर चरणे आपना हाराय
सेइ परशे मोहेर बॉधन
रूप येन पाय प्रेमेर डोरे।

'सार्थक कर साधन' गान को विवाहोपयोगी गान बनाने के लिए शब्द किस प्रकार बदले गए, उसका नमूना

सार्थक होल साधन।
तृप्ति लभिल तृषित चित्त शान्त विरह-कॉदन,
प्राणभवन दैन्यहरण अक्षय करुणा-धन।
विकशित हल कलिका,
मम कानन करिल रचन नव कुसुमाजलिका,
हल सुन्दर गीत-मुखर नीरव आराधन ॥
चरण-परश-हरषे
लज्जित वनवीथि धूलि सज्जित कर कर हे,
मोचन कर अन्तरतर हिम-जडिमा-बॉधन ॥

'चित्रागदा' नाटक का गान 'केटेछे एकेला विरहेर बेला' अर्जुन और चित्रागदा के युगलनृत्य का गान है। इस गान की रचना 'सेदिन दुजने दुलेछिनु वने' गान के छन्द को ध्यान मे रखकर की गई। 'चित्रागदा' की रचना के कई वर्ष पूर्व 'सेदिन दुजने' गान के साथ एक युगलनृत्य की रचना की गई। गान के साथ नाच खूब शोभन बन पडा था। इस नाच को जब 'चित्रागदा' मे रखने का प्रस्ताव आया, तब गुरुदेव ने 'चित्रागदा' के अनुरूप शब्दो का चयन कर उसी छन्द मे यह गान लिखा–'केटेछे एकेला' ।

आश्विन, १३०२ बगाब्द (ई १८९५) मे रचित 'आहा जागि पोहाल विभावरी' गान के साथ १३२६ बगाब्द (ई १९१९) मे प्रकाशित 'गीतपचाशिका' के 'पोहाल पोहाल विभावरी' गान के 'सुर' और भाव का मेल कई गुणियो ने अनुभव किया है। वस्तुत दोनो गान समान अथवा एक ही हैं। 'आहा जागि पोहाल विभावरी' की रचना सिलाइदह के नदी-पथ पर निवास के समय की गई। उनके साथ सहयात्री थे बलेन्द्रनाथ। आश्विन चतुर्दशी की रात को नदी पर ऑधी-वर्षा जोरो पर थी और इसी स्थिति मे उन्हे रात काटनी पडी थी। दूसरे दिन सुबह जब ऑधी-वर्षा रुकी और आकाश साफ हुआ तथा धूप निकली, तब गुरुदेव ने यह गान लिखा।

'विश्ववीणारवे विश्वजन मोहिछे' गान १३०२ बगाब्द (ई १८९५) मे एक मराठी पद के अनुकरण से रचित है। इसे हम ऋतु-सगीत के रूप मे लेते है, किन्तु 'विश्वराजालये विश्ववीणा बाजिछे' इस प्रकार विभिन्न शब्द बदलकर बाद मे गुरुदेव ने इसे उपासना-सगीत बना दिया था।

अब गान के 'सुर' (रागिनी, धुन, स्वरसज्जा) बदलने के कुछ नमूने प्रस्तुत किए जाएँ मेरे नवीन गान सीखते समय यदि गुरुदेव ने ऐसा अनुभव किया है कि मैने इस ओर ध्यान कम दिया है या उस 'सुर' ने अन्तर को स्पर्श नहीं किया है, तो नवीन 'सुर' के सयोजन की इच्छा उनमे जागी है। कई बार गान की रचना के बाद उन्होने पूछा है कि गान कैसा बना है, सकोचवश किसी के मतामत प्रकट न करने पर उन्होने सोचा है कि सम्भवत ठीक नहीं हुआ, और वे अन्य 'सुर' मे उसे निबद्ध करने को उद्यत हुए हैं, मना करने पर उन्होने कहा है कि पुरातन के प्रति अहेतुक अनुराग है। 'सुर' पुनर्योजना परिवर्तन के बाद देखा गया है कि गान अधिक सुन्दर हो गया है। 'वसन्ते कि शुधु केवल फोटा फुलेर मेला' गान की जब पहली बार रचना हुई तब उसकी रागिनी थी बहार, ताल था जलद तेवडा। कई दिनो के बाद बहार रागिनी को बदलकर उसे चतुर्मात्रिक ताल मे सारि गान के 'सुर' मे निबद्ध किया, गान और भी मर्मस्पर्शी हो गया। बहार रागिनी एव तेवडा ताल मे निबद्ध इस गान मे उल्लास का भाव प्रस्फुटित हुआ था, जबकि सारि गान के 'सुर' मे निबद्ध होने से उदासी का भाव प्रकट हुआ।

'आमि यखन छिलेम अन्ध' गान का व्यवहार गुरुदेव ने १३४० बगाब्द (ई १९३३) मे 'राजा' नाटक मे किया। यह गान बहुत पहले लिखा गया था। पहले यह गान केदारा रागिनी मे निबद्ध था। १३४२ बगाब्द (ई १९३५) मे 'राजा' के मचन के समय इसे बदलकर कीर्तनाग 'सुर' (धुन) मे निबद्ध किया गया एव छन्द के आघात और 'सुर' के गठन

मे काफी पार्थक्य दिखाई दिया। केदारा की कटी-कटी गति मे गान मे जोर का प्रकाश अधिक था, जबकि कीर्तनाग 'सुर' मे बदलकर वेदना का आभास प्रबल हो गया है। 'शापमोचन' का गान 'हे सखा वारता पेयेछि मने मने' गान मिश्र वसन्त राग मे था, उसे बदलकर उन्होने बिहाग राग मे निबद्ध किया। आजकल दोनो 'सुरो' मे यह गान प्रचलित है। 'वसन्ते वसन्ते तोमार कविरे दाओ डाक' गान को 'नवीन' की रचना के समय एक 'सुर' मे निबद्ध किया था, उसे बदल दिया और इस गान को मिश्र रामकली मे निबद्ध किया, यह अधिक चित्ताकर्षक है। किन्तु दोनो गानों के छन्द बदले है। इस तरह के और भी कई गान दो 'सुरो' मे रचित हैं।

प्रयोजना

जगत् मे नाटको की रचना कई लेखक कर गए हैं, किन्तु अपने नाटको के प्रयोजक या प्रयोगकर्ता के रूप में उनमे कम ही देखे जाते है। गुरुदेव को जिस प्रकार हम नाट्यकार रूप मे पाते हैं, उसी प्रकार उन्हे हम अपने नाटको के विशिष्ट अभिनेता और प्रयोजक रूप मे पाते हैं। उन्होने अपने नाटको के लिए स्वय ही गानो की रचना की है, और स्वय ही उन नाटको के अभिनेताओ और अभिनेत्रियो को तैयार किया है।

गुरुदेव ने शान्तिनिकेतन के विविध उत्सवो के उपलक्ष्य मे अभिनय के लिए कई नाटको की रचना की है, कलकत्ता मे भी अपने कई नाटको के अभिनय की व्यवस्था की है, अधिकतर वे स्वय प्रधान भूमिका मे अवतीर्ण हुए हैं। इन सब नाटको मे उनका अभिनय देखकर दर्शको को पूर्ण तृप्ति मिली है, किन्तु उनके लिए (दर्शको के लिए) यह कल्पना करना भी दुरूह है कि इसके पीछे केवल एक मनुष्य की प्रबल प्रचेष्टा रही है इसीलिए यह सम्भव हुआ है। अभिनेताओ एव अभिनेत्रियो को तैयार करने मे उन्हे प्राणपण से कई दिनो तक खटना पडा है। किसी पेशेवर अभिनेता या अभिनेत्री को लेकर कभी वे इस कार्य मे प्रवृत्त नही हुए। जो छात्र-छात्रा, अध्यापक, कर्मी शान्तिनिकेतन मे समवेत हुए हैं, और जिन्होने अभिनय करने की कल्पना भी कभी नहीं की, उन्हे ही लेकर गुरुदेव ने अभिनय को सार्थक किया है। नाटक के विभिन्न चरित्रो के अभिनय की शिक्षा उन्होने अकेले ही पक्षी को पढाने के समान दी है। प्रत्येक शब्द के साथ कहॉ, किस प्रकार जोर देना होगा, किस प्रकार स्वर का वैचित्र्य प्रदर्शित करना होगा, उन्होने यह सब कुछ विस्तार मे दिखाया है और इनकी सूक्ष्म बाते भी समझाई हैं। एक बार उन्होने एक ऐसे व्यक्ति को अभिनेता रूप मे तैयार किया है, जिसे अभिनय के पूर्व देखकर कोई सोच भी नही सकता कि उसके मुॅह से शब्द निकल भी सकते हैं। अभिनय के समय अभिनेता के सचरण, हावभाव मे बाद मे किसी प्रकार की जडता या आडष्टता दिखाई दे सकती है, इसी कारण इस ओर भी उनका ध्यान रहता था कि प्रत्येक पदक्षेप मे, उठने-बैठने मे, हाथ और देह की भगिमा किस प्रकार होने पर अभिनय के साथ सामजस्य बना रहेगा।

साधारणतया हम मानते हैं कि गुरुदेव के लिए सभवत 'फाल्गुनी' के अन्ध बाउल, 'शारदोत्सव' के सन्यासी, 'डाकघर' के ठाकुरदा, 'विसर्जन' के जयसिह या रघुपति, 'तपती' के महाराज विक्रम, 'अरूपरतन' के ठाकुरदा आदि भूमिकाऍ ही शोभन लगती है या उपयुक्त हैं, इसीलिए उन्होने इस प्रकार के दुरूह चरित्र का अभिनय किया है। किन्तु अन्य किसी चरित्र का अभिनय करने पर भी वे आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर सकते थे, क्योकि

इन सब नाटको के किसी भी चरित्र या नारी-चरित्र के अभिनय की उनमे असाधारण शक्ति थी। अभिनय की शिक्षा देते समय विभिन्न चरित्रो का उनका अभिनय जिन्होने देखा है, वे इस बात का तात्पर्य समझ सकेगे।

कोई काम हाथ मे लेने के बाद उसके पूर्ण न होने तक उनके मन मे एक प्रकार की अस्थिरता एव उद्वेग रहता था। इसीलिए उन्होने नाटक के लिए अभिनेता-अभिनेत्री का चयन स्वय किया है, उन्हे प्रशिक्षण दिया है एव विचित्र चरित्रो का अभिनय एक साथ सिखाना सम्भव नहीं था अत दिन के समय अलग-अलग भाग कर एक-एक को शिक्षा दी है। अभिनय के दिन तक प्रतिदिन सभी को लेकर पूर्वाभ्यास कराया है। बीच-बीच मे गानो की रचना की है और गान सिखाए भी हैं। नाटक के बीच-बीच मे कुछ-न-कुछ परिवर्तन वे करते रहते थे। ऐसा कभी नहीं देखा गया कि कोई भी नाटक आरम्भ मे जिस रूप मे लिखा गया, अभिनय के समय ठीक उसी रूप अभिनीत हुआ है।

पाठ मे बार-बार परिवर्तन होने से अभिनेताओ एव अभिनेत्रियो के लिए मुश्किल होती थी। वे बडे कष्ट व श्रम से जो एक बार सीखते थे, उसे भूलकर नए सिरे से मुखस्थ करने के भय से उन्हे निकट रहना पडता, क्योकि जब तक भूमिका सर्वांग सुन्दर नहीं बन पडती, तब तक उन्हे खुश करना असम्भव था। इसके लिए गुरुदेव के दैनन्दिन नियम मे व्याघात पडता, और काम भी खूब बढ जाता। उनके स्वास्थ्य को देख कर सभी उन्हे परिवर्तन से विरत करने का प्रयास करते, किन्तु उन्हे निवृत्त करना किसी प्रकार सम्भव नहीं होता। मन मे सम्पूर्णता का जो चित्र उन्होने एक बार अकित कर लिया है, उसकी सुन्दर ढग से अभिव्यजना न होने तक किसी भी तरह स्थिर नहीं रह सकते थे। कई बार मैने देखा है कि जिस दिन अभिनय है, उस दिन सुबह नाटक मे उन्होने एक नया अंश जोड दिया है। कई बार काफी बडा अश भी जोडा गया है। इस नवीन अश की रचना के समय उन्होने इस बात पर इतना भी विचार नहीं किया कि जिनसे यह अभिनय करायेंगे, उनमे यह सामर्थ्य है या नहीं, इस अल्प समय मे सम्पूर्ण अश को अभिनयोपयोगी रूप देकर वे दर्शकों के समक्ष उसे प्रकाश कर सकेंगे या नहीं। उनका अपने प्रति जो विश्वास था, उसी के बल पर वे दूसरो को भी उसी रूप मे देखना चाहते थे। उनकी अपेक्षा उम्र मे कनिष्ठ व्यक्ति भी उनकी कर्मशक्ति की बराबरी न कर सकने के कारण क्लान्त हो गए, किन्तु उनके लिए क्लान्ति जैसी कोई वस्तु नहीं थी।

शान्तिनिकेतन मे जब नृत्याभिनय का युग शुरू हुआ, तब उन्हें एक साथ कई गानो की रचना करनी पडी। एक दिन मे एक साथ कई गानो की रचना करना कितना कष्टप्रद है, उसे सगीत-रचयिता ही अनुभव कर सकते हैं। किन्तु गुरुदेव के लिए यह कार्य अत्यन्त सहज, खेल के समान था। मैंने यहॉ तक भी देखा है कि जब उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था, रात में जब शान्तिनिकेतन के सभी अधिवासी निद्रा में मग्न थे, तब मुझे बुलाया गया। उसका कारण यह था कि उन्हे यह सोचकर नींद नहीं आ रही थी कि दूसरे दिन के नृत्याभिनय का नया अंश तैयार न होने पर अभिनय के काम में बाधा उपस्थित होगी। स्वर-सयोजन का काम शुरू हुआ। अस्वस्थता और फिर पूरे दिन के काम की क्लान्ति के कारण बीच-बीच

मे उनकी ऑखो मे निद्रा की जडता दिखाई देती। मैने अलग-अलग ढग से समझाने की कोशिश की कि यहीं तक रहने दे, किन्तु कोई फल नहीं हुआ। यह कार्य समाप्त करने पर उन्होने शान्ति महसूस की। देर रात मे लौटते समय मैंने उन्हे कहा था कि गान-रचना मे व्यस्त रहने की आवश्यकता नही है, बीच का काम आगे बढने मे काफी समय लगा, किन्तु दूसरे दिन उनके नौकर ने मुझे यह चिट्ठी दी

"शान्ति, विशेष जरूरी काम न हो तो चले आना। मेरा काम पूरा हो गया है। – रवीन्द्रनाथ।"

चिट्ठी पाकर मैं समझ गया कि हमारी सुविधा के लिए उनकी सृष्टि का स्रोत बन्द रखना अन्याय है। किन्तु मुश्किल उस समय उपस्थित होती, जब वे आज की रचना को आज ही छात्रो व छात्राओ से नृत्य मे अभिनय कराना चाहते थे। यदि वैसा सम्भव नहीं होता तो उनका मन दु खी होता व उन्हे आघात पहुँचता। वे सोच भी नही सकते थे कि उनके लिए जो सम्भव है वह अन्यो के लिए सम्भव क्यो नहीं है। प्रतिदिन सन्ध्या के समय नृत्याभिनय के पूर्वाभ्यास के अवसर पर वे उपस्थित रहते थे। ठीक समय पर उपस्थित न रहने के कारण उनकी अनुपस्थिति मे यदि पूर्वाभ्यास ठीक न हो तो उसके लिए उनकी अस्थिरता का अन्त नहीं था। 'चण्डालिका' की गान-रचना और पूर्वाभ्यास जब चल रहा था, तब गुरुदेव अस्वस्थ थे, अत मैंने निश्चय किया कि कुछ दिनो तक आपस मे ही गानो के साथ नाच बिठा लेने के बाद ही उनके सामने पूर्वाभ्यास किया जाएगा। प्रतिदिन मै उन्हे बता आता कि काम कितना आगे बढा है एव काम किस प्रकार चल रहा है। किन्तु गुरुदेव निश्चिन्त न रह सके, कुछ दिन बाद ही एक चिट्ठी आई

"शान्ति, अभी तक रिअर्सल शुरू नहीं हुई। समय कम है। क्या शुरू से ही मेरे सामने तालीम देने की आवश्यकता है? ऐसा होने पर सम्भवत विलम्ब की आशका दूर होगी। –रवीन्द्रनाथ ठाकुर। ९ ८ ३८"

चिट्ठी पढते ही मैं समझ गया कि जब तक उनके सामने पूर्वाभ्यास नहीं होगा, तब तक वे शान्त नहीं होगे। अस्वस्थ शरीर, ऑधी-वर्षा, ग्रीष्म का प्रचड ताप उनके लिए बाधक नहीं हो सके। कितने ही दिनो से वे ज्वर से पीडित थे, फिर भी सभी के निषेध के बावजूद वे पूर्वाभ्यास के समय उपस्थित हुए हैं। किसी भी छात्र या छात्रा के अनुपस्थित होने पर वे यह सोचकर अस्थिर हो उठते कि वे अस्वस्थ हो गए हैं, किन्तु अपने लिए थोडी भी ममता नहीं थी। नृत्य-कलाकारो की त्रुटि होने पर वे यह सब बता देते और यह उपदेश भी दे देते कि नाच किस प्रकार करने से यह और भी अच्छा हो सकता है। गान की रचना कर किस प्रकार का नाच होने पर वह इस गान के साथ शोभन होगा, किसके नृत्य मे उसकी व्यजना सुन्दर हो सकती है, यह दिशा निर्देश भी गुरुदेव ने दिया है। दक्षिणी, मणिपुरी या अन्यान्य प्रदेशो के नाच के साथ किस प्रकार का अभिनय या किस प्रकार के गान का भाव मेल खाएगा, इस विषय मे उनके निर्देश ने हमारी बहुत सहायता की है।

कुछ वर्ष पूर्व शान्तिनिकेतन के किसी विशेष उत्सव के उपलक्ष्य मे 'चित्रागदा' नृत्यनाट्य का पूर्वाभ्यास शुरू हुआ, इसके कुछ दिन बाद ही उन्होने पूर्वाभ्यास मे योगदान

किया एव उस दिन सुबह उन्होने श्रीमती प्रतिमादेवी को पत्र लिख भेजा

"बहूमा, कल क्लान्त शरीर के कारण नाच का बाहुल्य क्लेशकर हो उठा था। मणिपुरी को काट-छाँटकर ठीक न करने पर सभा छोडकर भागना पडेगा। यह समस्त स्वरूप अधिक द्रुत एव सुगठित होने पर अच्छा होता है। यह नाटक लिरिकल की अपेक्षा ड्रामेटिक अधिक है।"

श्रीमती प्रतिमादेवी से चिट्ठी पाकर उसी समय मैने दोनो के साथ परामर्श करने के बाद विविध प्रकार के गानो के साथ नाच की अदला-बदली कर दी।

'श्यामा' नाटक के पूर्वाभ्यास के समय गुरुदेव ने मुझे एक पत्र लिख भेजा

"प्रथम नाच तेवडा ताल मे, द्रुत लय मे वसन्त का आनन्द-उच्छवास प्रकट करने के लिए तैयार हो सकेगा क्या ?"

उनकी इच्छा थी कि उनके आदेश के अनुसार नृत्य-कलाकारो को तैयार कर शाम को उनके सामने खडा किया जाय। उसी समय मैंने नृत्य-शिक्षको को बुलाया और उनके आदेश के अनुसार नाच तैयार कराकर शाम को उन्हे दिखा देने के बाद ही मै निश्चिन्त हुआ। दूसरी बार 'नृत्यनाट्य चण्डालिका' के अभिनय के समय गान मे थोडा अदल-बदल किया गया था। पुस्तक का प्रथम गान उस समय की ही रचना है। यह गान प्रात उनसे सीखकर घर पहुँचा ही था कि उनका नौकर उनका पत्र लेकर हाजिर हो गया। उन्होने लिखा

"इस नवीन गान मे ममता की फूल-बिक्री की भगिमा के साथ-साथ सुनीता और हासि आकर जैसे उनके पास फूल लेकर कान मे और जूडे मे लगाने की भगिमा प्रदर्शित करे तो अच्छा होगा। उसके बाद ही वे चली जाएँगी।" यह पत्र मिलने के पूर्व तक मैं यह सोचकर निश्चिन्त था कि गान पहले सबको सिखाने के बाद नाच की बात सोची जाएगी। किन्तु इसके बाद अब निश्चिन्त रहना सम्भव नहीं था। गान गाने के दोष के कारण नाच के साथ सामजस्य न स्थापित होने पर गुरुदेव अस्थिर हो उठते। किस प्रकार गाना होगा, कहाँ जोर देना होगा, सभी प्रकार का विश्लेषण उन्हे करना पडा है, उन्होने स्वय गाकर भी समझाया है। मैंने देखा है कि उनके नाटक का अभिनय जब पूर्णता की ओर अग्रसर हुआ है, तब उनके चेहरे पर गभीर तृप्ति का अपूर्व आनन्द दिखाई दिया है, यदि कभी कोई नाटक ठीक नहीं हुआ तो उनका मन उसी प्रकार व्याकुल हो उठा है।

उनके द्वारा रचित गीतिनाट्य 'शारदोत्सव', 'फाल्गुनी', 'नटराज', 'नवीन', 'श्रावण-गाथा' और नृत्यनाट्य 'चित्रागदा', 'चण्डालिका', 'श्यामा'—इस युग के बगला साहित्य मे पूर्णतया नवीन हैं। इस प्रकार के गीतनाट्य की रसोपलब्धि जनसाधारण के लिए सहज नहीं है। हमारे देश मे शिक्षा और सस्कृति जितनी व्यापक होगी और उसका स्तर उन्नत होगा, उतना ही हम इन सबका वास्तविक रस और सौन्दर्य अनुभव कर सकेगे। विशेष रूप से गीतनाट्य के साथ नृत्य के द्वारा जिस अभिनय पद्धति का उन्होने प्रचलन किया है, वह भी इस युग के लिए नवीन है। यह पुरातन की हूबहू नकल नहीं, किन्तु पुरातन के आधार पर नवीन युग के आरम्भ का शखनाद है।

इस सब नाटको की साजसज्जा, रूप और रग की दृष्टि से भी कई विचारणीय तथ्य हैं। उनके सभी नाटको की मूल बात है रचना के मूल रस की अन्तर मे उपलब्धि करना। इसी कारण रसिकजनो के समक्ष नाटक की साजसज्जा, आडम्बर अत्यन्त अवान्तर हैं। गीतिकाव्य के समान सहज सौन्दर्य के आवेग को अनुभव कराना ही इसका काम है। अत इन सब नाटको की रूपसज्जा पर उसी दृष्टि से विचार करना होगा। इसीलिए उनके नाटको मे रूप और रग के किसी आडम्बर की चेष्टा नही है। उनमे चकाचौध करने का प्रयास भी नहीं है, उनमे कुछ रगो के विन्यास मे स्निग्ध शान्ति है। अभिनेता-अभिनेत्रियो की साजसज्जा मे भी उसके साथ सामजस्य रखा गया है। कुल मिलाकर इन नाटको से फूल के समान सहज, किन्तु मधुर सौन्दर्य की अनुभूति होगी, इन्हे अनुभव किया जा सकता है, तुलना करना ठीक नहीं। इस दृष्टि से रगमच की प्रगति मे गुरुदेव के नाटको का योगदान अपरिसीम है।

नेपथ्य

"अन्तर-अन्तर मे कुछ सृष्टि हो रही है। हर बार उसे जान नहीं पाता। वृक्ष की एक ओर पत्ते है, बाहर छाल आदि लिये हुए है। पत्ते बाहर के आकाश से कार्बन आदि भीतर सचारित कर रहे है। नवीन पत्रपुष्प मे विकास की एक धारा प्रवाहित है। किन्तु वृक्ष की मज्जा-मज्जा मे एक गभीर क्रिया है। पत्तो को उसकी खबर नहीं है। हमारे अन्दर भी यही द्वैत रूप है। वृक्ष के पुष्प-पल्लव के समान हममे भी परिवर्तन हो रहा है। ये जो पत्ते झड रहे हैं, और उग रहे, बढ रहे हैं, वे नही जानते कि मज्जा का विषय और भी स्थायी है। हमारे भीतर एक सत्ता है, वह बहुत कुछ का परित्याग करती है, बाहर की वस्तु कई बार उसके प्रतिकूल आचारण करती है।

"मैंने कई बार जो कुछ कहा है वह हर बार चेतन-पुरुष की बात नहीं है। बोलते समय मैने उपलब्धि की है। अन्तर की गुहा मे जो मनुष्य है, उससे मैंने कई बाते सीखी है। ऐसा कोई कवि नहीं, जिसकी कविता-रचना अन्तर मे जो सत्य है उसके बाहर निकलने का पथ खुला न करती हो। अन्तरवासी पुरुष ने उसके गोचर-अगोचर मे अपने को व्यक्त करने के हिसाब से उसको पाया है। मिट्टी के नीचे से जल का स्रोत चला आ रहा है। किन्तु प्रस्त्रवण वहाँ होता है, जहाँ ऊपर की ओर निकलने का रास्ता वह पाता है। विश्वव्यापी रस, ज्ञान, भाव की एक धारा है। उस धारा का जन्म बाहर है, किन्तु भीतर की ओर जाकर वह जमा हो गई है। अनुकूल अवस्था मे वह पुन बाहर प्रवाहित हो जाती है। ऊपर का वह आवरण क्षय होते ही भीतर की धारा को बाहर निकलने का मार्ग मिल जाता है। जिसके क्षेत्र मे यह धारा प्रवाहित हो रही है, वह इसके लिए लाभान्वित हो रहा है। जिस कविता की रचना कवि करता है, वह उसके अगोचर रहती है। स्वत स्फूर्त कविता कवि की पूर्वपरिचित नहीं होती। 'अन्तर्यामी' कविता मे यह बात प्रकट की है, इसीलिए बदनाम हुआ हूँ।

"तुम लोगो से वसन्त-उत्सव लिखने का भार मैंने लिया है। बौद्ध कथा मिल गई है। इस कथा मे नाटक के उपकरण हैं। शिलाइदह के नदी-तीर पर वसन्त छाया हुआ है, आम्रमुकुल पर भ्रमर गुजन कर रहे है। दिनु स्वर-सयोजन कर रहे हैं। नाटक लिखने का मेरा काम चल रहा है। गान लिख रहा हूँ। कैसे ? जिस क्षण मैं लिखने बैठा, मेरे चेतन-पुरुष ने लिखना शुरू ही किया कि उसके हाथ से कलम छीनकर मेरे भीतर का मनुष्य धडल्ले से लिखता ही चला गया।

"नाटक पढकर कई लोगों ने सोचा कि यह मेरा पागलपन है। यह क्या हुआ ! पाठक

के समान मुझे भी विश्लेषण कर उसमे प्रवेश करना होगा। मेरी इच्छा थी कि मै इस नाटक की सहायता से तुममे ऋतु-उत्सव के उपलक्ष्य से ऋतु का आनन्द जाग्रत कर दूँगा, ताकि तुम्हारे मन के साथ विश्व का योग स्थापित हो। यह इच्छा ही सक्रिय थी कि वसन्त का आनन्द और तात्पर्य इस नाटक की आड मे तुममे सचारित होगा। आर्ट हिसाब से यह बुरा नहीं हुआ।

"वसन्त का आइडिया इसमे यही है। वसत आया। देखते-देखते आम के मुकुल, किशलय आ गए। चारो ओर पुलक-कम्पन, प्राण का आन्दोलन देखते-देखते छा गया। मान लो, सुदर्शना का स्वामी है वसन्त! वृक्ष की मज्जा मे, धरणी की धूल में जो आनन्दरस का सचार कर रहा है, उसके साथ प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करने के लिए किस दृष्टि से उस ओर देखूँगा। मैने वसन्त से कहा--तुम रोज आते हो, तुम्हे इगित से आसपास मे पाता हूँ किन्तु मै तुम्हे पकडूँगा। वसन्त ने कहा--ठीक है, मैं सब स्थानो पर हूँ, मुझे पकडो। फूल झड गए, पत्ते उग आए, सभी जगह तो वसन्त है। यहा वसन्त ऋतु के साथ राजा की तुलना है। फूल, पत्ते, फल, आकाश इस सभी प्रकार की विचित्रता मे वसन्त है। मैं यदि कहूँ कि वसन्त का आनन्द केवल एक स्थान पर पाना चाहता हूँ, मै यदि कहूँ कि मैं आम के मुकुल मे ही वसन्त चाहता हूँ,--तो नहीं मिलेगा। मुकुल तोड सकता हूँ किन्तु उसमे उसे नहीं पा सकता। झडनेवाले फूल, प्रस्फुटित फूल, सभी मे, जिसने विचित्र मे अपने को प्रकट किया है, उसे छिन्न कर एक स्थल पर सीमित कर देख नही सकता। ठाकुरदादा ने सभी मे वसन्त के आनन्द की उपलब्धि की है। उसने कहा है--'लाले लाल हल'। उसने सभी स्थलो पर वसन्त के उत्सव मे यथार्थ योग दिया है--इसीलिए उसका चरित्र रखा गया है।

"सुदर्शना को अँधेरे कक्ष मे आभास मिलता है। अन्तरात्मा मे हम उनकी, एक प्रकार के असीम की अनुभूति पाते है। पूर्णिमा की रात को नदी पर नौकाचालको का गान शुरू होता है, मोहल्ले के लोग भी गाने लगते हैं। ज्योत्स्ना के माध्यम से शुभ्र अँगुली का स्पर्श असीम को लगा। असीम--किस प्रकार उसका परिचय हुआ। इसीलिए यह गान है। इसी प्रकार शेफाली शिशिर मे शारदलक्ष्मी का स्पर्श पाता है। मनुष्य के साथ मनुष्य का जो सम्बन्ध है उसमे भी असीम का प्रश्न है। बाउल कहता है--अपरिचित पक्षी किस प्रकार आता है, जाता है, प्राणो मे किस प्रकार आता है, जाता है। सुदर्शना अनुभव करती है कि अन्धकार के भीतर से वे आते हैं। किन्तु आभास से तृप्ति नहीं होती। अनुमान मानकर भ्रम ही होता है। सब्जेक्टिव (आत्मनिष्ठ) अन्तर के स्वप्न-सा लगता है। सुदर्शना प्राचीर की भाँति स्पष्ट देखना चाहती है।

"सभी मनुष्य कहते हैं कि विराट्, सर्वव्यापी मे ही सुख है। मैं उन्हे ही पाना चाहता हूँ। मैं रुपयो की थैली मे उन्हे पाना चाहता हूँ। टकसाल मे जैसे उसका जन्म है। भूमा (ईश्वर, सर्वव्यापी) का स्पर्श अन्तर मे है। कोई रुपए, जमीन-जायदाद मे उसे पाना चाहता है। सुदर्शना उस प्रकार उन्हे बाहर पाना चाहती है। सुरगमा सिर नीचा करके रह गई। बाहर देखने की उसकी इच्छा नहीं रही, क्योंकि बाहर पाप के वातावरण में उसने आघात पाया था। इसीलिए प्रभु ने कहा--तुम अपने मे समाहित होकर यहीं मेरी सेवा करो। यहीं

उसकी खुशी है—अन्धकार मे पॉवो की आहट सुनकर भी सुरगमा चचल नही है। सुदर्शना चचल है। वह मानती है —उनके समक्ष मेरी कद्र है। इसीलिए अहकार है। वह विशेष रूप से खोजने गई। ऑखो को जो बहुत बडा आडम्बर लगा, वह था भडराज सुवर्ण, पलाश फूल, लोग, गोलमाल आदि। इस मोह और मत्तता मे सुदर्शना भीतर-ही-भीतर कुछ समझ गई थी कि ठीक नहीं हुआ। 'भूतेषु-भूतेषु विचिन्त्यधीरा'—मेरी कामना, वासना, अभिमान इत्यादि ही इसे सबमे देखने मे बाधक है। सभी जहॉ मिले है वहॉ मै सहयात्री हो सकती हूॅ। अपना अभिमान चूर्ण होते ही उसे सर्वत्र पाया जा सकता है।

"रानी अहकार भूलकर जब विश्वयात्री पथिक के साथ हो लीं, तब राजा ने कहा—अब बाहर के प्रकाश मे मुझे देखो। सब अभिमान चूर्ण होने पर—'असतो मा सद्गमय'—अन्धकार से बाहर जाने का वह अधिकारी हुआ था। सुरगमा को भी राजा ने बाहर आने की अनुमति दी। अन्यो की सेवा करते-करते सुदर्शना के साथ यह जो सब हुआ,उसके साथ ही उसने मुक्ति पाई।

"भीतर और बाहर दोनो स्थानो पर उन्हे पाना होगा। बाहर पाने मे कई दु ख हैं। कई दु ख सहन करने होगे। प्रत्येक पदक्षेप पर बाहर का परिचय दु ख के माध्यम से होता है—तभी अन्धकार का द्वार उद्घाटित होता है। 'भोर हल विभावरी'।

"ऋतु की दृष्टि से भी तात्पर्य है—विशेषतया वसत को देखा नहीं जाता। वसन्त के आनन्द की जब मुझे अनुभूति होती है, तब बाहर सर्वत्र पक्षियो के गान मे, आकाश के धूलिकणो मे वही आनन्द है।

"वसन्त मुझमे व्यक्त हैं, बाहर के इन पेड-पत्तो मे भी व्यक्त है। अन्तर मे वसन्त है, बाहर वसन्त है। जो असीम अन्तर मे वीणा बजा रहे हैं, वह असीम आकाश मे तारो-तारो मे सर्वत्र वीणा बजा रहे हैं। वह आनन्दम् आकाश मे है, वह आनन्दम् अन्तर मे है। ऑखे बन्द कर यदि अन्तर मे उन्हे पाना चाहते हो, तो फिर विश्व क्या धोखा है ? तुममे प्रवचना नहीं है, विश्वास है !

"सत्य की उपलब्धि मैने तभी की है जब मैंने उसे अन्तर मे और बाहर पाया है। सर्वत्र यह आनन्द विद्यमान है, अन्यथा वह मुझमे नहीं रहता। विशेष किसी स्थान पर नहीं, तीर्थ मे नहीं, सब स्थलो पर उनका अस्तित्व है—यह बात जो कह सका, उसने कहा, हो गया, उन्हे पूर्ण रूप मे उपलब्ध किया गया।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर
पौष तृतीया, १३२२ बगाब्द (ई १९१५)

गुरुदेव के नाटको को लेकर आलोचना करते समय लगता है कि उन्होने अपने अधिकाश अभिनयोपयोगी नाटको की पहली बार रचना बाहर के अनुरोध या बाहर की आवश्यकता के तकाजे के कारण की। इसके साथ-साथ यह भी देखा गया है कि उन्हे उन लोगो के बारे में भी नाटक-रचना के समय सोचना पडा है जिनसे वे अभिनय कराने वाले है और उसी के अनुसार नाटक मे विभिन्न चरित्रो की सृष्टि करनी पडी है। किन्तु उनकी

स्वाभाविक क्षमता के गुण से जरूरत के तकाजे से लिखे गए नाटक भी उस स्तर से ऊपर उठे हैं एव अन्तत सृष्टि के स्तर के हो गए है।

उनके यौवनकाल मे अभिनीत नाटक 'वाल्मीकि प्रतिभा', 'कालमृगया', 'मायार खेला', आदि गीतनाट्य उन्होने घर के आत्मीय-स्वजनो के तकाजे और बन्धु-पत्नियो के अनुरोध पर लिखे। मेरा अनुमान है कि उन नाटको मे पहली बार जिन्होने अश ग्रहण किया था उन्हे ध्यान मे रखकर अभिनय और गान की योग्यता का विवेचन किया गया था।

इनके बाद 'राजा ओ रानी', 'विसर्जन', और 'वैकुण्ठेर खाता' की रचना उन्होने की। इनमे से अन्तिम दो नाटक घर के बालको के आग्रह और कलकत्ता के सगीतसमाज के अनुरोध पर लिखे गए। यह पता नहीं चल सका कि 'राजा ओ रानी' किसी के अनुरोध पर लिखा गया या नहीं। किन्तु मेजदादा (तृतीय बडे भाई) के पास वे सोलापुर घूमने गए, तब उन्होने यह नाटक लिखा और कलकत्ता लौटते ही इसका अभिनय कराया–इस घटना से लगता है कि किसी का अनुरोध इस रचना के पीछे प्रेरणास्रोत रहा है।

अब तक रचित नाटको मे घर के बालक-बालिकाओ, आत्मीयो ने भाग लिया। अभिनय भी आत्मीयो, बन्धुओ और विशेष रूप से निमत्रित अतिथियो को दिखाया जाता था। इसीलिए स्त्रियो और पुरुषो ने नाटको की सभी भूमिकाओ मे समान रूप से स्थान पाया है।

इसके बाद ई १९०१ से उनके शान्तिनिकेतन-निवास का युग आरम्भ हुआ। शान्तिनिकेतन का परिवेश पूर्णतया पृथक् था। आश्रम मे वे आत्मीय-स्वजनो से परिवेष्टित नहीं थे, वहॉ बगाल के मध्यवित्त शिक्षित समाज के छात्रो और शिक्षको के साथ रह रहे थे। शान्तिनिकेतन-युग के पहले पन्द्रह-सोलह वर्षो के काल के उल्लेखयोग्य नाटक हैं 'शारदोत्सव', 'मुकुट', 'अचलायतन', 'फाल्गुनी' और 'डाकघर'। इन कुछ नाटको मे स्त्रीचरित्र बिलकुल नहीं है। केवल 'डाकघर' मे अल्प समय के लिए एक छोटी बालिका है। इस प्रकार के इतने नारीचरित्र-वर्जित नाटक उन्हे उस युग के शान्तिनिकेतन को ध्यान मे रखकर लिखने पडे। उस समय आज के समान छात्रो के साथ छात्राओ के पढने की कोई व्यवस्था नहीं थी। इसके अलावा शान्तिनिकेतन के समाज को भी यह बात मान्य नहीं थी कि युवतियॉ प्रकट रूप मे युवको के साथ अभिनय करे। इस असुविधा को ध्यान मे रखकर ही उन्हे नारीचरित्र-वर्जित नाटक लिखने पडे।

शान्तिनिकेतन के इस युग मे केवल दो नाटक ऐसे हैं, जो नारीचरित्र-वर्जित नहीं हैं–'राजा' और 'प्रायश्चित्त'। इस युग मे अचानक उन्होंने ये दो नाटक क्यो लिखे, विदित नहीं। 'राजा' नाटक शान्तिनिकेतन के बाहर के किसी की आवश्यकता एव अनुरोध पर लिखा हो सकता है। पता चला है कि 'प्रायश्चित्त' कलकत्ता के साधारण रगमच के प्रयोक्ताओ के अनुरोध पर लिखा गया एव यह नाटक साधारण रगमच के उपयोगी बगला नाटक की रीति से लिखा गया, इसीलिए इसमे स्त्रीचरित्र रखें गए। जो भी हो, ई १९२१ तक उन्होने नारीचरित्र-वर्जित नाटक अधिक लिखे। इस श्रेणी का अन्तिम नाटक है 'मुक्तधारा'। इसमे एक अल्पकालिक स्थल पर मात्र एक अर्धपागल स्त्रीचरित्र है। गुरुदेव ने शान्तिनिकेतन

मे इस नाटक का अभिनय नहीं कराया।

जीवन के शेष बीस वर्षो मे गुरुदेव ने जितने भी नाटक लिखे, उनमे से अधिकाश शान्तिनिकेतन-विद्यालय की मॉग को ध्यान मे रखकर लिखे गए। शेष नाटको की रचना कुछ पेशेवर रगमच के अनुरोध पर की गई। प्रथम वर्ग के नाटको मे हैं–'वसन्त', 'नटीर पूजा', 'रक्तकरबी', 'ऋतुरग', 'तपती', 'नवीन', 'शापमोचन', 'हास्यकौतुक', 'कालेर यात्रा', 'चण्डालिका', 'तासेर देश', 'श्रावणगाथा', 'चित्रागदा', और 'श्यामा'। इस समय शान्तिनिकेतन मे नाच का अनुशीलन अच्छी तरह से शुरू हो गया था और क्रमश उसका विकास भी हो रहा था। इसीलिए नाच इस समय के नाटकों का एक प्रधान अग है। इसकी परिणति नृत्यनाट्य मे हुई। इस समय एक विदेशी सिनेमा कम्पनी के अनुरोध पर 'शिशुतीर्थ' पहले अग्रेजी मे लिखा गया। बाद मे शान्तिनिकेतन मे इसका नृत्याभिनय हुआ। 'वसत', 'नवीन', 'ऋतुरग', 'श्रावणगाथा' एक प्रकार की गीतबहुल नाटिकाएँ है। 'नटीर पूजा', 'रक्तकरबी', 'तपती', 'चण्डालिका', 'तासेर देश', 'कालेर यात्रा' प्राय साधारण नाटको के समान है। 'नटीर पूजा' और 'चण्डालिका' की जब पहले रचना की गई, तब उनमे पुरुष-चरित्र नही थे।

ई १९२० के कुछ समय पूर्व से शान्तिनिकेतन के कर्मियो की लडकियो मे से कई विद्यालय के छात्रो के साथ पढाई करने के लिए आगे आई। यहाँ की महिलाओ की स्वाधीनता भी पहले की अपेक्षा बढ गई। बाहर की स्त्रियो की शान्तिनिकेतन मे शिक्षा की सुविधा के लिए ई १९२० मे श्रीनिकेतन का शिलान्यास हुआ। ई १९२१ मे कलकत्ता मे 'वर्षामगल' आयोजित किया गया, उसमे छात्रों के साथ कई छात्राओ ने भाग लिया। ई. १९२२ मे प्रस्तुत 'वसन्त' गीतनाट्य मे युवतियो ने गान के साथ नृत्याभिनय किया। इस समय से गान मे, अभिनय मे युवतियो ने युवको के समान स्थान प्राप्त किया। नाच का अनुशीलन इस समय सामान्य रूप से शुरू हुआ। 'नटीर पूजा' के अभिनय के बाद नाच का अनुशीलन और बढ गया। इसीलिए इस युग के नाटको मे उनके गानों के अवलम्बन से नाच जोडे जाने लगे। यह बात मैंने पहले ही कही है। इन नाटको के नाच मे युवतियो ने विशेष अश ग्रहण किया।

इस युग मे ही दो नाटको की रचना की गयी, जिनमें प्रथम बार की रचना मे पुरुष-चरित्र बिलकुल नहीं रखा गया था। ये नाटक हैं 'नटीर पूजा' एव 'चण्डालिका'। 'नटीर पूजा' की रचना के पूर्व गुरुदेव ने यह निश्चय किया था कि विद्यालय की छात्राएँ श्रीमती प्रतिमादेवी की सहायता से 'कथा ओ काहिनी' की 'पुजारिणी' कविता के साथ मूकाभिनय करेगी। इन छात्राओ का उत्साह देखकर और इन्हीं को ध्यान मे रखकर गुरुदेव ने बहुत ही कम समय मे 'नटीर पूजा' नाटक लिख दिया तथा स्वय ही उन्हें अभिनय भी सिखाया। 'चण्डालिका' के मामले मे गुरुदेव चाहते थे कि श्रीमती देवी (श्री सौम्येन्द्रनाथ ठाकुर की पत्नी) और नन्दितादेवी को लेकर इस नाटक मे सवाद और नाच मे अभिनय कराया जाए। यह नाटक चूँकि इन दो महिलाओं को ध्यान मे रखकर लिखा गया था, अत पहली बार की गई इस रचना मे कोई पुरुष पात्र नहीं था। अन्तत यह नाटक अभिनीत नही हुआ।

कुछ वर्षो बाद नृत्यनाट्य के युग मे नाटक को पूर्णतया बदलकर उसे नृत्यनाटक मे परिणत कर दिया गया। इस पर्व के एकमात्र नाटक 'कालेर यात्रा' मे किसी गान या नाच का सुयोग नहीं है।

पेशेवर रगमच के अनुरोध पर इसी समय 'चिरकुमार सभा', 'शोधबोध', 'शेषरक्षा', और 'परित्राण' की रचना हुई। गुरुदेव ने स्वय इन नाटको का अभिनय शान्तिनिकेतन मे कभी नही कराया।

इसके साथ और एक बात कहना आवश्यक है कि गुरुदेव ने यद्यपि सामयिक प्रयोजन की ताकीद के कारण विभिन्न पद्धतियो के नाटको की रचना की, फिर भी देखा जाता है कि नाटक की रचना के समय अपने मन की किसी विशेष चिन्तनधारा को रूप देने की चेष्टा उन्होने की है। प्राचीन कहानी के अवलम्बन से उन्होने नाटक लिखे हैं, किन्तु उस कहानी को उन्होने अपनी चिन्तनधारा के अनुरूप सजाया है। अन्यथा ऐसी कहानी का चयन किया है, जो उस समय के उनके हृदयावेग की अभिव्यजना के अनुकूल हो।

अब 'अरूपरतन' नाटक की कुछ विस्तृत आलोचना करूँगा, क्योकि इसके परिवर्तन का इतिहास विविध ढग से कुतूहल-उद्दीपक है। इसका पूर्व रूप था 'राजा'। 'राजा' नाटक शान्तिनिकेतन के प्रारम्भिक युग के नाटको मे एक व्यतिक्रम है, यह बात मैने पहले कही है। इसमे कई नारी-चरित्र हैं। सुदर्शना और सुरगमा ही उनमे प्रधान है। यह नाटक पहले आश्विन, १३१७ बगाब्द (ई १९१०) मे लिखा गया. उसी वर्ष पौष माह में यह मुद्रित हुआ और इसका प्रथम मचन शान्तिनिकेतन मे चैत्र की पचमी को हुआ। २४ वैशाख, १३२८ बगाब्द (ई १९२१) को गुरुदेव के जन्मोत्सव के उपलक्ष्य मे यह नाटक पुन अभिनीत हुआ। उस समय उसके बाद छुट्टियॉ हुई थीं। इस समय भी महिलाओ को अभिनय मे भाग लेने का अधिकार नहीं था। 'राजा' की रचना का इतिहास क्या था एव 'राजा' की रचना के समय गुरुदेव की चिन्तनधारा किस प्रकार क्रियाशील थी, मेरे पितृदेव के अनुलेखन से वह अश इस अध्याय के आरम्भ मे सकलित हुआ है।

'राजा' नाटक मे गुरुदेव ने ठाकुरदा की भूमिका निभाई थी। उस समय उनमे गाने की क्षमता थी, इसीलिए कई गान उन्हे ही गाने पडे थे। बाउल, पागल, बालको के चरित्र की सृष्टि कर कई गान उनसे गवाए गए है। इस चरित्र की सृष्टि का उद्देश्य गायक छात्रो और कर्मियो को नाटक की ओर आकृष्ट करना था।

१३२६ बगाब्द (ई १९१९) मे 'राजा' नाटक का अभिनययोग्य सक्षिप्त सस्करण तैयार हुआ और उसका नाम भी परिवर्तित होकर हुआ 'अरूपरतन'। सुदर्शना और सुरगमा को छोडकर अन्य सभी नारीचरित्र निकाल दिए गए। उस समय तक भी स्त्री-पुरुष के एक साथ अभिनय पर कइयो को आपत्ति थी। सुदर्शना और सुरगमा के चरित्र निकाल देने पर नाटक मे कुछ रहता ही नहीं, अत उन्हे रहने दिया गया और उनके चरित्र मे कोई परिवर्तन नहीं किया गया। गायक-दल के गानो के हिसाब से चौबीस से भी अधिक गान इस छोटे नाटक मे रखे गए थे। सुरगमा के गानो की सख्या कम की गई और अतत उसका एक ही गान रहा। इसके अलावा ठाकुरदा, बाउल, बालको के गान है। शान्तिनिकेतन

मे उस समय तक अभिनय, गान मे युवक-दल का प्राधान्य अधिक था। इसका प्रभाव इस परिवर्तन में है। नारीचरित्र रूप मे युवको ने अभिनय किया।

१३३१ बगाब्द (ई १९२४) मे कलकत्ता मे १३२६ बगाब्द (ई १९१९) के 'अरूपरतन' के अवलम्बन से एक मूकाभिनय पेश किया गया। इस अभिनय मे विद्यालय की छात्राओ ने ही अश ग्रहण किया। पृष्ठभूमि से छात्रो एव छात्राओ ने एक साथ गान गाए थे, किन्तु गानो की सख्या काफी कम हो गई थी, गुरुदेव ने केवल आवृत्ति की थी।

१३३८ बगाब्द (ई १९३१) मे गुरुदेव के ७०वे जन्मोत्सव के उपलक्ष्य मे 'अरूपरतन' नाटक मे बहुत परिवर्तन किए गए। नए दृश्य रखे गए, कई नए गानो का समावेश किया गया--नाम रखा गया 'शापमोचन'। आरम्भ मे इन्द्रसभा का दृश्य है। अत मे अन्धकार मे राजा, रानी और उनकी सखी। घटना का प्रवाह कायम रखने के लिए गुरुदेव ने बीच-बीच मे गद्य मे आवृत्ति की। उसके साथ मूकाभिनय हुआ। गानो के साथ था नृत्याभिनय। गान भिन्न गायक-दल ने गाए। इस समय प्रकट रूप से युवको के साथ युवतियो को भी नाच, गान, अभिनय का अधिकार मिला था। यह नृत्यनाट्य कई बार अभिनीत हुआ। हर बार गायक, गायिका, नर्तक, नर्तकी की क्षमता के अनुसार अदल-बदल हुआ। गुरुदेव हर बार ऐसा करते थे। शान्तिनिकेतन मे अपने जीवन के शेषकाल मे एक बार 'डाकघर' के मचन के समय गुरुदेव को माधव दत्त की भूमिका के लिए उपयुक्त अभिनेता मिल नहीं रहा था। उस समय आश्रम की किसी एक महिला की अभिनय-निपुणता के बारे मे उन्हे सूचित किया गया, उसके फलस्वरूप माधव दत्त के साथ उनकी स्त्री की भूमिका नाटक मे रखी गई। माधव दत्त के सवाद प्राय रखे ही नहीं। किन्तु अन्तत इस रूप मे नाटक खेला ही नही गया।

१३४२ बगाब्द (ई १९३५) मे कलकत्ता मे गुरुदेव ने 'अरूपरतन' नाटक अन्तिम बार पेश किया। गुरुदेव ने स्वय ठाकुरदा की भूमिका निभाई। उस समय उनकी आयु ७४ वर्ष थी। इस उम्र मे कठ मे पहले के समान शक्ति न रहने के कारण ठाकुरदा के कुछ गान गाने के लिए मुझे निर्देश दिया गया। यह निश्चय किया गया कि ठाकुरदा के चेले के रूप मे मै रगमच पर उनके साथ रहूँ और गान के समय उनके साथ गाऊँ। इस प्रकार कुछ गान मैंने गाए थे। इस बार 'अरूपरतन' नाटक मे और परिवर्तन किए गए। पहले के कई गान निकाल दिए गए और कई नए गानो की रचना की गए। इस बार सुरगमा के गानो की सख्या मे वृद्धि हुई, क्योकि अब नाच का युग था। नृत्य के माध्यम से गान के भाव अभिव्यक्त करना पहले से अधिक सहज हो गया। श्रीमती अमिता ठाकुर और श्रीमती नन्दिता देवी ने क्रमश सुदर्शना और सुरगमा की भूमिका ग्रहण की। शान्तिनिकेतन मे उस समय नन्दितादेवी छात्राओ मे नृत्य में अन्यतम प्रधान थीं। यह देखकर कि नृत्य मे अभिनय करने मे असुविधा नहीं होगी, गानो की सख्या बढाई गई। कुछ नवीन नारी-चरित्र का भी समावेश किया गया। पहले का गायक-दल भी अब नहीं रहा, उसकी आवश्यकता भी उस समय नहीं थी।

गुरुदेव की मृत्यु के लगभग एक वर्ष पूर्व 'पयला' वैशाख (वैशाख प्रतिपदा) को

'अरूपरतन' के मचन का निश्चय किया गया। उस बार गुरुदेव ने इसमे कोई भूमिका नही की। उस समय वे काफी दुर्बल हो गए थे और अस्वस्थ भी थे। किन्तु उनके सामने ही पूर्वाभ्यास की व्यवस्था की गई। जिन्होने बडे उत्साह से इस काम मे हाथ डाला था, अन्तत वे इस नाटक को पेश नहीं कर सके। तब गुरुदेव ने निश्चय किया कि "वैशाख प्रतिपदा को आम बागान मे प्रात कालीन अनुष्ठान मे मै स्वय ही इस नाटक का पाठ करूँगा और गायक-दल केवल गान सुनाएँगे।" उस समय नाटक उसी प्रकार पढा गया।

कविता, कहानी, उपन्यास के लेखक पूर्णतया अपने ढग से, अपने चिन्तन से लिख सकते हैं, उनके लिए काफी स्वाधीनता है, किन्तु नाटक की रचना मे लेखक पूर्ण स्वतत्र नहीं रहता। नाट्यकार को इन बातो पर विचार करना होगा कि किन लोगो से यह नाटक कराया जाएगा, नाटक कहॉ पेश होगा और देखेगे कौन। प्रयोजना की विविध सुविधा-असुविधा को ध्यान मे रखकर नाटक की रचना करनी पडती है। जैसे 'हैमलेट', कहा जाता है कि उसकी सृष्टि के पीछे भी शेक्सपीयर के समसामयिक अभिनेता रिचार्ड बारबेज का चरित्र है। अभिनय के विशेष पक्ष मे उनकी दक्षता, जिस ढग से सवाद बोलना वे पसन्द करते थे एव जिस प्रकार की अगभगिमा का प्रदर्शन उन्हे अच्छा लगता था—इन सब बातो का असामान्य प्रभाव हैमलेट के व्यक्तित्व मे है। फिर भी बारबेज के प्रभाव का अतिक्रमण कर 'हैमलेट' बहुत ऊपर उठा है। गुरुदेव के मामले मे भी उसी प्रयोजन, उद्देश्य की सीमा से ऊपर उठकर अमूर्त का सन्धान मिला है, आवश्यकता, सुविधा-असुविधा की सीमा का अतिक्रमण हुआ, नवीन 'अमूर्त' सृष्टि का मार्ग उद्घाटित हुआ है।

रवीन्द्र-जीवन का अन्तिम वर्ष

गुरुदेव के जीवन के अन्तिम वर्ष को अलग-अलग लोगो ने अलग-अलग दृष्टिकोण से देखा है, एव उन दिनो का विवरण लोगो के समक्ष रखा है। जीवन के प्रारम्भ से ही हमने गुरुदेव को सब समय हमारे बीच पाया है, किन्तु उस समय उन्हे निकट से समझने की शक्ति हममे नहीं थी। जब बडा हुआ, तबसे मुझे उनका साहचर्य मिलने लगा। वे अपने बहुविध कर्मजीवन के एक क्षेत्र मे मुझे प्रवृत्त करने की इच्छा से मुझे तैयार करने लगे। उनकी सृष्टि--नाच-गान, अभिनय, उत्सव के काम मे उन्होने मुझे लगाया है। इस दृष्टि से उनके जीवन का अन्तिम वर्ष किस प्रकार बीता था, उसी का कुछ परिचय देने का मै प्रयास करूँगा।

वे सर्वदा गान लेकर ही पागल थे, उन्होंने गान गाए है, गानो की रचना की है और सभी को गवाया है। किन्तु अन्तिम दिनो की अस्वस्थता के समय उनकी श्रवणशक्ति कम हो गई थी, अत गान सुनने मे मुश्किल पडती, गान-रचना मे वैसा उत्साह नहीं रहा, किन्तु सुनने के लिए वे उत्सुक रहते थे। सन्ध्या के समय छात्रो और छात्राओ से उन्हे गान सुनाने की व्यवस्था की जाती रही है, मैंने स्वय भी गाया है, हर समय उन्हे आनन्द प्रदान कर सका या नहीं, नहीं जानता।

अपनी ओर से गान सुनने की इच्छा प्रकट करने मे गुरुदेव सकोच अनुभव करते थे। उनका ऐसा स्वभाव ही था कि अपनी सुविधा के लिए अन्यो की सहायता न ली जाए। स्वस्थ रहते समय अपनी दैहिक सेवा के लिए अन्यो से सहायता लेना गुरुदेव के लिए असम्भव ही था। मैंने अपनी शैशवावस्था मे देखा है कि वे अपना काम प्राय स्वय ही करते थे, उस समय उनकी सेवा में केवल एक नौकर रहता था। नियमित गान सुनाने का दायित्व ग्रहण कर कहीं हम क्लान्त न हो जाएँ, इस आशका से ही वे कहते, "तुम लोगों को सुविधा हो तब आना।" उस समय हम उनकी इच्छा के अनुसार सम्भवत· उन्हे सन्तुष्ट नहीं कर सके, कई प्रकार की बाधाएँ उपस्थित हुई हैं--उनकी इच्छा को उस समय महत्त्व नहीं दिया। उनकी मृत्यु के बाद हमे अपनी भूल समझ मे आई।

उनके समक्ष गाते समय उनके यौवन-काल में रचित गानो की फरमाइश होती, उस समय के गान ही उन्हें अधिक प्रिय थे। उन्हीं मे से कुछ गानों का उल्लेख मैं यहाँ करता हूँ . 'आमार प्राणेर परे चले गेल के', 'मरि लो मरि', 'तोमार गोपन कथाटि', 'कागाल आमारे कागाल करेछ', हैलाफेला सारा बेला', 'आमार परान लये की खेला खेलाबे', 'बडो बेदनार मतो बेचेछ तुमि हे', 'आमार मन माने ना' इत्यादि। उन्होने प्राय यह मत व्यक्त

किया है कि इस समय के गानो ने उनके अन्तर मे जिस प्रकार प्रभाव अकित किया है, वैसा जीवन के परवर्ती काल मे रचित गानो से नही हुआ। हाल के उनके गान मेरे मुँह से सुनकर कई बार उन्हे नए-नए लगते थे, परिहास कर कहते, "यह क्या मेरी ही रचना है, मुझे तो याद ही नहीं आ रहा है कि मैने इन गानो की रचना कब की है। किन्तु गान सुनकर लगता है कि ये गान मेरे ही है।" पहले के गानो के प्रसग मे वे यौवन के आरम्भ के दिनो की घटनाओ का वर्णन करते। वे कहते, किस प्रकार पागल के समान ये गान गाते-गाते मेरा समय कटता। उन दिनो का कलकत्ता इतना शब्दमुखर नही था, बिजली-बाती के प्रकाश ने भी उस समय ज्योत्स्ना को आच्छन्न नहीं किया था। इस प्रकार की पूर्णिमा-रात्रि मे एक पतली आढनी शरीर पर डालकर ग्रीष्म की दक्षिण-हवा मे तीनमजिले भवन की छत पर देर रात तक अकेले पायचारी करते रहे है--चारो ओर ज्योत्स्ना का प्रकाश था, चादर के एक कोने मे बेलफूल की कलि बँधी रहती। उस समय उन्होने दिल खोलकर गान गाए हैं, उन गानो से पूरा मुहल्ला गूँज उठता। वे कहते, वह कठ पाकर उसे खो देने के समान बडा दु ख और क्या हो सकता है।

रोगशैया पर सोए रहते समय गान सुनाने के वक्त उनके साथ विविध विषयो पर थोडी-बहुत आलोचन्ना होती। बाल्यकाल के कई प्रकार के गान वे गाकर सुनाते, उनके गुरु विष्णु द्वारा सिखाए गए ग्रामीण छडा के गान, उनमे से एक-दो का उल्लेख उन्होने अपनी पुस्तक 'छेलेबेला' मे किया है। इस आलाप-आलोचना के प्रसग मे मैने इतना समझा कि वे भी मानते थे कि उनके साहित्य को लेकर जितनी आलोचना हुई है, उनके गान-भडार को लेकर उतनी आलोचना नहीं हुई है। उनके गानो मे आलोचना का विषय है, यह बात वे अनुभव करते थे, स्वाभाविक सकोचवश उन्होने अपने गानो के सम्बन्ध मे एक बार भी खुलकर आलोचना नहीं की। उनके गान-भडार ने भारतीय सगीत मे कितने नूतनत्व या वैशिष्ट्य की सृष्टि की है, उस सम्बन्ध मे सूक्ष्म भाव से उन्होने कभी विचार नही किया, किन्तु यह अवश्य जानते थे कि कुल मिलाकर उनके गान-भडार मे कुछ ऐसी सृष्टि हुई है जिससे वर्तमान रचयिता जिस प्रकार सहायता प्राप्त कर रहे हैं, भविष्य में भी यह भडार उनके लिए सहायक होगा। इसकी विस्तृत आलोचना, विश्लेषण-विवेचन होने पर इसकी शक्ति बढेगी, यह भी समझा जा सकेगा कि इसका स्थान कहाँ है, इसलिए आलोचना होनी चाहिए , ऐसा वे चाहते थे।

कारण जो भी हो, उनकी यह धारणा बनी थी कि "गायन-वादन मे पहले के समान मेरा दिमाग अब काम नहीं कर रहा है।" गान-रचना की बात उठते ही कहते, "तू तो कह रहा है, कितु वह शक्ति क्या अब मुझमे है? गले से 'सुर' निकलता ही नही।" इस प्रकार के मानसिक अवसाद की अवस्था मे भी वे गान-रचना का उत्साह पूर्णतया निरुद्ध कर रख नहीं सके। कुछ गानो की रचना हुई थी, किन्तु पहले के समान गान वह प्रवाह दिखाई नही दिया। 'सुर'-सयोजन और उसी 'सुर' (स्वर सज्जा, धुन) को याद रखकर सिखाने मे जो परिश्रम होता है उससे आधा परिश्रम भी कविता की रचना मे उनसे नही करना पडता था। इसीलिए कविता का स्रोत अन्त तक अवारित, अबाध रूप से मुक्त था।

रोगशैया पर लेटे रहते समय जब अपने हाथ से लिख नहीं पाते थे, तब प्राय तडके नींद टूटते समय नवीन कविता की आवृत्ति होती और ठीक उसी क्षण कविता लिख लेने के लिए सेवक-सेविका उपस्थित रहते।

यद्यपि वे कहते थे कि गान का बोध, विचार-शक्ति मैने खो दी है, किन्तु उस वर्ष पौष मास मे जिन कुछ गानो की रचना उन्होंने की थी, उनमे 'सुर'-सयोजन-क्षमता का किसी प्रकार का अभाव मुझे तो नहीं लगा। उन्होने कहा है—कठ मे 'सुर' (राग, धुन) 'खेलता' नहीं है, किन्तु गान मे 'सुर' का जहॉ तक आरोहण-अवरोह मिलता है, उससे पहले के दिनो के गान की तुलना मे अकृतकार्यता का परिचय नहीं है। 'उर्वशी' कविता अग्रहायण माह के अन्त मे एक सुन्दर गान मे परिणत हुई। मैं समझता था कि गान को स्वरबद्ध करने मे उन्हे कष्ट होता था, विशेषतया जब दुर्बलता के कारण उनका कठस्वर तार-सप्तक मे जाने मे सफल नहीं होता। हो सकता है, शायद यह मेरा ही भ्रम हो। मुझे ऐसा लगता कि जैसे वे इस अशक्यता को छिपाना चाहते हैं। कभी-कभी कह उठते, "'सुर' समझ सके हो ना, ठीक तरह से उठाना।" उस समय मेरे अन्तर मे यह विचार उठा है, जिन्होने जीवन भर गान गाए, इतनी रचनाऍ कीं, जिनके कठ से गान सुनने के लिए एक समय कितने ही लोग पागल रहते थे, आज उस महापुरुष की यह क्या विडम्बना है, अन्तर मे गान की प्रेरणा सतेज है, किन्तु कठ मे वह स्वर, वह शक्ति नहीं है। इसीलिए पहले के समान गान-रचना के लिए कहने का अर्थ था उन्हे दु ख देना, अत मन मे कष्ट अनुभव होता था। उन्हे गान सुनाते समय भी मन उस समय चिंतित हो उठता जब आनन्द मे वे स्वय गा उठते। कुछ क्षणो तक गाने के बाद बार्धक्य के कारण कम्पित, रोगदुर्बल कठ श्रान्त हो जाता। जब शरीर और मन अपेक्षाकृत सबल रहा, उस दिन सम्भवत कुछ अधिक क्षणो तक अपने मन से बीते दिनो के गान ही उन्होने गाए हैं—कभी ब्रह्मसगीत, कभी हिन्दी गान की कुछ पक्तियॉ, कभी शब्दहीन 'सुर'-आलाप, कभी अपने पुराने गान गाए हैं, यह सब सुनकर ऐसा लगता कि आज शरीर-मन स्वस्थ है। परिहास मे वे दौहित्री श्रीमती नन्दिता देवी की ओर सकेत कर कहते, "गाने मे लज्जा अनुभव होती है, मेरे बेसुरे गले से गान सुनकर बाद मे ये सभी छिपकर हॅसेंगे।"

अस्वस्थता के कारण गुरुदेव अभिनय और नाच-गान के पूर्वाभ्यास में योग नहीं दे पाते थे, किन्तु उनका ध्यान सब समय उसी ओर रहता था। १३४७ बगाब्द (ई १९४०) के पौष मास मे 'शापमोचन' अभिनीत हुआ, उस अस्वस्थ हालत मे भी गुरुदेव ने नाटक मे कुछ अदल-बदल किए, कुछ नए सवाद जोडे, गान-रचना की, तब कहीं निश्चिन्त हुए। पूर्वाभ्यास के समय पास के कक्ष से सुनते रहते कि गायन-वादन किस प्रकार हो रहा है। वहाँ से हमारे बीच आकर उस पूर्वाभ्यास मे योगदान न कर सकने के कारण उनका मन बेचैन रहता। अभिनय की अपेक्षा प्रतिदिन के पूर्वाभ्यास मे उन्हे अधिक आनन्द अनुभव होता। धीरे-धीरे ऑखो के सामने न जाने कैसी सृष्टि हो रही है, यह देखकर उन्हे आनन्द मिलता था। किसी दिन वे स्वय पूर्वाभ्यास में आकर उपस्थित हो जाते। अभिनय के दिन उन्हे पहले से ही बोल दिया जाता कि थोडी भी क्लान्ति महसूस होने पर घर ले जाने के

लिए कह दे, किन्तु यह कभी सम्भव नही होता। शरीर मे शक्ति न रहते हुए भी गुरुदेव अन्त तक जबरदस्ती बैठे ही रहना चाहते थे।

१३४८ बगाब्द (ई १९४१) के नववर्ष मे नाच-गान आदि के आयोजन मे हम सभी व्यस्त थे, क्योकि गत कुछ वर्षो से नववर्ष मे गुरुदेव की जन्मतिथि मनाई जाती रही है और उसी उपलक्ष्य मे उत्सव का आयोजन किया जाता रहा है। आयोजन के तीन-चार दिन पहले मै उनके पास गया, बरामदे मे बैठकर उन्हे कुछ गान सुनाए, बाद मे श्रीयुत् अमिय चक्रवर्ती आए। उन्हे देखकर गुरुदेव नववर्ष के अभिभाषण–'सभ्यता का सकट' की विषयवस्तु का वर्णन करने लगे। इसके लिए ही अमियबाबू को बुलाया गया था। अभिभाषण कुछ दिन आगे ही लिखा जा चुका था, वक्तव्य आरम्भ करने के पूर्व उन्होने कहा, यह सब बोलने का सामर्थ्य सम्भवत उनमे अधिक दिनो तक नही रहेगा, यहॉ तक कि, सम्भवत बोलने का सुयोग भी नहीं मिलेगा, अत इस बार ही मेरा यह अन्तिम वक्तव्य देश के समक्ष रखकर अपने कर्तव्य ही इतिश्री कर लूँ। पूरे वक्तव्य का विषय वे धीरे-धीरे बोलते गए, हम सभी ने निस्तब्ध भाव से वह वक्तव्य अत तक सुना।

मुझे लगता है कि उन्होने अन्तर की दृष्टि से देखा था कि निकट भविष्य मे देश मे क्या होने वाला है, आगामी नववर्ष की वाणी के माध्यम से गुरुदेव वही बात कह गए। सुना है कि इस द्रष्टा महामनीषी के अन्तर मे कई बार आनेवाले कल की घटनाओ का आभास मिलता था; उन्होने उल्लेख किया है कि विगत महायुद्ध के पहले ही इस जगद्व्यापी हिसा और रक्तपात के आभास से उनके मन मे वेदना जाग्रत हुई थी।[1]

मैंने सोचा कि गुरुदेव देश को नववर्ष की वाणी लिख भेज रहे है, किन्तु गान के रूप मे वाणी नहीं होगी, ऐसा हो नहीं सकता। दूसरे दिन मैंने आकर कहा, "नववर्ष के प्रभात मे वैतालिक के लिए एक गान की रचना करने मे आपको कष्ट होगा क्या ?" पहले उन्होने आपत्ति की, किन्तु मेरे आग्रह को देखते हुए इस पर टिके नहीं रह सके। उन्होने कहा, "सौम्य[2] ने मुझे मानव के जयगान के लिए एक कविता लिखने के लिए कहा है।

---

१ व्यक्तिगत जीवन मे भी उन्होने कई बार भावी दिनो का आभास पाया है, और वे उसके लिए तैयार भी हुए है। इस सम्बन्ध मे मेरे पितृदेव की एक चिट्ठी (ई १९१३) उद्धृत करता हूँ। इस समय गुरुदेव विलायत मे थे, और पितृदेव भी वहाँ एक कालेज के छात्र थे। चिट्ठी मे लिखा हुआ है–गुरुदेव ने जहाज पर नववर्ष के उत्सव का आयोजन किया। उत्सव बहुत अच्छा हुआ था। उस दिन वे अत्यन्त अनुप्राणित होकर कह रहे थे, "प्रतिवर्ष मुझे पूरे-वर्ष का आभास मिलता है। रथी की मॉ (पुत्र रथीन्द्रनाथ की माता मृणालिनी देवी) की जिस वर्ष (७ अग्रहायण, १३०९ बगाब्द–ई १९०२) मृत्यु हुई, उस बार नववर्ष मे उत्सव हुआ था। किन्तु मेरे मन मे न जाने कैसी चिन्ता जागी। मैंने अनुमान लगाया कि इस वर्ष जैसे किसी की मृत्यु का योग है। रथी की मॉ को कमरे मे ले जाकर मैंने कहा कि इस वर्ष एक मृत्यु घटित होने वाली है। किसी एक की मृत्यु का चेहरा सामने रखकर हमे चलना होगा, तैयार होना होगा। उसके बाद उनकी मृत्यु के कुछ पहले शिलाइदह से उन्हे जो पत्र मैंने लिखा था, पढकर देखा कि उस पत्र मे भी मृत्यु के आभास की जानकारी उन्हे दी थी। मै नववर्ष को उसी विशेष दृष्टि से देखता हूँ। इस बार समुद्र देखा–आने वाले वर्ष मे उसी विशाल मे मेरी यात्रा, अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर"।

२ श्रीयुक्त सौम्येन्द्रनाथ ठाकुर।

उसका कहना है कि मैं यन्त्र का जयगान करता हूँ, मानव का जयगान नहीं करता। इसीलिए मैंने एक कविता लिखी है, वही होगा नववर्ष का गान।" पास ही श्रीमती मैत्रेयीदेवी बैठी थीं। उन्होने गुरुदेव की कॉपी खोलकर कविता की नकल कर मुझे दी। कविता कुछ बडी थी। कविता देखकर मैने सोचा कि इतनी बडी कविता के 'सुर'--सयोजन हेतु उन्हे कहने का अर्थ उन्हे कष्ट देना है। सुर-सयोजन हेतु कुछ प्रयास भी उन्होने किया, किन्तु उस दिन यह सभव नहीं हो सका। उन्होंने कहा, "कल होगा।" दूसरे दिन उस कविता को सक्षिप्त करते-करते अन्तत वह उस आकार मे रही जिस आकार मे आज 'ओई महामानव आसे' गान है। इस गान के आरम्भ के जैसे दो रूप मुझे मिले थे, उन्हे यहॉ उद्धृत कर रहा हूँ

ऐ मानव आसे
महामानव आसे
दिके दिगन्ते रोमाच लागे
सारा धरणीर घासे घासे।
आजिके बातासे घोषणा उठिल
महाजन्मेर लग्न
अमावस्यार निबिड ऑधारे
आकाश आजिके मग्न।
दानवपक्षी अम्बरपथे
चालना करिछे पक्ष
मृत्युर बीजे कृषिर क्षेत्रे भरि दिबे छिल लक्ष्य।
आजि जन्मेर दिन,
स्वर्गलोकेर विजयपताका
ऐ हल उड्डीन।
थर थर करि धरणी यखन
कॉपिया उठिल त्रासे
उठियाछे रव माभै माभै
महामानव आसे।
मन्त्रमुग्ध यन्त्रेर दल
तार चरणेर काछे
महामानव आसे
तिमिर भेदिया विजयपताका
उड्डीन महाकाशे।
कोथाय बाजिल शख
कोथाय बाजिल डक।

जय मानवेर जय मानवेर
बाजे कण्ठे असख्य ।।

*　　　*

ऐ महामानव आसे आसे रे
ऐ महामानव आसे ।
दिके दिगन्ते रोमाञ्च लागिल
धरणीर घासे घासे ।
बातासे बातासे घोषणा उठिल
एल महाजन्मेर लग्न
आकाश आजिके मग्न
मृत्युर वाहन दानवपक्षी
पक्ष हयेछे आज भग्न
एल शुभजन्मेर दिन
दिव्यलोकेर आजि जययात्रार पथे किरणपताका उड्डीन
उदयशिखरपथे माभै माभै रव ऐ महामानव आसे
द्युलोक भूलोक आजि ज्योतिविभासित
नवजीवनेर आश्वासे
सुरलोके बेजे ओठे शख
नरलोके बेजे ओठे डक
जय जय मानवेर जय महामानवेर
बेजे ओठे कण्ठे असख्य ॥

१३४८ बगाब्द (ई १९४१) के २५ वैशाख के गुरुदेव के जन्मोत्सव को लेकर पूरे बगाल मे उत्साह के साथ आयोजन हो रहे थे, उसी उपलक्ष्य मे कलकत्ता मे एक कर्तव्य निभाकर लौटने पर अन्य एक काम के लिए मुझे चट्टग्राम जाना पडा। शान्तिनिकेतन लौटकर मैं गुरुदेव के पास गया। उन्होने पूछा कि २५ वैशाख के दिन यहॉ क्या आयोजन होगा। बातचीत से मैंने यह अनुमान लगाया कि उनकी इच्छा थी कि उस जन्मदिन के उपलक्ष्य मे नृत्य-गीत आदि का आयोजन किया जाए। जन्मदिन के एक दिन पूर्व सन्ध्या के समय मैंने गुरुदेव से पूछा, "उत्सव के समय मैं 'आबार यदि इच्छा कर आबार आसि फिरे' गान गाऊँ क्या?" उनके जन्मदिवस के गान के सम्बन्ध मे पूछने पर आपत्ति करते हुए उन्होने कहा, "तुम खुद ही चयन करो, मेरे जन्मदिवस के गान का मै चयन क्यो करूँ।" कुछ समय बाद उपरोक्त गान के प्रसग मे उन्होंने कई बाते बताई। इन सब बातो के पीछे उनका जो चिन्तन मुझे समझ मे आया वह यह था कि देश ने उन्हे सम्पूर्ण रूप से पहचाना नहीं, यह क्षोभ उनके मन मे है। उन्होने कहा था, "जब मैं (इस ससार से) चला जाऊँगा, तब लोग समझेगे कि मैने देश के लिए क्या किया है।" कुछ क्षण रुककर अन्तर के आवेग

से यह गान गाने लगे—'सार्थक जनम आमार जनमेछि एइ देशे'। मैने अनुभव किया कि देश उन्हे समझ नहीं सका, इसका जितना भी क्षोभ उनके मन मे क्यो न हो, किन्तु देश के प्रति उनका प्रेम कभी कम नहीं हो सका।

दूसरे दिन सुबह उनके पास जाकर मैंने कहा, "आपने अपने जन्मदिवस के उपलक्ष्य मे कविता लिखी है, भाषण दिया है, किन्तु एक गान की भी रचना नहीं की, यह ठीक नहीं लगता। इस बार २५ वैशाख को सम्पूर्ण देश आपका जन्मोत्सव मनाएगा, इस दिन के उपलक्ष्य मे एक गान की रचना न होने पर जन्मदिन का अनुष्ठान अधूरा ही रहेगा।

यह सब सुनकर गुरुदेव ने कहा, "तू पुन एक अजीब फरमाइश लेकर हाजिर हुआ है। मैं अपने जन्मदिवस का गान स्वय लिखूँ, लोग क्या कहेगे। देश के लोग इतने अज्ञान नहीं हैं, ठीक पहचान लेगे कि मैं अपना प्रचार खुद ही कर रहा हूँ। यहाँ जो बडे-बडे कवि हैं उनसे लिखवाने का तू प्रयास कर।" इतना कहकर वे उन कवियो के नाम बताने लगे। मैं हँसने लगा, उन्होने कहा, "क्यो, तुम सोचते हो कि वे कविता लिख नहीं सकते ?" उत्तर मे मैंने कहा, " आपके रहते हुए अन्यो से मॉगने की क्या जरूरत—जब जन्मदिन की कविता लिखी थी तब किसी ने आपको दोषी ठहराया था क्या ?" सहमत होकर गुरुदेव ने कहा कि दफ्तर से जन्मदिवस की सब कविताएँ ले आओ। 'पॅचिशे वैशाख' कविता के हे नूतन देखा दिक आरबार' अश को कुछ बदलकर 'सुर'-सयोजन किया। वह दिन था २३ वैशाख। दूसरे दिन प्रात काल यह गान मेरे कंठ से सुनकर कहा—"हॉ, अब ठीक हुआ है।"

उस दिन घुणाक्षर मे भी ध्यान मे नहीं आया कि यह उनके जीवन का अन्तिम गान है।

इस वर्ष जितने गानो की रचना की गई, उनमे से एक को छोडकर अन्य सभी गानो के लिए उन्होने भैरवी रागिनी का व्यवहार किया है। ऐसा क्यो हुआ, यही प्रश्न बार-बार मन में उठता है।

इस जन्मोत्सव की रातभर उन्होंने नाच-गान-अभिनय मे आनन्द के साथ योग दिया था और अन्त तक बैठे रहे थे।

यहाँ का जन्मोत्सव सम्पन्न कर पूर्व बगाल के विभिन्न स्थानों की यात्रा कर लौटने पर सुना कि गुरुदेव मेरे लिए अस्थिर हो उठे हैं। वे चाहते थे कि यथाशीघ्र सक्षिप्त वर्षामगल का आयोजन किया जाए, क्योकि इस वर्ष इस अचल मे वर्षा का घटाटोप छा गया है, उनका मन भी चचल हो उठा था। शान्तिनिकेतन मे सभी एकत्र होने के पूर्व ही वर्षामगल के आयोजन मे असुविधा थी, इसीलिए मैंने यह सोचा था कि कुछ दिन इतजार कर आयोजन किया जाए। इसी बीच एक दिन सन्ध्या के समय वर्षा की घनघटा से गुरुदेव का मन चचल हो उठा था, इसलिए मैने उन्हे वर्षा के कुछ गान सुनाए। वर्षा के साथ उनके अन्तर का क्या योग था, यह तो मैं नहीं जानता, किन्तु मैंने बार-बार देखा है कि वर्षा के दिनो मे वे जिस प्रकार चचल हो उठते थे, वह सामान्य मनुष्य में विरल है।

मैंने उनसे पूछा था कि वर्षा के गानो की रचना करने की उनकी इच्छा होती है क्या। उन्होंने कहा था, "इच्छा होते हुए भी गान-रचना नहीं कर सकूँगा, कठ मे शक्ति

नहीं, सोच भी नहीं सकता।" इस समय से उनका स्वास्थ्य गिरता ही गया। किन्तु वे इतने शीघ्र लोकान्तरित हो जाएँगे, इसकी हममे से कइयो ने कल्पना भी नहीं की थी। उन्हे कलकत्ता ले जाया गया, वहाँ से वे लौटे नहीं। उस समय लगा कि सम्भवत इसीलिए वे वर्षामगल के आयोजन के लिए इतने चचल हो उठे थे। अन्तर से उन्होने मृत्यु का आह्वान निश्चय ही सुन लिया था, समझ लिया था कि यदि वर्षामगल का शीघ्र आयोजन नही हुआ तो इस बार की वर्षा ऋतु इनके लिए वृथा रहेगी—हम उनके इस सकेत को समझ नहीं सके। उनके तिरोधान (२२ श्रावण, १३४८ बगाब्द, ई ७ अगस्त, १९४१) के एक माह बाद जब मैंने वर्षामगल का आयोजन किया, तब मेरे मन-मस्तिष्क मे यही बात घूम रही थी कि उस समय उनकी इच्छा पूरी नहीं कर सका, आज जिस लोक मे भी वे हो, हमारे बीच आकर इस वर्षामगल मे सानन्द योगदान करे, यह उत्सव हम उनके उद्देश्य से ही कर रहे हैं—यदि उत्सव सार्थक हुआ तो समझूँगा कि वे हमारे बीच थे, हमारा अर्घ्य उन्होने आनन्द के साथ ग्रहण कर लिया है।

संगीत की शिक्षा में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ

कलाविद्या का अनुशीलन मनुष्य की सर्वांगीण शिक्षा का एक प्रधान अग है, इस तथ्य को, कारण जो भी रहा हो, अग्रेजो के शासन-काल मे भारतवासी समझ नही पाए। इस कारण ही इस युग मे साधारण विद्यालयो की शिक्षा-व्यवस्था से शुरू कर विश्वविद्यालय के उच्च शिक्षाक्रम तक सगीत और चित्रकला का कोई स्थान नही था, एव इस युग के शिक्षाविदो मे ऐसा कोई दिखाई नहीं देता जो साहस के साथ यह कह सका हो कि कलाविद्या के अनुशीलन को विद्यालयो और विश्वविद्यालयो की शिक्षा मे सम्मानजनक स्थान दिया जाए। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने ही सर्वप्रथम देशवासियो का ध्यान इस विषय की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया एव बीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे अपने इस विचार को रूप प्रदान करने के लिए उत्साह से सक्रिय हो गए। बाद मे अपने लेखन, अपने भाषणो के द्वारा उन्होने देशवासियो को यह समझाना चाहा कि वे विद्यालय की साधारण शिक्षा-व्यवस्था मे कला-विद्या के अनुशीलन का विषय क्यो रखना चाहते है। इस विषय की आलोचना करने के पहले हमे यह जान लेना होगा कि शिक्षा के यथार्थ उद्देश्य या आदर्श के बारे मे गुरुदेव स्वय क्या सोचते थे। इस सम्बन्ध मे गुरुदेव का कहना है

"विद्या-शिक्षा का निम्नतर लक्ष्य है व्यावहारिक सुयोग की प्राप्ति अथवा उच्चतर लक्ष्य है मानवजीवन की पूर्णता-सिद्धि।"

"How to live a complete life is, according to me, the purpose of education."

'Complete life' - को अच्छी तरह समझाते हुए उन्होने कहा है

"Our education should be in full touch with our complete life, economical, intellectual, aesthetic, social and spiritual"

विश्वभारती की पूर्णांग शिक्षा का रूप कई लोग देख नहीं सके, अत गुरुदेव ने दु ख प्रकट करते हुए एक स्थान पर कहा है

"बाहर से जो लोग यहॉ आते हैं, वे आश्रम की इस विपुल समग्रता का रूप देख नही सकते।"

"हमारे कई छात्र आश्रम का सम्पूर्ण रूप देखे बिना ही चले गए है। यह अपरिहार्य है, सभी की शक्ति समान नहीं है। जब भी मुझे अवसर मिला है, कोई उपलक्ष्य रहा है,

मैंने जीवन की इस पूर्णता की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जीवन के किसी विशेष क्षेत्र मे कर्म को मैंने आबद्ध नही किया है।" इस प्रकार "मनुष्य ने पूर्णता का आविर्भाव जहॉ भी देखा है, शब्द मे, 'सुर' मे, रेखा मे, वर्ण मे, छन्द मे, मानव-सम्बन्ध के माधुर्य मे, वीर्य मे, वहीं उसने अपने आनन्द के साक्ष्य को अमरवाणी मे स्वाक्षरित किया है।"

गुरुदेव के मतानुसार मनुष्य के समग्र जीवन के प्रकाश, अभिव्यजना की चेष्टा के अगस्वरूप ही कलाविद्या की उत्पत्ति है, एव जो वर्ग सगीत और ललित कला की विद्या से वचित है, वे सर्वदा मौन ही रह जाते हैं, अत वे अपूर्ण है।

शिक्षा-क्षेत्र मे इस प्रकार के चिन्तन का अभाव था, इसीलिए विश्वभारती की प्रतिष्ठा के पूर्व उन्होने कहा था, "शिक्षा की इस प्रकार की सकीर्णता के कारण हमारा जीवन क्रमश विकलाग हो गया है। अब इसे और प्रश्रय देना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं होगा। हम यह जो शिक्षाकेन्द्र की स्थापना का प्रस्ताव रख रहे है, वहॉ सगीत एव ललितकला को सम्मान का आसन देना होगा।" किवा "विश्वभारती यदि प्रतिष्ठित हो तो भारतीय सगीत और चित्रकला की शिक्षा उसका प्रधान अग होगा—यही हमारा सकल्प हो।"

हम जानते हैं कि शान्तिनिकेतन विद्यालय की प्रतिष्ठा के समय से ही उन्होने कलाविद्या के अनुशीलन की व्यवस्था की थी। उस समय गुरुदेव देश के शिक्षित-वर्ग के समक्ष इस कार्य के समर्थन मे इतने जोर से यह बात नहीं कह सके। किन्तु विद्यालय के प्रारम्भिक काल मे सगीत की शिक्षा की प्रयोजनीयता के सम्बन्ध मे विदेश से एक शिक्षक को लिखी गई चिट्ठी मे जो बात लिखी थी, उससे यह स्पष्ट रूप से समझा जाता है कि उनकी चिन्तन-धारा किस आदर्श से अनुप्राणित थी। उस चिट्ठी मे उन्होने लिखा है—"हमारे विद्यालय मे आजकल गान का अनुशीलन शायद कम हो गया है, यह ठीक नहीं है, उसे सचेतन, जागरित रखो। हमारे विद्यालय की साधना का वह नि सन्देह एक प्रधान अग है। शान्तिनिकेतन मे बाहर की प्रान्तरश्री जिस प्रकार छात्रो-छात्राओ के मन को अनजाने ही तैयार कर देती है, उसी प्रकार गान भी जीवन को सुन्दर ढग से विकसित करने का एक प्रधान उपादान है। वे सभी गायक बन जाएँगे—ऐसा नहीं है, किन्तु उनके आनन्द की शक्ति बढ जाएगी, मनुष्य के लिए वह कम लाभ की बात नहीं है।"

शान्तिनिकेतन विद्यालय की स्थापना के पूर्व गुरुदेव किसी साधारण विद्यालय की शिक्षा-पद्धति की किसी धारा से अच्छी तरह परिचित थे, ऐसा भी नहीं है। कार्य आरम्भ कर, कार्य की सुविधा-असुविधा की विवेचना कर धीरे-धीरे ही उनके मन मे विद्यालय की शिक्षण-पद्धति के विषय मे निश्चित मतामत की सृष्टि हो गई। उनकी शिक्षण-पद्धति का मूल सिद्धान्त यह था कि छात्रो व छात्राओ के लिए शिक्षणीय विषय का ऐसा एक परिवेश तैयार करना होगा,जिससे छात्रो व छात्राओ का मन स्वत ही उस ओर आकृष्ट हो। प्रतिदिन के निश्चित क्रम (routine) की तरह क्लास मे पढाने के साथ-साथ प्रत्येक शिक्षक को सोचना होगा कि उन सब शिक्षणीय विषयों की ओर छात्रो व छात्राओ का मन किस प्रकार आकृष्ट किया जाए। छात्र जो विषय शिक्षक से सीखते है, उस विषय के प्रति शिक्षक का अनुराग यथेष्ट परिमाण मे प्रकट होना चाहिए। यह है परिवेश या वातावरण निर्माण करने का

एक विशेष प्रयोजनीय पक्ष। इसके अलावा छात्रो व छात्राओ के प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन की अभिज्ञता के माध्यम से शिक्षणीय विषय के साथ घनिष्ठ रूप से परिचित होने जैसे परिवेश की रचना करनी होगी। ये दो हैं गुरुदेव की शिक्षा-पद्धति के मूल सिद्धान्त। इस पद्धति मे उनका विश्वास कितना दृढ था, उसका परिचय निम्नोक्त कुछ उक्तियो से मिलता है। उन्होने लिखा हैं

"In educatıon, the most ımportant factor must be the ınspırıng atmosphere of creatıve actıvıty " छात्रो को सिखाते समय—"The atmosphere ıs a great deal more ımportant than rules and methods, buıldıng applıances, class teachıng and text books " इसी कारण उन्होने कहा—"I trıed to create an atmosphere ın my ınstıtutıon, gıvıng ıt the prıncıpal place ın our programme of teaching " एव इस परीक्षा मे सफल होने पर कहा है—"An atmosphere was created, and what was ımportant, thıs atmosphere provıded the students wıth a natural ımpulse to lıve ın a harmony wıth ıt."

अनुकूल परिवेश ही विद्यालय की शिक्षा का आदर्श मार्ग है, इस विषय मे विश्वस्त हो जाने के बाद उन्होने शान्तिनिकेतन की शिक्षा मे सगीत को उसी आदर्श से किस प्रकार परिचालित किया था, अब हम इस विषय पर विचार करेगे। पहले हम देखेगे कि इस आदर्श के अनुसार काम करने की गुरुदेव की प्रत्यक्ष अभिज्ञता हमे क्या बता रही है। इस विषय मे ई १९१६ मे "My School" नामक उनके एक प्रबन्ध की उक्ति से इस तथ्य का पता चलता है। उसमे उन्होने लिखा है

"When I first started my school my boys had no evıdent love for musıc The consequence was that at the beginnıng I dıd not employ a musıc teacher and dıd not force the boys to take musıc leassons I merely created opportunıtıes when those of us who had gıft could exercise theır musical culture It had the effect of unconscıously traınıng the ear of the boys And when gradually most of them showed a strong ınclınatıon and love for music. I saw that they would be willıng to subȷect themselves to formal teachıng and ıt was then that I secured a musıc teacher "

किन्तु शिक्षक नियुक्त करने पर भी मात्र क्लास के द्वारा गान-शिक्षा की पद्धति से अच्छा फल नहीं मिल सकता, इसीलिए उन्होंने पुन कहा है .

"I trıed to educate them through play-actıng, through lıstenıng to musıc ın a natural manner, and not merely by class teaching And thıs was my method I knew the children's mind.

"I had musıcal evenıngs—not merely music classes, and those boys

who at fist did not have any special love of music would, out of curiosity, listen to our songs from outside, and gradually they too were drawn in to the room and their taste for music developed "

इस प्रकार के वातावरण की सृष्टि को विशेष महत्त्व देने के साथ-साथ उन्होने एक और उपाय स्थिर किया था। वह है छात्रो व छात्राओ मे गान गाने का उत्साह जगाने के लिए उपलक्ष्य की सृष्टि। उन्होने अनुभव किया कि गान गाने का उपलक्ष्य छात्रो और छात्राओ के सामने रखने पर वे जिस उत्साह से गान सीखते है, वैसा उत्साह गान की क्लास मे गान सीखते समय नहीं देखा जाता। इसीलिए शान्तिनिकेतन मे विविध प्रकार के उत्सव-अनुष्ठानो, सभा-समितियो की कार्यसूची मे गान को प्रधानता दी गई। यहाँ के सभी लोगो के मन मे गुरुदेव ने धीरे-धीरे यह मनोभाव जाग्रत कर दिया था कि गान के बिना कोई भी अनुष्ठान पूर्ण नहीं होगा। इन उपलक्ष्यो को ध्यान मे रखकर यहाँ के छात्र एव छात्राएँ विविध विषयो एव पद्धतियो के सैकडो गान क्रमश सुनते हैं और सीखते है। यह शिक्षा पूर्ण आनन्द के परिवेश की शिक्षा है, इसके पीछे किसी प्रकार की जोरजबरदस्ती नहीं है। ये गान वे अपनी प्रेरणा से सीखते हैं। वे जानते हैं कि इन अनुष्ठानो मे गान पेश न कर सकने पर असम्पूर्णता रह जाती है, इसके लिए उन्हे ही लज्जित होना पडता है।

शान्तिनिकेतन की सगीत-शिक्षा को सहज और आनन्दमय बनाने के लिए कितने प्रकार के उपलक्ष्य यहाँ रखे गए, उनकी एक तालिका यहाँ देता हूँ। इससे यह समझा जा सकेगा कि इनकी आवश्यकता के अनुसार कितने विचित्र विषयो के गान यहाँ के छात्रो और छात्राओ को गाने होते थे। जैसे—प्रतिदिन सुबह क्लास के आरम्भ के पूर्व समवेत उपासना। प्रत्येक बुधवार को मन्दिर मे उपासना। वर्ष-समाप्ति, नववर्ष की उपासना और सभा। स्मरणीय व्यक्ति और महापुरुष के जन्मदिन और मृत्युदिन पर उत्सव और उपासना। विविध प्रकार के ऋतु-उत्सव—जैसे वर्षामगल, शारदोत्सव, दोल-उत्सव। प्रतिष्ठादिवस और समावर्तनदिवस के अनुष्ठान। गृहप्रवेश और आधार शिलान्यास। भिन्न-भिन्न प्रकार की सभा-समितियाँ, सम्मेलन। इनके अलावा छात्रो और छात्राओ द्वारा परिचालित नियमित साहित्यसभा और जलसे। गुरुदेव के विविध प्रकार के गीतबहुल नाटको का अभिनय। स्वाधीनता दिवस, प्रजातन्त्र दिवस के अनुष्ठान आदि और भी कई समारोह। इन सब अनुष्ठानो की माँग के अनुसार वर्षभर सभी लोग सैकडों गान सुनते हैं और गाते है।

शान्तिनिकेतन के छात्र एव छात्राएँ आरम्भ में निम्न श्रेणी मे भरती होती है, यदि इसी समय से वे इन सब अनुष्ठानो के गानो मे योगदान करे तो देखा जाएगा कि नौ वर्ष बाद प्रवेशिका परीक्षा के समय तक उन्होंने अन्य सभी शिक्षणीय विषयो के साथ कई गान सीख लिए हैं। इस बीच विषयवैचित्र्य, राग-रागिनी-वैचित्र्य और छन्द या तालवैचित्र्यपूर्ण विविध गान भी मिलेंगे। मैं अपनी अभिज्ञता से कह सकता हूँ कि इन सब उपलक्ष्यो को सामने रखकर हमने अपने छात्रजीवन मे सर्वाधिक गान सीखे हैं। शैशवावस्था के उपयोगी

नहीं, बल्कि विविध राग-रागिनी, ताल एव भाव के गान हमने उस समय से सुने है और हमे गाना भी पडा है। किन्तु हमे कभी ऐसा नही लगा कि गान कठिन है या हमारे लिए उपयोगी नहीं है। गानो के अर्थ समझने का हमने प्रयास नही किया। समझाने की चेष्टा करने पर भी उस शिशु-वय मे उसका एक वर्ण भी हमारे हृदयगम होता, मै ऐसा नही मानता। हमारे लिए उनका कोई प्रयोजन है, उस समय हमने यह भी नहीं समझा। मोटे तौर पर हम यही समझने का प्रयास करते कि किस उपलक्ष्य मे ये गान हमे गाना होगा। इसीलिए उसे ध्यान मे रखकर गान का मोटे तौर पर अर्थ हम सोच लेते थे। गान का यथार्थ अर्थ, राग-रागिनी का परिचय न जानते हुए भी गान हमारे लिए सर्वदा आनन्द की वस्तु थे।

मुझे आज भी स्मरण है कि शारदोत्सव के अभिनय के अन्त मे जब गुरुदेव के साथ हमारा शिशुदल एक साथ—'आमार नयन भुलानो एले'—गाते-गाते मच की प्रदक्षिण कर मच से जा रहे है तब, गुरुदेव के शब्दो मे, गान से नाटक के अन्तिम अश मे ऐसी वेदना के वातावरण की सृष्टि होती कि हमारे समान चचलमति शिशु भी अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकते थे। मन मे अकारण ही वेदना का बोध होता। इस प्रकार हमारे मन मे सभी गानो से किसी-न-किसी प्रकार के रस की सृष्टि हुई है। वर्षा के दिनो मे भीगते हुए बाहर निकलकर बडो के साथ कितने ही प्रकार के वर्षा के उल्लास के गान मैंने गाए है। पूर्णिमा की रात्रि में चन्द्रमा के प्रकाश मे गान, तडके प्रात कालीन रागिनियो मे वैतालिक गान, ऋतु-उत्सव के समय ऋतु-उपयोगी गान, विविध प्रकार के उपासना-उपयोगी गान मैंने सर्वदा सुने है एव गाए हैं। इन गानो के अर्थ पूछने पर सटीक उत्तर न दे सकने पर भी हमारे अन्तर पर इन गानो की अमिट छाप पडती, यह बात मै नि सकोच कह सकता हूँ।

गुरुदेव ने शान्तिनिकेतन के छात्रों और छात्राओ के अन्तर मे आनन्द का सचार करने के लिए गान, नाटक आदि कई प्रकार की रचनाएँ की थी, किन्तु जिस गान या नाटक को आज हम शिशुसुलभ रचना कहते हैं, ऐसी रचना उन्होने नहीं की। रचना करते समय उन्होने सर्वदा अपनी ही बात सोची। इसका भी एक कारण था। उस कारण की व्याख्या वे स्वय ही कर गए हैं। उस विषय की विस्तृत आलोचना करने के लिए यह जान लेना जरूरी है कि छात्रो और छात्राओ के पाठ्य के विषय मे गुरुदेव किस प्रकार विचार करते थे। ऐसा होने पर इस विषय मे कोई सशय नहीं रहेगा कि शिशुओ के लिए उपयोगी गानो की रचना किस प्रकार करना उचित है। इस विषय मे गुरुदेव का मत है, "शिक्षा प्रणाली ऐसी होनी उचित है, जिसमें छात्र पद-पद पर दुरूहता अनुभव करे, किन्तु उसका अतिक्रमण कर सके। इससे वे मनोयोग से सर्वदा काम मे लगे रहेगे एव सिद्धिलाभ के आनन्द के कारण उन्हे क्लान्ति अनुभव नहीं होगी।" अन्यत्र उन्होने कहा है, "शिक्षा का सबसे बडा अंग - समझा देना नहीं, अन्तर मे आघात करना, अन्तर को झकझोर देना है। उस आघात से अन्तर मे जो वस्तु बज उठती है, यदि किसी बालक को उसकी व्याख्या कर बताना पडे तो वह जो कुछ कहेगा, वह बिलकुल ही बचकानापन होगा। किन्तु मुँह से वह जो

बोल सकता है, उससे कहीं अधिक उसके अन्तर मे ध्वनित है, जो विद्यालय मे शिक्षक के रूप मे काम कर केवल परीक्षा के द्वारा ही फल का निर्णय करना चाहते है, वे इस तथ्य की जानकारी नहीं रखते, उन्हे इस तथ्य का ज्ञान नही है।"

यहॉ तक कि वर्तमान युग की शिक्षा मे जिस विपुल शिशुसाहित्य का आविर्भाव दिखाई देता है, उस सम्बन्ध मे भी गुरुदेव का सुचिन्तित मत है—"शिशुओ का हम अनादर करते हैं इसीलिए शिशु-साहित्य की रचना का भार प्रमत्त साहित्यकारो पर है। वे बचपना करने को ही बालसाहित्य मानते हैं। मैं बालको की श्रद्धा करता हूँ, इसीलिए जब मै हमारे विद्यालय मे बालक-बालिकाओ को पढाता हूँ तो मैं उनके लिए यथार्थ साहित्य का आयोजन करता हूँ—ऐसा साहित्य जो हम सबके लिए उपभोग की वस्तु है।"

गान के विषय मे वे जिस आदर्श के पक्षधर रहे, वह उनके शान्तिनिकेतन के जीवन मे रचित गानो से जिस प्रकार स्पष्ट रूप से प्रकट होता है, उसी प्रकार उनकी लिखित स्वीकृति से स्पष्ट होता है। उन्होने लिखा है ·

"Songs are composed, not specially made to order for juvenile minds They are songs that a poet writes for his own pleasure In fact, most of my 'gitanjali' songs were written here These, when fresh in their first bloom, are sung to the boys and they come in crowds to learn them They sing them in their leisure hours, sitting in groups, under the open sky on moon-lit nights, in the shadows of the impending rain of July All my latter-day plays have been written here, and the boys have taken part in their performance Lyrical dramas have been written for their season festivals They have ready access to the room where I read to the teachers any new things that I write in prose or in verse, whatever the subject may be And this they utilize without the least pressure put upon them, feeling aggrieved when not invited"

"They knew when I was employed in writing a drama, and they took an intense interest as it went on and developed, in the process of their rehearsals they acquired a real taste for literature more than they could through formal lessons in grammar and class teaching

इसका कारण है - "Their sub-conscious mind is more active than the conscious one, and therefore the important thing is to surround them with all kinds of activities which could stimulate their minds and gradually arouse their interests."

लेखक के छात्र-जीवन और गत तीस वर्षों के शिक्षक-जीवन की प्रत्यक्ष अभिज्ञता से मै अन्दर ही अन्दर अनुभव करता हूँ कि गुरुदेव का चिन्तन कितना सत्य है, एव इस

चिन्तन, विचार का अनुसरण कर जब मैं बगाल के शहरो, गॉवो के बालक-बालिकाओ के गानों की बात सोचता हूँ, तब भी मैं गुरुदेव के चिन्तन का समर्थन करता हूँ।

जब मैं बिलकुल शिशु था, तब गुरुदेव और दिनेन्द्रनाथ के सगीत-समारोह मे कई लोगो के साथ बैठा हूँ, गान सीखे हैं, गान गाए हैं। मेरे समान अल्पवयसी और भी शिशु इस दल मे थे। उस समारोह मे हमारी बात सोचकर गुरुदेव या दिनेन्द्रनाथ ने कभी गान नहीं चुने। किन्तु हमारे समान शिशु-दल के लिए ये गान गाने मे क्या आनन्द था, वर्णन नहीं किया जा सकता। हमारे जीवन मे अधिकाश गान ही हमने इस प्रकार के प्राणवान वातावरण मे आयत्त किए है। क्लास मे जो गान हमने सीखे है वे सख्या मे इनकी तुलना मे कम हैं। एव आज यह बात मैं स्पष्ट रूप से कह सकता हूँ कि क्लास के वातावरण मे गान सीखते समय हमने वैसा आनन्द कभी अनुभव नहीं किया।

सिखाने के समय भी मैंने देखा है कि छात्र और छात्राएँ क्लास मे गान सीखने के बदले विविध प्रकार के उत्सव-अनुष्ठान, साहित्यसभा या नाटकादि के अभिनय के पूर्वाभ्यास के समय जिस उत्साह से, एव जितना शीघ्र गान सीखते हैं, वह उत्साह क्लास के समय बिलकुल दिखाई नहीं देता। क्लास के समय उनके मन मे यह प्रश्न घर किए रहता है कि कौन-सा गान अच्छा है और कौन-सा मन्द एव कई मतामत का उद्भव होता है। किन्तु किसी उपलक्ष्य के लिए गान के पूर्वाभ्यास के समय इस प्रकार का कोई प्रश्न वे नहीं करते। क्लास मे शिक्षा के समय छन्द या ताल की दुरूहता, राग-रागिनी की दुरूहता की बात कई शिक्षको के मन मे उठती है। किन्तु उत्सव-अनुष्ठान की बात सोचकर ये सब गान सिखाते समय मैंने किसी दिन किसी प्रकार की असुविधा अनुभव नहीं की। मैंने देखा है कि यदि छन्द मे वजन हो एव वह स्पष्ट हो, और गान की रागिनी भी यदि उसी प्रकार छन्द के साथ मिश्रित हो जाए तो उस गान को सिखाने मे कष्ट नहीं होता।

बगाल के शहरो और गॉवो मे आजकल शिशुओ के मुँह से सर्वदा ही विविध प्रकार के गान सुने जाते हैं एव शायद सभी लोगो का इस ओर ध्यान गया होगा कि ये शिशु जिस प्रकार के गानो के परिवेश मे लालित व वर्धित हो रहे हैं, उन गानो को वे सहज ही गा सकते है। गॉवों के बालक सर्वदा वे ही गान गाते हैं जो उनके सामने वयस्क गाते हैं। ऐसा कभी सुना नहीं गया कि उनकी बात सोचकर गॉव मे कभी गानो की रचना की गई। शहर के शिशु अनायास ही बडो के लिए रचित विविध प्रकार के आधुनिक गान, सिनेमा के गान गाते हैं, यह बात सर्वविदित है। इन गानो की भाषा या भाव किसी भी दृष्टि से शिशुओ के कोमल मन के लिए उपयोगी नहीं है। शिशु इन गानो का अर्थ भी अच्छी तरह से नहीं समझते। अत· गान के क्षेत्र मे शिशुओ के इस मनस्तत्त्व के प्रति हम गभीर मनोयोग से ध्यान दे तो हम देखेगे कि साहित्य के मामले मे गुरुदेव ने जो बात कही थी, वह गान के मामले में भी लागू होती है। किण्डरगार्टन की शिक्षा के आदर्श से रचित गान शिशुओं के लिए हानिकारक हैं, उनके मन की गति के लिए बाधास्वरूप है, गुरुदेव के चिन्तन, उनकी विचारधारा पर विश्वास कर इस तथ्य को मानना ही होगा।

परिशिष्ट

एक गान

गुरुदेव द्वारा रचित गान 'एकसूत्रे बॉधियाछि सहस्रटि मन' का मुझे पहली बार 'शनिवारेर चिठि' से पता चला। शान्तिनिकेतन के निरन्तर ३२ वर्ष के मेरे जीवन मे मैंने कभी यह गान नहीं सुना। अत 'शनिवारेर चिठि' मे जब स्पष्ट रूप से कहा गया कि यह गान गुरुदेव का है, तब मुझे बडा आश्चर्य हुआ एव रवीन्द्रनाथ के किसी भी संगीत-सग्रह मे मुद्रित न होने के कारण मेरे मन मे सन्देह जाग्रत हुआ। इस प्रकार सन्देहग्रस्त मन से मैं एक दिन गुरुदेव के समक्ष उपस्थित हुआ। मैंने उनसे पूछा कि 'यह गान आपके द्वारा रचित है या नहीं।' उन्होने कहा था कि 'इस गान की रचना मैंने ही की है।' 'शनिवारेर चिठि', के १३४६ बगाब्द (ई० १३३९) के अग्रहायण के अक मे यह खबर छपी थी। उस समय कवि जीवित थे। यह पत्रिका नियमित रूप से उनके पास जाती थी, उन्होने निश्चय ही यह प्रसग पढा था। उस समय सभी रवीन्द्र साहित्य-अनुरागियो और रवीन्द्र-तथ्यानुसन्धानियो ने इस पत्रिका मे प्रकाशित तथ्य का सादर सग्रह किया था। किसी ओर से किसी प्रकार का प्रतिवाद नहीं किया गया। 'शनिवारेर चिठि' के श्रीयुत् ब्रजेन्द्रबाबू एव उनके साथी भी रवीन्द्रनाथ से पूछकर गान के रचयिता के सम्बन्ध मे निश्चिन्त हो गए थे।

यह गान यद्यपि ई. १८७९ मे पुस्तक मे प्रकाशित हुआ, तथापि इसकी रचना निश्चय ही बहुत पहले, अतत ई १८७७ किवा १८७८ के प्रारम्भ मे हुई है। यह गान किसी भी पुस्तक मे मुद्रित क्यो नहीं हुआ, इसके कारण की खोज की जाए। ई १८८५ मे 'रविच्छाया' पुस्तक मे यह गान मुद्रित नहीं हुआ। जिन्होने 'रविच्छाया' पुस्तक देखी है, वे जान जायेंगे कि इस पुस्तक मे ई १८८१ मे रचित 'वाल्मीकि प्रतिभा' के किसी भी गान को स्थान नहीं मिला। यहाँ तक कि बाद के द्वितीय सस्करण मे भी उनमे से एक भी गान नहीं है। इस नाटक में वाल्मीकि जब पहली बार प्रवेश करते हैं, तब वाल्मीकि के साथ दस्युओ का एक समवेत सगीत है, उसकी पहली पक्ति है—'एकडोरे बॉधा आछि मोरा सकले'। यह गान दस्युओ के जातीय सगीत के रूप मे व्यवहृत हुआ है। ये दो गान साथ-साथ सुनने पर पता चलेगा कि दोनो गानों का भावार्थ एक है, केवल भिन्न परिवेश के लिए उपयोगी बनाने के उद्देश्य से उसके रूप मे कुछ परिवर्तन हुआ है। दोनो का 'सुर' एक ही है। मुझे लगता है कि 'एकसूत्रे' गान इसी प्रकार 'वाल्मीकि प्रतिभा' मे प्रच्छन्न रूप मे था। एव वहाँ से पृथक कर पहले के समान गानो मे स्थान देने का प्रश्न उस समय रचयिता के मन मे उदित नहीं हुआ, इसीलिए 'रविच्छाया' या अन्य किसी पुस्तक मे इसे स्थान नहीं मिला। इस प्रकार अन्य कई गान भी अभागे रहे हैं—अत 'रविच्छाया' में स्थान न

पाने पर आश्चर्यचकित होने जैसी कोई बात नहीं है। 'रविच्छाया' मे 'ज्वल् ज्वल् चिता द्विगुण द्विगुण' गान को भी स्थान नहीं मिला, यहॉ तक कि अब तक के गुरुदेव के किसी भी गीत-सग्रह मे उसे शामिल नहीं किया गया है। हाल मे गुरुदेव के और दो गानो का पता चला है। ये दोनो ही राष्ट्रीय सगीत हैं। किन्तु 'रविच्छाया' से शुरू कर अब तक के गुरुदेव के किसी गान-ग्रथ मे उनका नाम नहीं है। १३१२ बगाब्द (ई १९०५) मे रचित दो विख्यात राष्ट्रीय सगीत 'ओदेर बॉधन यतइ', 'विधिर बॉधन काटबे' १३३८ बगाब्द (ई १९३१) तक प्रकाशित किसी भी गान-पुस्तक मे मुद्रित नहीं हुए।

१३१२ बगाब्द (ई १९०५) मे प्रकाशित 'सगीत-प्रकाशिका' पत्रिका की अग्रहायण-सख्या मे इस गान की स्वरलिपि मिली है। विश्वभारती ग्रथन विभाग मे भी वह सरक्षित है। इस अग्रहायण-सख्या के प्रथम पृष्ठ पर यह गान शब्द और स्वरलिपि-सह मुद्रित है। गान के नीचे रचयिता के रूप मे गुरुदेव का नाम स्पष्ट अक्षरो मे मुद्रित है। इस पत्रिका के सम्पादक स्वयं ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर हैं। पूर्णतया उनके आग्रह और प्रयास से ही यह पत्रिका १३०८ बगाब्द (ई १९०१) से १३१६ बगाब्द (ई १९०९) तक बराबर प्रकाशित होती रही है। यदि किसी प्रकार की भूल-भ्रान्ति होती तो ज्योतिरिन्द्रनाथ निश्चय ही उसका सशोधन करते।

'एकसूत्रे बॉधियाछि' गान की जो स्वरलिपि 'संगीत-प्रकाशिका' पत्रिका मे देखी है— उसकी प्रत्येक कलि मे 'वन्देमातरम्' शब्द युक्त है। 'वन्देमातरम्' शब्द रहने के कारण कुछ विद्वान् यह सन्देह व्यक्त करते हैं कि इस गान मे यह शब्द किस प्रकार आ सकता है। मेरा विश्वास है कि स्वदेशी युग मे रवीन्द्रनाथ और ज्योतिरिन्द्रनाथ के अनुमोदन से उस गान मे इस शब्द को स्थान मिला है। इसका कारण यह है कि यह पत्रिका उनके सचालन मे ही छपती और प्रकाशित होती थी।

इस प्रसग मे स्वर्णकुमारी देवी (रवीन्द्रनाथ की बडी बहन)—रचित "स्नेहलता" उपन्यास का उल्लेख किया जाय। इस उपन्यास मे चारु नामक एक चरित्र है। चारु तरुण कवि है और उसके द्वारा रचित एक गीत उक्त ग्रथ मे है। इस गीत की प्रथम पक्ति है— 'एक सूत्रे गॉथिलाम सहस्र जीवन'।

यहॉ 'स्नेहलता' उपन्यास से अष्टादश अध्याय उद्धृत करता हूँ—"चारु, अभी षोडश वर्षीय बालक है। किन्तु वह अपने को अब बालक नहीं मानता।

एक दिन उसके एक सहपाठी को उसकी जेब मे पेंसिल खोजते समय कागज का एक टुकडा मिला। कागज पर और कुछ नहीं एक छोटी कविता लिखी हुई थी। सहपाठी ने छुट्टी के घटे के समय सभी बालको के समक्ष बडे रहस्यपूर्ण ढग से जब पढा ·

एमन चॉदिनी निशि
पुलक-कम्पित दिशि
एमनि विजन उपवने,
मुखेते चॉदरे आलो—
दीप्त ऑखिर तारा कालो
चेयेछिल नयने नयने।

तब सभी बालक जोर से हॅस पडे।

विद्रूपकारी बालको मे सामान्य कल्पना का अभाव देखकर उसके मन मे उनके प्रति घृणा का भाव जाग्रत हुआ। ऐसी अवस्था मे अन्य एक छात्र ने आकर पूछा—'माजरा क्या है ?' सभी ने कहा—अरे महाशय, हमारे चारुबाबू कवि हैं। सुनियेगा—'एमनि चॉदनी निशि पुलक-कम्पित दिशि—'

नवागत व्यक्ति ने उसके हाथ से कागज ले लिया और वह स्वय पढने लगा। पढना शेष कर कहा—'वा·, अच्छी बनी है—अतिसुन्दर'। आह्लाद से चारु का मुँह लाल हो गया। किशोरी के समान समझदार, बुद्धिमान, विज्ञ व्यक्ति से प्रशसा पाकर कौन आह्लादित नहीं होता। किशोरी के कथन से अन्य छात्रो के कविता सम्बन्धी मत मे भी अचानक परिवर्तन हो गया—सभी ने प्रशसा भरी दृष्टि से चारु की ओर देखा।

किशोरी ने उसे उनकी सभा का सदस्य बनाया है—वहॉ का वह Poet Laureate।

आज रविवार है। जगत्‌बाबू के चन्दनगर के बागान मे उक्त सभा का अधिवेशन है। प्राय दिन के दो बजे से बागान-बाडी के एकमजिली घर के कक्ष के एक बद द्वार के बाहर दो छात्र खडे हैं। आसपास मे लताओ से पूर्ण वृक्ष हैं—एव सिर पर आच्छादनयुक्त बरामदा होते हुए भी प्रथम आश्विन के प्रखर रौद्र से वे जैसे जल रहे हैं—फिर भी उनके पॉव निश्चल हैं। मन की अधीरता के कारण उनकी दृष्टि क्रमश इधर-उधर निक्षिप्त हो रही है और विरक्तिसूचक वाक्य अभिधान की सीमा के पार होते हुए भी उनकी आशा मिट नहीं रही है।

इस प्रकार जब दिन के तीन बज गए तब दो व्यक्तियो ने गेट मे प्रवेश किया और उनके पास आकर खडे हो गए। इनकी ही इतनी देर तक अपेक्षा उपरोक्त दो छात्र कर रहे थे। नवागत व्यक्तियो के साथ दो-चार बाते करने के बाद ही इन्होने उनकी ऑखो पर पट्टी बाँध दी और द्वार पर आघात किया। द्वार खुलने पर उनका हाथ पकडकर दोनो छात्रो ने जैसे ही भीतर प्रवेश किया—उसी क्षण द्वार पुन बद हो गया और सभी समस्वर से गा उठे

आजि हते एकसूत्रे गॉथिनु जीवन
जीवने मरणे रब शपथ बन्धन।

कई कंठो के समस्वर गीत से बद गृह सहसा प्रबल प्रवाह से तरगित हो उठा—दोनो नवागत अन्धजनो का हृदय कॉंप उठा—न जाने कैसा भयकर गुप्त काड कक्ष के अन्दर चल रहा था।

गान बद होते ही सभापति ने निकट आकर दो पद्‌मविद्ध खड्‌ग उन दोनो के हाथो मे अर्पण कर कहा

ये पद्‌म भारत के चिह्नस्वरूप हैं—ये खड्‌ग बाधाविघ्न अतिक्रम करने के चिह्नस्वरूप हैं—इन्हे धारण कर शपथ लो—

इस बार एक साथ सुगम्भीर स्वर उठा, इन्हें धारण कर शपथ लो—

सभापति।—आज से तुमने भारत के मगल कार्य के लिए प्राणो के उत्सर्ग का सकल्प किया है—आज से तुम हमारे साथ भ्रातृत्व सम्बन्ध मे आबद्ध हुए।

पुन समवेत स्वर—यह धारण कर शपथ लो—

सभापति।—किसी कारण से सभा द्वारा परित्यक्त होने किवा सभा का त्याग करने के लिए बाध्य होने पर भी इसका कार्यकलाप प्रकट नहीं करोगे।—आज के विश्वास को भग नहीं करोगे—

सभी—जीवन मे, मरण मे इस विश्वास का पालन करेगे।

नवागत क्या सुन रहे थे, क्या कह रहे थे, जैसे कुछ भी समझे नहीं, वे केवल कॉपते स्वर से उन सब बातो की मात्र आवृत्ति करते गए। उस समय उनकी ऑखो पर लगा बन्धन हटाया गया, एव एक-एक बार प्रत्येक सदस्य ने उनका आलिगन किया और एक बार समस्वर मे सभी गा उठे

एकसूत्रे गॉथिलाम सहस्र जीवन
जीवन मरणे रब शपथ बन्धन
भारत मातार तरे सॅपिनु ए प्राण
साक्षी पुण्य तरवारि साक्षी भगवान
प्राण खुले आनन्देते गाओ जयगान
सहाय, आछेन धर्म कारे आर भय।

यह चारु की रचना है—जब सभी एक साथ इसे गा उठे, तो चारु अपने को शेक्सपीयर के समकक्ष समझने लगा।"

(अष्टादश अध्याय। भारती ओ बालक, कार्तिक १२९६। पृ ३६२)

चारु प्राय Poet Laureate—सम कवि है। उसकी उम्र मात्र सोलह वर्ष है। 'एकसूत्रे गॉथिलाम' गान सभी सदस्यो द्वारा समस्वर मे गाए जाने के बाद—'चारु' अपने को उसका रचयिता मानकर गर्व अनुभव करता है, शेक्सपीयर के समान नाट्यकार रूप मे नहीं, बल्कि शेक्सपीयर के समान कवि के रूप मे।

हम जानते हैं कि सजीवनी सभा के समय गुरुदेव की आयु सोलह वर्ष के आसपास थी, ज्योतिरिन्द्र की आयु उस समय प्राय अट्ठाईस वर्ष के आसपास थी। 'स्नेहलता' उपन्यास के चारु के साथ ज्योतिरिन्द्रनाथ का कोई मेल नहीं है, वस्तुत. चारु के चरित्र के साथ गुरुदेव का मेल विविध दृष्टिकोणो से दिखाई देता है।

साहित्य-अनुरागियो का ध्यान मैं और एक विषय की ओर आकृष्ट करता हूँ। मैं मानता हूँ कि ज्योतिरिन्द्रनाथ के 'अश्रुमती', 'पुरुविक्रम', 'सरोजिनी' और 'स्वप्नमयी' नाटको मे से किसी मे भी उनके अपने द्वारा रचित एक भी राष्ट्रीयता-उद्दीपक गान नहीं है। जो भी गान हैं उनमें सभी के रचयिता हैं सत्येन्द्रनाथ और गुरुदेव। कुछ गान हैं—'मिले सबे भारत सन्तान', 'एकसूत्रे बाँधियाछि' और 'देशे देशे भ्रमि तव दुखगान गाहिये'।

'एक सूत्रे बॉधियाछि' गान के अनुसरण से 'वाल्मीकि प्रतिभा' का गान 'एक डोरे

बॉधा आछि' गुरुदेव की रचना है। वह गान दलपति-वेष्टित दस्युदल के सम्मेलक सगीत के रूप मे व्यवहृत हुआ है। 'पुरुविक्रम' के द्वितीय संस्करण मे 'एकसूत्रे' गान पुरुराज-वेष्टित सैन्यगण के गान के रूप मे है। पुन यह गान सजीवनी सभा मे सभापति-सह सभी सदस्यो का समवेत गान है।

यह गान सजीवनी सभा के उपलक्ष्य मे रचित है, इसीलिए 'पुरुविक्रम' के द्वितीय सस्करण मे इसे स्थान मिला है। सजीवनी सभा आयोजित हुई ई १८७६-७७ मे और 'पुरुविक्रम' का द्वितीय सस्करण ई १८७९ मे प्रकाशित हुआ। १३०७ बगाब्द (ई १९००) के सस्करण मे यह गान नहीं है।

कारण जो भी रहा हो, देखा जाता है कि ज्योतिबाबू ने उपरोक्त चार नाटको की रचना के समय राष्ट्रीयता-उद्दीपक गानो के लिए अन्यो से सहायता ली थी। इसके अलावा यह भी ज्ञात नहीं है कि इस समय मे उन्होने कोई राष्ट्रीय सगीत लिखा है या नही। चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु मे गुरुदेव यदि 'ज्वल् ज्वल् चिता', 'हिन्दूमेलार उपहार' और 'किसेर तरे गो भारतेर आजि' आदि गान और कविता लिख सकते हैं तो उनके लिए 'एकसूत्रे' गान लिखना असम्भव नहीं है। 'तोमारि तरे, मा, सँपिनु ए देह' गान सजीवनी सभा के समय लिखा गया। लगता है कि 'एकसूत्रे' गान सजीवनी सभा के लिए लिखा गया प्रथम गान है।

अन्त मे मुझे यही कहना है कि ऐसा कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता कि यह गान ज्योतिरिन्द्रनाथ का है, वरन ऐसे कई प्रमाण मिलते है कि यह गान गुरुदेव द्वारा रचित है। उनकी मौखिक स्वीकृति और 'सगीत-प्रकाशिका' मे इसका नाम-सह प्रकाशन उनमे विशेष उल्लेखनीय हैं। 'पुरुविक्रम' के द्वितीय सस्करण मे इसके पहली बार मुद्रित रूप मे मिलने के कारण इसे ज्योतिरिन्द्रनाथ की रचना मान लेना होगा, इस क्षेत्र मे ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा, क्योकि हम सभी जानते हैं कि अपने द्वारा रचित प्रत्येक नाटक मे गुरुदव के कई गानों और कविताओ का ज्योतिरिन्द्रनाथ ने व्यवहार किया है, फिर भी रचयिता के रूप मे गुरुदेव के नाम का उल्लेख पुस्तको मे कहीं नहीं किया है।

१३५१ बगाब्द (ई १९४४)।

रवीन्द्र संगीत की पर्यालोचना

हाल मे गुरुदेव के गानो का जिस प्रकार प्रसार बढा है, उसी प्रकार गुरुदेव के गानो को लेकर कुछ-कुछ पर्यालोचना भी शुरू हो गई है। इस आलोचना के सम्बन्ध मे जिस विषय की ओर मेरा सर्वाधिक ध्यान गया है, वह है उच्चाग (शास्त्रीय) हिन्दी सगीत मे रवीन्द्र सगीत का स्थान। हिन्दी उच्चाग सगीत के पडितो से शुरू कर साधारण गायको, साहित्यिको आदि मे से कई हाल मे बार-बार यही समझाना चाह रहे हैं कि उच्चाग सगीत की समश्रेणी मे रवीन्द्र सगीत को स्थान देना उचित है। इसके लिए वे यह तर्क रख रहे है कि गुरुदेव ने हिन्दी गान के अनुसरण से कई गानो की रचना की है और उनके गानो मे कई प्रकार की राग-रागिनियॉ मिलती हैं।

इस प्रकार की पर्यालोचना का मैं समर्थक नहीं हूॅ। गुरुदेव के गान बगाल के गान हैं, बगला भाषा के गान हैं। सगीत मे बगाल की एक निजस्व धारा चली आ रही है, गुरुदेव इस युग मे इस धारा के ही एक युगान्तरकारी वाहक है। यह धारा है शब्द और 'सुर' के मिलन का गान-रूप। यहॉ 'सुर' भी प्रधान नहीं, शब्द भी प्रधान नहीं, दोनो के अगागी मिलन से जो रूप प्रकट होता है वही प्रधान है। जब तक शब्द है, तब तक 'सुर' है, शब्द का परित्याग कर 'सुर' एक पॉव बढाने का साहस भी नहीं करता। उच्चाग हिन्दी सगीत में शब्द और 'सुर' के मिलन का यह आदर्श ग्रहण नहीं किया जाता। उसका आदर्श यह है कि शब्द के साथ 'सुर' का मिलन होते हुए भी, शब्द रुक जाने पर 'सुर' क्यो रुकेगा? 'सुर' स्वाधीन भाव से अपने को व्यक्त करते चले, शब्द निरपेक्ष भाव से गान के मूल रस को 'सुर' (राग-रागिनी, स्वरसज्जा) व्यक्त करने की चेष्टा करता रहे। गुरुदेव के गानो की पर्यालोचना के लिए हमे हर बार दोनो के इस वैशिष्ट्य को ध्यान में रखना होगा। उच्चाग हिन्दी गान ने 'सुर' की दृष्टि से स्वाधीनता प्राप्त कर ली है, इसी कारण उसने गान को कई प्रकार के अलकारो से सजा लिया है, जिन्हे सुनकर आश्चर्य होता है।

उच्चाग हिन्दी सगीत के आदर्श से बगला भाषा मे भी गानो की रचना हुई है, जैसे बगला ध्रुपद, खयाल, टप्पा, ठुमरी आदि, किन्तु उच्चाग हिन्दी गान के आदर्श का हूबहू अनुसरण कर बंगाली कभी बंगला गान में 'सुर'-विहार की सुविधा नहीं ले सके। अपने को काफी सकुचित कर लेना पडा है।

कुछ स्वरो को विशेष रूप से सजा लेने से जो श्रुतिमधुर रूप सुनाई देता है, उसी को हम राग या रानिगी कहते हैं। पृथिवी के किसी भी देश के उच्चाग गान से शुरू कर साधारण गान के 'सुर' को उस दृष्टि से रागिनी रूप मे नामकरण किया जाता है। उसी

प्रकार हमारे देश के ग्राम के गान के 'सुर' को भी एक-एक रागिनी कहा जा सकता है। जब भाव और रस से पूर्ण होकर किसी 'सुर' की रचना हुई, तभी वह एक रागिनी हुई। यह बात सभी जानते हैं कि गुरुदेव के कई गानो की रचना मे हिन्दी उच्चाग सगीत के कई रागो व रागिनियो का अनुकरण हुआ है। इन गानो मे उनकी सहायता से या उनके आधार पर कई नए रूप प्रस्फुटित हुए है। इसके अलावा कई अन्य उपायो से और भी विविध प्रकार के 'सुरो' का उद्भव हुआ है। इस दृष्टि से सभी देश एक ही पथ के पथिक हैं। अर्थात् राग-रागिनियॉ सब देशो मे हैं, कहीं सिर्फ नामकरण नहीं हुआ है, भारतीय उच्चाग सगीत मे अधिक परिमाण मे ऐसा हो चुका है।

हिन्दी गान का वैशिष्ट्य केवल राग-रागिनी के गठन मे नहीं, राग-रागिनी के विकसित रूप मे है। अर्थात् इन राग-रागिनियो के गतिशील व प्रचलित रूप मे उनका यथार्थ परिचय मिलता है।

गुरुदेव द्वारा रचित कुछ गानो मे प्रयुक्त राग-रागिनी प्राचीन मत से विशुद्ध है या कुछ गानो मे उन्होने कई राग-रागिनियो का मिश्रित रूप प्रस्तुत किया है, इस प्रकार की युक्ति से उच्चाग सगीत मे स्थान पाने की चेष्टा का कोई अर्थ नहीं है। तुलनामूलक आलोचना से दोनो सगीत-धाराओ को एक श्रेणी के अन्तर्गत लाने की चेष्टा कर, जिस गान मे जैसा वैशिष्ट्य है, उसकी उसी दृष्टि मे पर्यालोचना करना उचित है। सब वृक्ष तो वृक्ष ही हैं, इसीलिए वटवृक्ष को ताडवृक्ष बताकर प्रमाणित करना वृथा चेष्टा है। जैसे हमारी प्राचीन सस्कृत भाषा है, यह भाषा अत्यन्त समृद्ध और ऐश्वर्यवान् है। भारत की प्राय सभी प्रादेशिक भाषाएँ इसकी विशेष रूप से ऋणी है, क्योकि उन्हे इससे ही भारी परिमाण मे सहायता लेनी पडी है अपने को पुष्ट करने के उद्देश्य से। किन्तु ऐसा होते हुए भी प्रादेशिक भाषा का अपना एक स्वतत्र वैशिष्ट्य है, सस्कृत के साथ समान मर्यादा ग्रहण करने के उत्साह मे बगला भाषा मे व्यवहृत सस्कृत शब्द, अलकार, विन्यास-प्रणाली का दृष्टान्त देकर हम यह आवाज बुलन्द करे कि इस भाषा को सस्कृत के समान मर्यादा प्राप्त होनी चाहिए, तो भाषाविद् हमे पागल बताकर हॅसेगे। गुरुदेव के गानो की भी वही स्थिति है। हिन्दी उच्चाग सगीत जिस प्रकार पूर्णतया एक स्वतत्र जगत् है, उसी प्रकार गुरुदेव के गानो का भी बगला सगीत के जगत् मे एक स्वय सम्पूर्ण पृथक् जगत् है। एक-दूसरे के पास भारी परिमाण मे ऋणी होते हुए भी दोनो एक वस्तु नहीं, यह बात माननी ही होगी।

गुरुदेव के गानो को स्वतत्र रूप मे लेने पर उनकी मर्यादा कभी क्षुण्ण नहीं होगी। वहॉ ये गान 'एकमेवाद्वितीयम्' हैं। प्रत्येक सगीतधारा के सम्बन्ध मे यह बात सत्य है। यह जैसे आकाश का नक्षत्र जगत् है। बाहर प्रत्येक स्वतत्र है, किन्तु प्रत्येक के साथ अदृश्य रूप मे घनिष्ठ भाव से जुडा हुआ है। उस अदृश्य नियम से अपने को पूर्णतया विच्युत कर किसी भी एक के अस्तित्व की एक मुहूर्त के लिए रक्षा करना असम्भव है, भारत के विभिन्न प्रादेशिक गान की भी वही अवस्था है। वे ऐसे एक मूल आदर्श से एक स्थल पर बॅधे है कि वहॉ से किसी के स्वतत्र होने का कोई उपाय नहीं है, किन्तु प्रकट रूप मे प्रत्येक ही अपने-अपने स्थान पर स्वाधीन है।

गुरुदेव के गानों की पर्यालोचना के समय यह बात ध्यान मे रखनी होगी कि उच्चाग सगीत के साथ मेल नहीं हुआ, इसमे लज्जा या दु ख करने का कोई हेतु नहीं है। हिन्दुस्थानी या भारतीय सगीत के परिप्रेक्ष्य मे गुरुदेव के गानों को समझने की चेष्टा करे, उसकी अपनी सत्ता, गुण-अवगुण का विचार करे, एक माप से समान कर सजाने का प्रयास नहीं करे। उसी मे उसका यथार्थ परिचय निहित है, उस परिचय को प्राप्त कर सकना और उसी का परिचय कराना ही सब प्रकार के गान का यथार्थ विचार करना है। गुरुदेव के गानो की पर्यालोचना के समय भी ऐसा ही दृष्टिकोण उचित है।

भारतीय उच्चाग संगीत मे विचित्र 'सुरो' ने जिस आदर्श से नियमबद्ध होकर तथा स्वतत्र नाम और रूप धारण कर राग-रागिनी जगत् की सृष्टि की, गुरुदेव द्वारा सृष्ट गान के विविध प्रकार के नवीन 'सुरो' का उसी पद्धति से विश्लेषण कर, उसके मूल स्वरगठन की प्रणाली का यदि पता लगा लिया जा सके, तो उस विशेष 'सुर' की विधिबद्ध रागिनी का रूप जाना जा सकता है और इससे साधारण सुरकारो के लिए इन विशेष सुरो मे गान-रचना कठिन नहीं होगी। इसके द्वारा उनका काम काफी सहज हो जाएगा। भारतीय राग-रागिनी-जगत् इस प्रकार ही एव इस कारण ही सृष्ट हुआ है, एव युग-यग से सुरकारो के लिए इसी प्रकार स्वर-सयोजन मे भी 'सुर'-विहार का मार्ग सहज हुआ है। इसीलिए मेरी धारणा है कि हिन्दी राग-रागिनी को लेकर जो इस प्रकार पर्यालोचना करते हैं, वे गुरुदेव के गान के 'सुर' को लेकर इस प्रकार के विश्लेषण मे प्रवृत्त हो। इससे वे रागिनी-जगत् मे सख्या-वृद्धि करने के साथ-साथ भावी रागिनी-जगत् मे 'सुर'-विहार करने वालो का बडा उपकार करेगे। रवीन्द्र संगीत मे वैसा सुयोग है इसलिए कि उसे उच्चाग सगीत की पदमर्यादा मे रखना अनावश्यक है या कि पदमर्यादा की आवश्यकता नहीं है एव जो हो नहीं सकता, उसे देने की चेष्टा करने का कोई प्रयोजन नहीं है। गॉवों के प्रचलित साधारण गानों से उच्चांग सगीत-गुणी कई 'सुर' (धुन) संग्रहीत करते हैं और बाद मे विश्लेषण-व्याख्या द्वारा उन्हे राग-रागिनी मे परिणत करते हैं, बाद मे उसी राग-रूप मे विविध ढग से विहार करते हैं, क्या इस कारण मूल गान को उस उच्चाग सगीत की पदमर्यादा के अतर्गत रखने की चेष्टा किसी ने कहीं पर की है ? हर बार यह स्मरण रखना होगा कि पहले 'सुर'-युक्त गान आए हैं, उसके बाद उसके विश्लेषण द्वारा राग-रागिनी, अन्त मे शब्दहीन राग-रागिनी का विविध अलकारबहुल सुर-विहार।

१३५६ बगाब्द (ई १९४९)

चलचित्र में रवीन्द्र संगीत

गुरुदेव की मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व कलकत्ता के एक चलचित्र-प्रतिष्ठान ने अपने सगीत-परिचालक को एक सारगी-वादक के साथ शान्तिनिकेतन भेजा था। इसका उद्देश्य यह था कि उनके द्वारा परिकल्पित कहानी मे वे गुरुदेव के कुछ गानों का व्यवहार करना चाहते थे और वे गान यहॉ के गायको से सुनकर सगीत-परिचालक स्वय चयन करेगा और गुरुदेव का अनुमोदन प्राप्त करेगा। सगीत-परिचालको की यह भी इच्छा थी कि जिस कहानी के लिए वे गान सग्रह करने के लिए यहॉ आए है, वह कहानी भी गुरुदेव को सुनाएँगे। इसका कारण यह था कि कहा जाता है कि इस कहानी का अपना एक विशेषत्व है एव उसके साथ गुरुदेव के गान ही उपयुक्त बैठते हैं। कहानी सुनने के लिए गुरुदेव को उन्होने राजी कर लिया। शुरू से अन्त तक कहानी सक्षेप मे उन्हे सुनाई गई। गुरुदेव ने धैर्य के साथ कहानी शुरू से अन्त तक सुनी थी, किन्तु वक्ता के समक्ष किसी प्रकार का मतामत प्रकट नहीं किया, किन्तु उन्होने वक्ता को यह समझा दिया कि इसके लिए उनके गानो के सग्रह हेतु कष्ट उठाने ही जरूरत नही थी। उस दिन सध्या के समय मै गुरुदेव के पास गया था। चलचित्र की कहानी उन्होने स्वयं ही मुझे सुनाई एव विस्मय प्रकट करते हुए पूछा कि आजकल बगाली इस प्रकार की कहानी ही चाहते हैं क्या ? उन्होने यह भी कहा कि "चलचित्र की कहानी के विषय मे मेरी कोई अभिज्ञता नहीं थी, किन्तु उस दिन यह कहानी सुनकर मुझे काफी ज्ञान प्राप्त हुआ। बगाल की रुचि यदि इस प्रकार की कहानियो मे है, तो बगाल के कथा-साहित्य के भवष्यित् को लेकर मुझे चिन्ता होती है।"

बाद मे उस संगीत-परिचालक अथवा निर्देशक और उनके सहकर्मी सारगीवादक ने अपनी कहानी के लिए छह-सात गानो का चयन किया और उन्हे सीख लिया। किन्तु उन्होने जिस ढग से गानो का चयन किया था, उसके बारे में सोचकर आज भी मै आश्चर्यचकित रह जाता हूँ। जो गान 'सुर' और छन्द के माधुर्य से सहज ही श्रोताओ का मन हरण कर लेते हैं, ऐसे गानो को चयन के समय उन्होने प्राथमिकता दी थी, एव उन्होने इस प्रकार का भाव भी प्रकट किया था कि इन सब गानो को उनकी कहानी के साथ सहज ही एकरूप कर सकेंगे।

कुछ दिन बाद जब उस कहानी पर चलचित्र बना, तब एक दिन मैं शूटिंग देखने उनके स्टूडियो गया। वहाँ मैंने देखा कि नायिका दीवार पर टगी नायक की फोटो की ओर देख रही है और शान्तिनिकेतन मे चुने गए गुरुदेव के गानो मे से एक गान गा रही है। सब कुछ काफी सहज लगा। छवि को सामने रखकर प्रेमिका मन का आवेग प्रकट

कर रही है। गुरुदेव के इस गान के आतरिक रस को अनुभव करने हेतु इतना प्रयास किया है, फिर भी लगता है कि गान के भाव को अन्तर मे सचरित कर नहीं पा रहा हूँ। किन्तु चलचित्र की नायिका जिस अवस्था मे सजकर उसे गा रही है, उससे गान का अर्थ उतना कठिन नहीं लगता। देखते ही ऐसा अनुभव हुआ कि व्याख्या इतनी सहज होते हुए भी इतने दिनो तक इस गान को इस दुरूह पथ पर ले जाकर दुश्चिता मे क्यो था ? चलचित्र के परिचालक की सहायता से गान की इतनी सहज व्याख्या प्राप्त कर सम्भवत मैने आनन्द भी अनुभव किया था, किन्तु बाद मे न जाने कैसी बेचैनी, उद्विग्नता अनुभव करने लगा। मन मे यह प्रश्न उठा कि वास्तव मे गुरुदेव यही व्याख्या चाहते थे ? तब क्या इतने दिनो तक गान के बारे मे जिस रूप मे सोचा था, गुरुदेव को जिस प्रकार उसी गान के माध्यम से समझने की कोशिश की थी, क्या वह ठीक नहीं है ? मन मे ऐसा लगने लगा कि उन्होने भी तो अपने अत्यन्त प्रिय परलोकगत आत्मीया का फोटो देखकर कविता और गान मे अपनी हृदय-वेदना प्रकट की थी, अपरिचित होने पर उस गान या कविता का वह तथ्य पकड़ मे ही नहीं आ सकता। पढते समय या गाते समय मूल छवि की बात तो बिलकुल ही विस्मृत करा देता है। लगता है कि जैसे समस्त विश्व के जहॉ भी जितने मनुष्य हैं उनके प्रियजनो के विच्छेद की वेदना मे व्यथित उन सबके मन की अव्यक्त बात ही उन्होने कही है। यहीं गुरुदेव की सृष्टि का महत्त्व है। गान मे जिस विश्वजनीनता का प्रकाश है, एव मनुष्य के जीवन को छोटी सीमारेखा या दायरे से बडे की ओर इशारा करने, प्रेरित करने की जो भावना है, हमारा क्षुद्र मन उसके अनुकूल तैयार नहीं है, इसीलिए हम उसे ठीक ढग से समझ नहीं पा रहे हैं। किन्तु इस कारण इन सब गानो को हमारी श्रुद्रता के उपयोगी बनाकर व सजाकर यदि उन्हें समझना है तो इसके द्वारा हमारी अनुभूति की प्रसारता की ओर अग्रसर होने मे हम विफल होगे, इस बात पर प्रत्येक को विचार करना उचित है।

जो परिचालक गुरुदेव के गानो का चलचित्रो मे व्यवहार करते है, उनकी एकमात्र युक्ति यह है कि वे गुरुदेव के गानो का जनसाधारण मे कितने सहज ढग से प्रसार कर सकते हैं। इसके लिए वे गौरव भी बोध करते हैं। इसमे आपत्ति जैसी बात नही है, किन्तु दु:ख यह सोचकर होता है कि जिस ढग से सजाकर गुरुदेव के गान वे जनसाधारण के समक्ष रख रहे हैं, इन गानो का रूप क्या वास्तव मे ऐसा ही है ? गान के निजस्व वास्तविक रूप की ओर जब तक हम जनसाधारण का दृष्टिकोण नहीं बदल सकते, तब तक भिन्न रूप में सजाकर गानो को जनसाधारण के समक्ष रखने से हम उन्हे भ्रान्ति मे डाल रहे हैं।

साहित्य, काव्य, धर्म, चित्र, समाजसेवा के क्षेत्र मे एक-एक स्रष्टा आते हैं, जो सर्वदा उनके पथ पर उनके समाज के अन्य सबसे बहुत आगे चलते हैं। उस कारण ही समाज उनका या उनके द्वारा प्रचलित पथ का अनुसरण कर अपने को आगे बढाता है। यह है जगत् का नियम। छोटा शिशु अपने बडे भाई को आदर्श मानता है। उसकी एकमात्र चिन्ता यही रहती है कि किस प्रकार वह बडे भाई के समान बन सकेगा। उसी प्रकार बडा भाई

भी सोचता है कि कब वह पिता के समान बडा होगा, नौकरी कर धनोपार्जन करेगा। पुन पिता के समक्ष आदर्श पुरुष वह है जिसके उपदेश, कार्यकलाप से वे अनुप्राणित हो रहे हैं या उनका जीवन परिचालित हो रहा है। इसके बाद भी जो और बडो का अवलम्बन करना चाहते है, वे 'ईश्वर' या 'भगवान्' नामक विविध रूप-गुणभूषित एक काल्पनिक शक्ति से अपना जीवन उन्नत करने के लिए प्रेरणा प्राप्त करते है।

मनुष्य की अभिव्यक्ति के इस सत्य को स्वीकार न कर यदि शिशु कहे कि बडे भाई को उसकी अपेक्षा आगे बढने नहीं दिया जाए, बडे भाई को उसके समान होना होगा—बडा भाई भी उस मतानुसार पिता को अपनी श्रेणी मे खीचना चाहे और पिता अपने से बडो से कहे कि चिन्तन, ज्ञान मे इतना अग्रसर होने से काम नही चलेगा, उनके सामर्थ्य पर विचार कर महापुरुषो को विचार करना चाहिए, सृष्टि करनी चाहिए, तब मानव-समाज की क्या दुर्गति होगी, इसका अनुमान लगाने मे कष्ट नहीं होगा। इसीलिए अग्रसर होने वाले को पीछे खींचने की बात मनुष्य सोच भी नहीं सकता।

मेरा प्रश्न यही है कि गुरुदेव के गानो का रस ग्रहण कर हम अपनी अनुभूति की क्षमता को उन्नत करेगे, या उन्हे हम अपनी अक्षमता के साथ मिलाकर समझने का प्रयास करेगे। इसीलिए मेरा कहना है कि चलचित्र-परिचालक (निर्देशक) गुरुदेव के गानो के रस को जिस प्रकार सहज कर जनसाधारण की अनुभूति के मानदंड मे सजाकर गौरव का अनुभव करते हैं, देश की मानसिक उन्नति के लिए वह क्षतिकर है या नही, इस पर विचार करना होगा। यह बात माननी ही होगी कि जो सहज ही आयत्त की जाती है वही काम्य है, इस प्रकार का मनोभाव मनुष्यत्व के विकास मे विघ्नकर है।

सम्भवत यह प्रश्न उठ सकता है कि तब क्या गुरुदेव के गानो का व्यवहार किया नही जाएगा ? उत्तर मे मेरा यह कहना है कि व्यवहार निश्चय ही किया जाएगा, किन्तु उन गानो के रस का इस प्रकार विस्तार करना होगा जिससे गुरुदेव ने जिस रस की अनुभूति से गानो की रचना की थी, उसी ओर हम बढ सके। उस प्रकार कहानी के माध्यम से ही गानो का प्रचार हो। जनसाधारण की प्रचलित रुचि के साथ मेल न खाते हुए भी गानो के अन्तर्भूत स्वभाव की रक्षा करनी ही होगी। जनसाधारण की रुचि इसके लिए तैयार नहीं है, शिशु के समान उसे तैयार करना होगा। उसके (जनसाधारण के) समक्ष आत्मसमर्पण करने से काम नहीं चलेगा। चलचित्रों में गुरुदेव के गान गाए गए हैं, आज भी गाए जा रहे हैं। गाने की दृष्टि से अधिकाश गानो मे मुझे त्रुटि दिखाई नहीं देती, एव मै मानता हूँ कि गान ठीक ढग से ही गाए गए हैं। किसी-किसी गान को सुनकर मै मुग्ध भी हुआ हूँ। चलचित्रो में अन्य गान गाने के जो अभ्यस्त हैं उनमे कई गायको ने गायन की दृष्टि से चलचित्रो मे गुरुदेव के गानो को उन्नत किया है, किन्तु दु ख की बात यह है कि कहानी के साथ गानो का सुन्दर सामजस्य अभी तक स्थापित हो नहीं पाया है।

१३६० बगाब्द (ई १९५३)

रवीन्द्र-संगीत में तान

रवीन्द्र सगीत मे तान के व्यवहार के विषय मे गुरुदेव स्वय किस मनोभाव का पोषण करते थे, इस सम्बन्ध मे उनके लिखित प्रबन्धो से कुछ अश उद्धृत करने के पूर्व मै कुछ कहना चाहता हूँ।

ई १९१५-१६ से गुरुदेव की मृत्यु तक अर्थात् प्राय पचीस वर्षो तक मैं गुरुदेव के गान, अभिनय के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहा। उनके कंठ से हिन्दीगान-अनुकरण के कई प्रकार के बगला गान मैंने सुने हैं और सीखे हैं। किन्तु मैंने बराबर ही यह देखा है कि गाते समय उन्होने हिन्दीगान के अनुकरण के किसी-किसी बगला गान मे सामान्य स्वर-विस्तार अवश्य किया है, किन्तु जिसे असली तान कहा जाता है, किसी भी 'सुर' के अलकार मे गान गाते समय इस प्रकार नहीं सुनी। ज़टिल छन्द की बॉट-तान या केवल 'आ'-कार उच्चारण द्वारा आरोहण-अवरोहयुक्त किसी प्रकार की तान का व्यवहार वे बंगला गान मे नहीं करते थे। विलम्बित लय के हिन्दीगान के अनुकरण के बगला गान मे ही वे 'सुर' विस्तार करते थे, किन्तु वह अन्यन्त सामान्य विस्तार था। किन्तु सिखाते समय वह गान किसी को 'सुरविस्तार' (स्वरविस्तार) के साथ सिखाते हुए मैंने नहीं देखा। मैंने स्वय भी कभी नहीं सीखा। मैंने दिनेन्द्रनाथ से गान सीखा है, अन्यो को भी गान सिखाते देखा है, किन्तु उन्होने (गुरुदेव ने) स्वय तानो के प्रयोग से 'सुर' विस्तार के गान सिखाए हैं या स्वय गाए हैं, ऐसा कभी नहीं सुना। दिनेन्द्रनाथ को गुरुदेव ने स्वयं तान-विस्तार के साथ गान कभी सिखाए हैं, ऐसा भी याद नहीं आता। गुरुदेव को भी अपने गानो में विविध स्वरविस्तार एवं तानो के साथ 'सुर'-सयोजन करते मैंने नहीं देखा। इसीलिए सिखाते समय उनका प्रयोग दिखाई नहीं देता था। केवल स्वय गाते समय हिन्दी गान के अनुकरण के खयाल अग के कुछ विशेष गानो में उन्होने स्वरविस्तार किया है। ध्रुपद के अनुकरण के उनके बगला गानो मे कभी दुगुण, चौगुण या छन्दयुक्त बाँट-तान का व्यवहार नहीं सुना गया।

प्राचीन काल के ख्यातिप्राप्त गुणियो ने गुरुदेव के गानो मे जो कुछ भी किया है वह उनकी अपनी इच्छानुसार ही उन्होंने किया है। सगीताचार्य राधिकाबाबू द्वारा गाए गए गुरुदेव के हिन्दी-अनुकरण के दो बगला गानो के रेकार्ड हैं। ये दो गान मैंने गुरुदेव से भी सुने हैं, किन्तु राधिकाबाबू के गान मे पाई जाने वाली तानालंकार-बहुलता मैने गुरुदेव के कंठ से एक बार भी नहीं सुनी। उनके गाने का ढग पूर्णतया भिन्न था।

गुरुदेव अपने गानो मे तान-अलंकार पसन्द नहीं करते थे, उसका और एक बडा परिचय हिन्दी गान के अनुकरण के बगला गानों से भिन्न गानो मे भी मिलता है। यदि उन्हे लगता

कि तान-अलकारो से गान का सौन्दर्य और बढेगा तो वे निश्चय ही गानो को इस प्रकार विस्तृत अलकारो से सजाने का प्रयास करते। उन्होने स्वय ऐसा कभी नहीं किया। किसी को इस प्रकार सिखाने मे भी उन्होने उत्साह अनुभव नहीं किया। अपनी ओर से किसी को इस प्रकार गाने के लिए प्रोत्साहित भी नहीं किया। इससे यह स्पष्टत समझा जा सकता है कि उनका अन्तर क्या चाहता था।

अब मै उनका लिखित एव प्रकाशित मत उद्धृत करता हूँ। १३२८ बगाब्द (ई १९२१) मे सगीत विषयक अपने एक भाषण मे कहा है . .

"मेरे मन मे जो 'सुर' सग्रहीत था, उस 'सुर' ने जब बाहर अभिव्यक्त होना चाहा, तब वह शब्द के साथ घनिष्ठ रूप मे मिलकर ही दिखाई दिया। बाल्यकाल से ही गान के प्रति मेरा घनिष्ठ प्रेम, लगाव, जब अपने को अभिव्यक्त करने लगा, तब उसने अविमिश्र, विशुद्ध सगीत के रूप की रचना नहीं की, सगीत को काव्य के साथ मिला दिया, कौन बडा है और कौन छोटा, समझ मे नहीं आया।

"मनुष्य मे प्रकृतिगत भेद है, उस भेद के अनुसार सगीत की यह दो प्रकार की अभिव्यक्ति होती है। उसका प्रमाण पश्चिम-हिन्दुस्थान और बगाल मे दिखाई देता है। इसमे किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि बगाल मे सगीत कविता का अनुचर न होकर सहचर है, किन्तु पश्चिम-हिन्दुस्थान मे वह स्व-राज मे प्रतिष्ठित है। वाणी उसकी 'छायेवानुगता' (छाया के समान अनुगता) है।

"बगाल मे हृदयभाव का स्वाभाविक प्रकाश साहित्य मे है। वाणी के प्रति बगालियो के अन्तर की आसक्ति, खिचाव है, इसीलिए भारत के इस प्रदेश मे ही वाणी की साधना सर्वाधिक हुई है। किन्तु अकेली वाणी में भी तो मनुष्य के प्रकाश की पूर्णता नहीं होती—इसीलिए बगाल मे सगीत की स्वतत्र पक्ति नहीं है, वाणी के पास ही उसका आसन है।

"बगाल मे काव्य के सहयोग से सगीत का जो विकास हो रहा है, वह एक अद्भुत वस्तु होगी। उसमे राग-रागिनी की प्रथागत विशुद्धता नहीं रहेगी, अर्थात् गाने की जात-रक्षा नहीं होगी, नियम का स्खलन होता रहेगा, क्योकि उसे वाणी के अधिकार को मानकर चलना होगा। किन्तु इस प्रकार के परिणय में पारस्परिक मन मिलाने के लिए दोनो पक्षो द्वारा अपनी-अपनी जिद कुछ छोडने के बिना मिलन सुन्दर नहीं होगा। इसीलिए गान मे वाणी को भी 'सुर' की खातिर कुछ समझौता करना होता है, उसे 'सुर' का उपयोगी बनना होता है। जो भी हो, मैं मानता हूँ कि बगाल मे इस एक जात की काव्यकला क्रमश व्यापक हो उठेगी। अन्तत मैं अपने कवित्व के इतिहास मे देखता हूँ—गान रचना, अर्थात् सगीत के साथ वाणी का मिलन कराना ही मेरी प्रधान साधना हो उठी है। सगीत जहाँ अपनी स्वतंत्रता मे विराज करता है, वहाँ उसके नियम-संयम की शुचिता प्रकट होती है, वाणी के सहयोग से बने गानरूप मे उसकी वह शुचिता उसी रूप में अवश्य बचाई नहीं जा सकती, किन्तु परम्परागत संगीत-रीति को आयत्त कर लेने पर ही नियमो के व्यत्यय का यथार्थ अधिकार उदित, प्राप्त होता है। स्वातत्र्य जहाँ उच्छृखलता है, वहाँ कलाविद्या का स्थान नहीं है। इसीलिए अपनी सृजनशक्ति को उन्मुक्त कर देने पर शिक्षा और सयमशक्ति

की अधिक आवश्यकता होती है।"

"रागिनी जब तक कुमारी है तब तक वह स्वतत्र है, काव्यरस के साथ परिचय होते ही वह भाव के रस को ही पतिव्रता मानकर चलती है। इसके ठीक विपरीत, रागिनी के हुक्म से भाव यदि पग-पग पर परेशान करता चले तो वह स्त्रैणता (स्त्री के वशीभूत होना) असह्य है। अन्तत हमारे देश का चलन इस प्रकार है।"

"हमारे गान मे भी हिन्दुस्थानी जितने ही बगाली हो उठेगे, उतना ही मगल है, अर्थात् सृष्टि की दृष्टि से।"

"पॉचाली का जो गान है उससे (किशोरी से) सुनता था कि उसकी रागिनी सनातन थी, हिन्दुस्थानी, किन्तु उसके 'सुर' ने काव्य के साथ मैत्री करते समय पश्चिमी घाघरे के घूर्णावर्त (घेर) को बगाली साडी के बाहुल्यविहीन सहज वेष्टन मे परिणत कर लिया है। "

"रागिनी जहॉ विशुद्ध मात्र स्वररूप मे ही हमारे चित्त को अद्भुत भाव से जाग्रत कर सकती है, वहीं सगीत का उत्कर्ष है। किन्तु बगाल मे एक अर्से से शब्द, काव्य का आधिपत्य इतना अधिक है कि यहॉ विशुद्ध सगीत अपना स्वाधीन अधिकार प्राप्त कर नहीं सकता। इसीलिए इस प्रदेश मे उसे भगिनी काव्यकला के आश्रय से ही निवास करना पडता है। वैष्णव कवियो की पदावली से लेकर निधुबाबू के गान तक सभी के अधीन रहकर उसने अपने माधुर्य के विकास का प्रयास किया है।"

ई १९२५ मे दिलीपकुमार राय महाशय के साथ इस विषय पर आलाप-आलोचना हुई, उसका विस्तृत विवरण गुरुदेव की स्वीकृति के बाद एक मासिक पत्र मे प्रकाशित हुआ। गुरुदेव ने दिलीप राय महाशय से कहा है

"तुम इस बात को क्यों नहीं मानते कि हिन्दुस्थानी सगीत की धारा का विकास जिस रूप मे हुआ है, हमारे बगला सगीत की धारा का विकास उस रूप मे नहीं हुआ है। इन दोनो मे प्रकृतिगत भेद है। बगला सगीत का विशेषत्व क्या है, उसका दृष्टान्त हमारे कीर्तन मे मिलता है। कीर्तन मे हमे जो आनन्द मिलता है वह तो अविमिश्र सगीत का आनन्द नहीं है। उसके साथ काव्यरस का आनन्द एकात्म रूप से मिला हुआ है।

"मैने जिन गानो की रचना की है, उनकी धारा के साथ हिन्दुस्थानी सगीत की धारा का एक मूलगत प्रभेद है—यह बात तुम स्वीकार करना क्यो नहीं चाहते ? तुम स्वीकार क्यो नहीं करते कि हिन्दुस्थानी सगीत मे 'सुर' मुक्तपुरुष भाव से अपनी महिमा प्रकाशित करता है, शब्द को अशी रूप मे मानने को वह राजी नहीं है—बगला का 'सुर' शब्द को खोजता है, चिरकुमारव्रत उसका नहीं है, वह युगलमिलन का पक्षपाती है। आधुनिक बगला सगीत का विकास तो हिन्दुस्थानी सगीत की धारा के अनुरूप हुआ नहीं। मै तो यह दावा कर भी नहीं रहा हूँ। मेरे आधुनिक गान को सगीत की एक विशेष श्रेणी मे बिठाकर उसे एक विशेष नाम ही दो ना, उसमे आपत्ति क्या है? वटवृक्ष की विशेषता उसकी शाखा-प्रशाखाओं के बहुल विस्तार मे है, ताडवृक्ष का विशेषत्व उसकी सीधी वृद्धि और शाखा पल्लव की विरलता मे है। वटवृक्ष के आदर्श के आधार पर ताडवृक्ष का विचार मत

करो। वस्तुत ताडवृक्ष अचानक वटवृक्ष की भाँति व्यवहार करने लगे तो वह कुश्री हो जाता है।

"तुम क्या यह कहना चाहते हो कि मेरे गान गायक अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार गायेंगे ? मैंने तो अपनी रचना को इस प्रकार खड-विखड करने की अनुमति नहीं दी। मै इसके लिए शुरू से ही तैयार नहीं। जिस रूपसृष्टि मे बाहर के लोगो के हस्तक्षेप का मार्ग खुला है उसका एक नियम होता है, किन्तु जिसका मार्ग नहीं है, उसका अन्य नियम है।

"हिन्दुस्थानी सगीतकारो ने चाहा था कि अपने 'सुर' के बीच की खाली जगह वे गायक भर देगे। इसीलिए दरबारी कान्हडा का कोई खयाल अनलकृत ढग से गाने पर खाली-खाली और नीरस सुनाई देता है, क्योंकि दरबारी कान्हडा तानालाप के साथ ही गेय है, सादे सीधे ढग से नहीं। किन्तु मैंने अपने गान मे इस प्रकार की खाली जगह रखी नहीं है जिसके अन्यो द्वारा भर दिये जाने पर मैं कृतज्ञ होऊँ।

"मेरे गानो का विकार मैंने प्रतिदिन इतना सुना है कि मुझे भी भय होने लगा कि मेरे गानों को स्वकीय रस मे प्रतिष्ठित रखना शायद सम्भव नहीं होगा। गान विभिन्न लोगो के कठ से प्रवाहित होते हैं इसीलिए गायक के अपने दोष-गुण का विशेषत्व गान को सतत कुछ-न-कुछ रूपान्तरित नहीं करता, ऐसा हो नहीं सकता। छवि और काव्य को इस दुर्गति से बचाना सहज है। ललितकला की सृष्टि के स्वकीय विशेषत्व के ऊपर ही उसका रस निर्भर करता है। गान के मामले मे, रसिक हो या अरसिक, सभी उसे अपनी इच्छानुसार सहज भाव से उलट-पलट कर देते हैं, इसीलिए इस ओर अधिक दरद रहना चाहिए। इस सम्बन्ध मे धर्मबुद्धि एकदम खोकर बैठ जाना उचित नहीं है। अपने गान की विकृति देखकर प्रतिदिन दु ख हुआ है, अत इस दु:ख को चिरस्थायी बनाने की इच्छा नहीं है।

"अवश्य, जो वास्तव मे गुणी हैं, उन पर काफी कुछ विश्वास कर मै उन्हे यह स्वाधीनता दे सकता था। किन्तु एक बात है—न देने पर भी मान कौन रहा है, द्वारपाल नहीं है, केवल दुहाई है, ऐसी अवस्था मे दस्यु को भगा कौन सकता है ? इस सम्बन्ध मे मैं तुम्हे केवल एक बात पूछता हूँ कि बगला गान मे हिन्दुस्थानी सगीत के समान अबाध तानालाप की स्वाधीनता देने पर उसका विशेषत्व नष्ट होने की सम्भावना है, इसे तुम मानते हो या नहीं ?

"मैंने तो यह बात कभी नहीं कही कि किसी भी बंगला-गान में तान-प्रयोग नहीं चलता। कई बगला गान हैं, जो हिन्दुस्थानी कायदे से ही तैयार किए गए हैं। उनमें तान-अलकार के प्रयोग का स्थान है। मैंने इस श्रेणी के कई गानो की रचना की है। उन्हे मैं मन ही मन कई बार तानो के सहयोग से गाता हूँ।

"मैं यदि उस्ताद से गान की शिक्षा प्राप्त कर दक्षता के साथ इन सब दुरूह गानो का आलाप कर सकता तो निश्चय ही सुख अनुभव करता, किन्तु अपने अन्तर से अभिव्यजना की वेदना को गान मे मूर्त रूप देने का जो आनन्द है वह उसकी अपेक्षा गभीर है।"

१३६१ बगाब्द (ई १९५४)

रवीन्द्र संगीत में जातिविचार

शिक्षित बगालियो मे गुरुदेव के गान गाने की प्रवृत्ति जिस प्रकार बढी है, उसी प्रकार सम्प्रति उनमे यह विचार, मत भी जाग्रत हुआ है कि ये गान सभी व्यक्तियो के कठ से शोभन नहीं लगते, अर्थात् हिन्दी किवा अन्य प्रकार के बगलागान का अनुशीलन, चर्चा करने वालो का कठ जिस ढग से तैयार है, उससे गुरुदेव के गान ठीक ढग से गाए नही जा सकते। ठीक यही कारण बताकर उन्होंने ऐसा भी कहा है कि जो गायक केवल रवीन्द्र सगीत का गान करते हैं उनके लिए भी अन्य प्रकृति के गान गाने की चेष्टा करना अनुचित है। इस विचारधारा का आज इतना विस्तार हुआ है कि आज कलकत्ता विश्वविद्यालय के बगलासगीत के पाठ्यक्रम मे रवीन्द्र सगीत को अन्यान्य बगला गान से पूर्णतया भिन्न जात का बताकर उसे पृथक् रखा गया है, जैसे रवीन्द्र सगीत अन्यान्य बगलागान के साथ एक पक्ति मे बैठने के लिए राजी नहीं है। भारतीय आकाशवाणी प्रतिष्ठान, विशेषतया कलकत्ता केन्द्र पर अन्यान्य बगला गानों के अच्छे गायक आज गुरुदेव के गान गाने के अधिकारी नहीं हैं। रिकार्ड कम्पनियॉ भी अच्छे, मधुर कठ के धनी अन्यान्य गायको से गुरुदेव के गान रिकार्ड कराने का साहस नहीं करतीं। इस प्रकार बगला गानो मे दो वर्गों की सृष्टि हो रही है, ऐसा हम स्पष्ट रूप से अनुभव कर सकते हैं। गुरुदेव के गानो मे भेदाभेद का यह विचार कहॉ तक युक्तिसगत है, विवेचन कर देखा जाए।

गुरुदेव ने उच्चाग (शास्त्रीय) हिन्दी ध्रुपद, खयाल और टप्पा गान के हूबहू अनुकरण से जिन बगला गानो की रचना की है, उनकी सख्या प्रचुर है और रवीन्द्र सगीत के अनुरागी उनका सर्वदा ही गायन करते हैं, उन गानो को उच्चाग हिन्दी गानो के तुल्य बताकर उनका विश्लेषण-विवेचन भी करते हैं, किन्तु हिन्दी गानो की रागिनी और छन्द की विस्तृत अलकरण-पद्धति का परित्याग कर ही इन गानो को गाने की रीति है। इन गानो के तीन भागो मे दो भागो का कृतित्व है मूल हिन्दी गानो के रचयिताओ का, एक भाग है गुरुदेव का अपना। अर्थात् गुरुदेव ने इन गानो का शब्द-विन्यास ही अपनी इच्छानुसार किया है, उनकी रागिनियो और छन्दो मे किसी प्रकार का परिवर्तन गुरुदेव ने नहीं किया। गाने का ढग भी बगला शब्दो के उच्चारण को छोडकर हिन्दी गानो के समान ही है। हिन्दी गान गाते समय जिस प्रकार की कठसाधना करनी पडती है, इन गानो के गाने के लिए भी उसी प्रकार की कठसाधना आवश्यक है। इसलिए ऐसा कहना ठीक है या नहीं कि बगालियो मे जो अन्यो द्वारा रचित इस प्रकार के गानो का अनुशीलन करते है उनके कंठ के लिए गुरुदेव के ये गान उपयुक्त नहीं हैं, इस पर विचार किया जाना चाहिए।

गुरुदेव के सागीतिक जीवन के इतिहास से इस विषय मे क्या उत्तर मिलता है, अब वह देखा जाए।

गुरुदेव की सगीत-शिक्षा के समय का जो इतिहास हमे मिलता है, उससे पता चलता है कि शिशुवय से ही उन्होने घर पर हिन्दी-गान के वातावरण में तानपुरा लेकर गान किया और कंठ साधना की। उस युग में उनके सभी सगीत-गुरु हिन्दी-गान के ख्यातिप्राप्त उस्ताद थे। इस सगीतमय वातावरण मे गुरुदेव के भाइयो ने गुरुदेव के सगीत-जीवन की बुनियाद या आधार की सृष्टि में जो सहायता की, वह आधार भी था हिन्दी सगीत से प्रभावित विविध प्रकार के सहज बगला गान। आत्मीय जन ने भी हिन्दी या इसी प्रकार के बगला गानो का अनुसरण किया। इस प्रकार यौवन के प्रारम्भ तक गुरुदेव का सागीतिक जीवन हिन्दी गान या हिन्दी गान के प्रभाव से रचित बगला गान के अनुशीलन मे बीता। युवावस्था मे प्रवेश के साथ-साथ ही देखा गया कि वे उच्चाग (शास्त्रीय) हिन्दी गान ध्रुपद, खयाल आदि के अनुकरण से प्रतिवर्ष गानो की रचना करते रहे हैं। घर के विविध प्रकार के उत्सव-अनुष्ठानो मे स्वय भी वे गान गा रहे हैं और उस्तादो से भी वे गान गवाते रहे हैं। गुरुदेव ने युवावस्था के प्रारम्भ से चालीस वर्ष की आयु तक हिन्दी गान के उस्तादो की सहायता से हिन्दी गान के अनुकरण से सर्वाधिक बगला गानो की रचना की। इससे अनायास ही अनुमान लगाया जा सकता है कि गुरुदेव का कठ किस प्रकार के गानो की साधना के लिए तैयार था। उपरोक्त काल मे गुरुदेव ने अपनी स्वेच्छा से गीतिनाट्य, साधारण नाटक, लौकिक प्रेम, पूजा और राष्ट्रीय सगीत आदि विभिन्न विषयो के कई गानो की भी रचना की है। रवीन्द्र सगीतज्ञ अच्छी तरह जानते हैं कि ये विभिन्न स्तरो के हिन्दी गानो के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। ऐसी अवस्था मे यह मानना पडेगा कि इन गानो को गाने के लिए हिन्दी गान की प्रथा से गला तैयार करना होगा।

रवीन्द्र सगीतज्ञ सम्भवत यह प्रश्न कर सकते हैं कि तब क्या भिन्न प्रकृति के बगला गान की गीतिधारा के साथ गुरुदेव के गान का पार्थक्य नहीं है। पृथकता जो है वह अन्य दृष्टि से है। वह है गायक की अपनी गायन-पद्धति या जिसे गायक की निजस्व गायकी कहा जा सकता है। गुरुदेव की निजस्व गायकी क्या है, उसे ही स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयास करूँगा।

गुरुदेव ने हिन्दी ध्रुपद, खयाल, टप्पा, ठुमरी, भजन से शुरू कर बगाल के विविध स्तरो के गानो के प्रभाव से गानो की रचना शुरू की। इसीलिए गान गाते समय उन्होंने मूल प्रथा का अनुसरण कर ही गाया है। किन्तु उसके साथ ही उन्होने ऐसा प्रयास किया है कि गान के शब्दों के द्वारा जिस हृदयावेग को उन्होंने सजाया है उसकी अभिव्यक्ति हेतु अनुकूल कठस्वर का विकास हो। किन्तु वह कठस्वर गान की रागिनी पर प्रतिष्ठित है। उसे यदि रागिनी या 'सुर'-मिश्रित आवृत्ति या गीत-अभिनय कहा जाए, तो बात सम्भवत स्पष्ट हो जाएगी। अन्यान्य रचयिताओ के गानो में भी यह प्रथा है। कीर्तन, विविध प्रकार के लोकसगीत, बगला ध्रुपद, खयाल, टप्पा आदि सब प्रकार के १९वीं-२०वीं शताब्दी के गायको मे यही चेष्टा परिलक्षित होती है। गुरुदेव किस प्रकार अपने गानों को शब्दो के

भावानुयायी गाकर प्रकट करते थे, उसका आदर्श उदाहरण है उनके ही कठ से गाए हुए अपने गानो के रिकार्ड।

यहाँ रवीन्द्र सगीतज्ञ यदि कहे कि भेदाभेद की जो बात वे उठा रहे है वह गुरुदेव के अपने कठ से गाए हुए इन कुछ गानो का आदर्श ध्यान मे रखकर ही उठा रहे हैं, तब इसके उत्तर मे यदि यह बात उठे कि क्या वे स्वय गुरुदेव के आदर्श से अपने गानो की भावप्रकाश-पद्धति को हूबहू ग्रहण कर सके हैं! गुरुदेव के अपने कठ से गाए गए गानो के रिकार्ड को आदर्श रूप मे मानकर अब तक प्रकाशित रवीन्द्र सगीत पर विचार करने पर पता चलेगा कि गुरुदेव के मार्ग पर वे अधिक अग्रसर नहीं हो सके हैं। इसका कारण यह है कि कठस्वर की हूबहू समता कभी नहीं मिलती। भाव-प्रकाश के मामले मे गुरुदेव की गीतपद्धति का हूबहू अनुकरण करना भी सम्भव नहीं है। गायक गान के भावरस मे जितना प्रवेश कर पाएँगे, उतना ही गले से उसका प्रकाश दिखाई देगा। रस की अनुभूति के इस तारतम्य के कारण ही रवीन्द्र सगीत-गायको के गान मे एक के साथ अन्य का पार्थक्य है। निर्भूल या त्रुटिरहित 'सुर' (रागिनी, स्वरसज्जा, धुन) और परिमार्जित कठ से गान गाने को ही गायकी कहना भूल होगी।

गुरुदेव ने स्वय कठ-साधना के पार्थक्य या गाने की पद्धति के पार्थक्य को लेकर कभी किसी को उनके (गुरुदेव के) गान गाने के लिए निरुत्साहित नहीं किया। उन्होने चाहा है कि इस गान के आनन्द का सभी उपभोग करे। अपने जीवितकाल मे उन्हे अच्छी-बुरी विविध पद्धतियों के गायको द्वारा गाए गए अपने गान आमने-सामने या रिकार्डो से सुनने पडे हैं। गुरुदेव के समान विशुद्ध ढग से एक गायक भी नहीं गा सका। वे निश्चित रूप से चाहते थे कि उनके गान त्रुटिरहित 'सुर' मे गाए जाएँ, किन्तु गानो के भाव-रस की बलि नहीं दी जाए। इसके (भाव-रस के) अभाव मे उनके गानो का पूर्ण विकास सम्भव नहीं, इस ओर गायको का ध्यान आकृष्ट करने की इच्छा से ही उन्होने कहा था, उनके गानो पर 'स्टीम रॉलर' नहीं चलाया जाए, अर्थात् गान के भावरस को पीसकर, रौंदकर मारा न जाए। उनका यह आवेदन किसी दलविशेष के लिए नहीं, उनके गान गाने के इच्छुक सभी के लिए है। इसीलिए उन्होने कहा है

"जो लोग श्रम करके पेट भरते हैं, आफिस जाते हैं, उनके लिए ये सब गान गाना (उस्तादी करना) सम्भव नहीं है, उनके लिए उस्ताद की तरह कठसाधना कठिन है। इसीलिए यहाँ के गानो को व्यवसाय से दूर रखना ही अच्छा है। गान ऐसे हो, जिनसे आसपास रहने वाले लोग खुश हो ये गान बाहर के लोगो से करतलध्वनि पाने के लिए नहीं हैं। जो उस्ताद हैं उनके लिए चिन्ता नहीं है, चिता उन लोगो की है जो गान को सरल ढग से मन के आनन्द के लिए पाना चाहते हैं। यदि मेरे गान सीखना चाहते हो तो निभृत स्थान पर खुले गले से गाओ।"

पुन: कहा है

"जीवन के अस्सी वर्षो तक खेती की है, पूरी फसल धान्यागार मे जमा होगी, कह नहीं सकता। कुछ चूहे खा जाएँगे, फिर भी कुछ शेष बचेगा। जोर देकर कहा नहीं जा

सकता, युग बदलता है, काल बदलता है, उसके साथ सब कुछ तो बदलता है। किन्तु मै जोर देकर कह सकता हूँ कि सवपिक्षा स्थायी मेरे गान है। विशेष रूप से बगाली, शोक-दु ख मे, सुख मे—आनन्द मे मेरे गान गाने के अलावा उनके लिए और कोई चारा नही है। युग-युग मे उन्हे ये गान गाने ही होगे।

गुरुदेव के सागीतिक जीवन और सगीत-चिन्तन का स्मरण कर रवीन्द्र सगीत-भक्तो से मेरा यही अनुरोध है कि भेदाभेद भूलकर वे इन गानो के समस्त सगीतप्रेमियो मे प्रसार की बात सोचे, जिससे सभी गा सके, गाकर आनन्द दे सके उसी मार्ग पर अपने चिन्तन और कार्य को परिचालित करे। इस गान मे आभिजात्य का गर्व लाकर, अन्यो को अस्पृश्य मानकर उनकी छाया को दलित करने के दोष से जैसे इसे दोषी न होना पडे।

१३६६ बगाब्द (ई १९५९)

रवीन्द्र संगीत किस प्रकार गाया जाए

गान-रचना की पूजनीय गुरुदेव की विशेष रीति थी। गान के भाव के प्रति ध्यान रखकर वे यह स्थिर करते थे कि किस ताल के छन्द मे इसकी 'सुर'-योजना (स्वर-सयोजन) करनी होगी। जैसे—श्रद्धा, वन्दना, भक्ति, गम्भीर और शान्त प्रकृति के गानो के लिए वे हिन्दी चौताल के ध्रुपद गान की रचना-रीति के अनुसार सरल और निराभरण 'सुर'-योजना करते थे। सहज ताल मे, उसी प्रकार के गानो की रचना के समय भी देखा गया है कि 'सुर'-योजना और उसकी गीत-रीति मे ध्रुपद रचना-रीति की छाप है। उद्दीपक और उल्लास की कविता को जब 'सुर' मे बिठाते, तब स्वरो के आरोहण-अवरोहण मे कुछ व्यवधान रहता था। इस प्रकार के सभी गान वाणी पर निर्दिष्ट छन्द का आघात देते हुए मध्यलय मे गाए जाते है। आनन्द चचल आवेग के गानो के लिए 'सुर'-योजना द्रुत लय के घन-सन्निविष्ट छन्द के आघात के साथ करते थे। हताशा, विषण्णता, विरहवेदना, दु ख या रोदन के आवेग के गानो को विलम्बित लय के ताल मे बिठाया है। कभी-कभी विलम्बित लय के ताल के बधन से मुक्त होकर इस प्रकार के गान को खडित या अनियमित छन्द मे गाया है। गान के इस प्रकार के विचित्र भावावेग के प्रति ध्यान रखकर, अनुकूल ताल के छन्द और लय मे शिल्पी यदि उसे अपने कठ से प्रकट कर सके, तभी गान का रूप और रस सहज ही प्रस्फुटित होगा, गान गाते समय इस पक्ष की ओर ध्यान रखना प्रत्येक गायक-गायिका का परम कर्तव्य है। भाव के प्रतिकूल ताल के छन्द मे परिवेशित गान को मैं विकृत गान कहूँगा।

गुरुदेव के गानो को कठ से प्रकाश के समय या गाते समय कठस्वर के प्रयोग की कुछ रीतियाँ हैं। जैसे—वन्दना, श्रद्धा, शान्त, उल्लास, उद्दीपन, आनन्दचचल, दु ख, क्रोध, विरह-वेदना आदि भावों से युक्त कविता की आवृत्ति के समय विविध प्रकार के कठस्वर के प्रयोग की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार गान के रसभेद से कठस्वर ऊँचा-नीचा अर्थात् कभी मृदु, कभी मध्यबल, कभी प्रबल, कभी क्रमश मृदु से क्रमश ऊँचा या क्रमश ऊँचे से क्रमश मृदु स्वर का प्रयोग करना पड़ता है। एकरूप मृदुस्वर मे या एकरूप प्रबल स्वर मे गुरुदेव के गान गाने की रीति नहीं है।

गुरुदेव अपने उद्दीपक और गम्भीर प्रकृति के गानो मे तत्सम शब्दो का अधिक प्रयोग करते थे। तत्सम शब्दयुक्त कविता की आवृत्ति के समय गुरुदेव शब्दों का जिस रूप में प्रस्वन (महाध्वनि, प्रबलध्वनि) द्वारा उच्चारण करते थे, उनके गानो के 'सुर'-सयोजित तत्सम शब्दो के मामले मे भी उन्हे उसी प्रकार की उच्चारण-रीति का अवलम्बन करते देखा गया

है। तद्‌भव शब्दो से युक्त उद्दीपक गानो की भी उन्होने रचना की है, किन्तु उनके शब्दो का वे ताल के आघात के साथ कठस्वर से या वाचनभगी मे इस प्रकार जोर देकर उच्चारण करते कि उनके द्वारा समग्र गान का भावरूप सहज ही प्रकट हो जाता।

गुरुदेव के विविध प्रकार के हृदयावेग के गानो मे हमे आहा, अहो, आ , आय, एस, ओगो, की, केन, चलो, छि, दे, डेकोना, तुइ थाक्, धर, धिक, ना, जाओ, याक्, हा, हागो, हारेरेरे, हाइ, हॉच्छो, हाय, हो, हे, प्रभृति कई प्रकार के शब्द मिलते है। किन्तु इनमे किसी एक शब्द को उन्होने जब क्रोध, दु ख, विस्मय आनन्द, वेदना प्रभृति आवेग के गानो मे प्रयुक्त किया है, तब उसका व्यवहार किस अर्थ मे किया गया है यह ठीक ढग से समझकर स्वर के सहयोग से भावानुकूल स्वरभगी की सहायता से उच्चारित होने पर शब्दयुक्त पक्ति या समग्र गान का वास्तविक अर्थ आत्मसात करना सहज होगा। जो गायक या गायिका 'सुर'-युक्त स्वरभंगिमा मे उसे प्रकट करने मे अक्षम हैं, उनकी शिक्षा असम्पूर्ण रहेगी।

गुरुदेव के गीतनाट्य और नृत्यनाट्य के गान एव 'सुर' मे आवृत्तिमूलक कुछ गान हैं, जो उपरोक्त गीतरीति मे गाए न जा सकने पर भी भावानुयायी गाए गए, ऐसा कहना ठीक नही होगा। गीतनाट्य और नृत्यनाट्य के क्षेत्र मे चरित्र के अनुसार शब्दो के भावो के परिवर्तन के साथ-साथ ताल और लय मे भारी परिवर्तन करना पडता है। इस कारण इन सब नाटको के भिन्न-भिन्न प्रकृति के गानो को 'सुर' के सहयोग से किस प्रकार की स्वरभगिमा से एव छन्द और लय की गति मे गाना होगा, उसका सुन्दर अनुशीलन आवश्यक है।

रवीन्द्र सगीत की गीतरीति के ये कुछ मूल तत्त्व हैं एव गायक और गायिकाओ के लिए इनका सठीक अनुशीलन परम आवश्यक है। शिक्षको का भी कर्तव्य है कि वे गान गाकर शिक्षार्थियो को ये सूत्र अच्छी तरह से समझाने का प्रयास करे। केवल मुँह से व्याख्या-विश्लेषण या ग्रन्थ की व्याख्या के पाठ से शिक्षार्थी इस गीतरीति को कँठ से निकाल नहीं सकेंगे। शिक्षक को सब प्रकार के गान गाकर समझाना होगा कि गान के वास्तविक रस और भाव की किस प्रकार कठ से अभिव्यक्ति की जाए।

गुरुदेव के किसी भी गान के सुन्दर परिवेशन के लिए गायक का यह कर्तव्य है कि वह लिरिक, काव्य के हिसाब से समग्र गान के मूल भाव को अन्तर मे अनुभव करने की चेष्टा करे एव गान के प्रत्येक शब्द के व्यवहार के वास्तविक तात्पर्य का अनुधावन करे। इसके अलावा उच्चाग सगीत की राग-रागिनी एव देशी 'सुर' (धुन) मे विविध प्रकार के लिरिक आवेग जिस प्रकार सचित हैं, उसे हृदय मे ग्रहण करने की शिक्षा आवश्यक है। और एक शिक्षणीय विषय है उच्चाग (शास्त्रीय) एव लोकप्रचलित गानो से जुडे विचित्र तालो का छन्द-ज्ञान। गान का ताल भी भाव-प्रकाश का एक आवश्यक अग है।

इस प्रकार सर्वांगीण शिक्षा में पारदर्शी गायक और गायिका हिसाब से जिस दिन हम रवीन्द्र सगीत गाकर सुना सकेगे, उस दिन रसिक श्रोता जान सकेगे कि रवीन्द्र संगीत किस प्रकार गाना चाहिए।

१३८४ बगाब्द (ई १९७७)

रवीन्द्र संगीत पर ध्रुपद का प्रभाव

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के गानो पर भारतीय उच्चाग हिन्दी (शास्त्रीय) सगीत, बगाल के विविध प्रकार के देशी सगीत एव यूरोपीय सगीत के प्रभाव की बात हम सर्वदा करते है, किन्तु इनमे से किस सगीतधारा ने उनके मन को यथार्थ मे सवपिक्षा प्रभावित किया था अथवा किसका प्राधान्य था, उसका विशद परिचय प्राप्त करने की ओर हमने अब तक उतने मनोयोग से ध्यान नहीं दिया है। इस विषय को ठीक ढग से समझने के लिए पहले हमे गुरुदेव की कुछ संक्षिप्त उक्तियो पर निर्भर रहना पडेगा।

गुरुदेव ने एक स्थल पर कहा है—"हम बाल्यकाल से ध्रुपद गान सुनने के अभ्यस्त है, उसका आभिजात्य बृहत् सीमा मे अपनी मर्यादा कायम रखता है। इस ध्रुपद गान मे हमने दो तथ्य, मुख्याश पाए हैं—एक ओर उसकी विपुलता, गभीरता है, और दूसरी ओर उसका आत्मदमन, सुसगति मे वजन कायम रखना है।" और एक स्थान पर उन्होने कहा है—"जनश्रुति है कि मै हिन्दुस्थानी सगीत जानता नहीं, समझता नही। मेरे रचनाकाल के प्रारम्भिक समय मे रचित गानो मे हिन्दुस्थानी ध्रुवपद्धति की राग-रागिनियो का साक्ष्य अत्यन्त विशुद्ध प्रमाण सहित मौजूद है और वह भावी शताब्दी के पुरातत्त्वविदो के निदारुण वाद-विवाद की प्रतीक्षा मे है। इच्छा होते हुए भी उस सगीत से ही मै प्रेरणा प्राप्त करता हूँ, यह बात जो लोग नही जानते वे हिन्दुस्थानी सगीत नहीं जानते।"

गुरुदेव की इन दो उक्तियो से उनकी गान-रचनापद्धति के सम्बन्ध मे जो संकेत हमे मिला है, उसे ठीक ढग से समझने के लिए भारतीय ध्रुपद सगीत के विस्तृत विश्लेषण की आवश्यकता है। गुरुदेव का जन्म वर्ष हुआ ई १८६१ मे (जन्म २५ वैशाख, १२६८ बगाब्द, ७ मई, ई १८६१)। इस युग मे उच्चाग (शास्त्रीय) हिन्दी सगीत के प्राय सभी गुणियो की शिक्षा का आधार ध्रुपद गान को केन्द्र कर ही निर्मित होता था। उस समय के बगाल मे उच्चाग हिन्दी ध्रुपद गान के जो कुछ उल्लेखयोग्य केन्द्र बने थे, उनमें कलकत्ता, विष्णुपुर, कृष्णनगर प्रधान थे। इसके अलावा अगरतला और कूचबिहार एवं पूर्वबंगाल के कुछ धनी जमींदार भी ध्रुपद-गुणियो के पृष्ठपोषक थे। कलकत्ता के धनिको में यतीन्द्रमोहन ठाकुर और सौरीन्द्रमोहन ठाकुर द्वारा ध्रुपद गान की पृष्ठपोषकता का परिचय बगला सगीत जगत् को है। इस युग मे तत्कालीन अग्रेज सरकार द्वारा अयोध्या राज्यच्युत नवाब वाजिद अली शाह के कलकत्ता का मेटियाबुर्ज-दरबार ध्रुपद और खयाल गान का एक उल्लेखयोग्य केन्द्र था। गुरुदेव के जोडासॉको निवास के उच्चाग सगीत अनुशीलन के इतिहास पर नजर दौडाने पर पता चलेगा कि उस युग मे वहाँ भी ध्रुपद गान के गुणियो का स्थान सबसे ऊपर था।

गुरुदेव के जन्म के समय उनके भ्राताओ ने जिनसे हिन्दी ध्रुपद गान की शिक्षा पाई थी, वे कृष्णनगर राजदरबार के शिक्षा-प्राप्त विष्णु चक्रवर्ती थे। १९वीं शताब्दी के आरम्भ मे कृष्णनगर के राजदरबार मे तानसेन-घराने के एक मुसलमान ध्रुपद-उस्ताद अपने दो सगीतज्ञ पुत्रो के साथ शिक्षक रूप मे नियुक्त थे। इनके साहचर्य से विष्णु चक्रवर्ती और उनके अग्रज किष्टु चक्रवर्ती ने उच्चाग हिन्दी गान की शिक्षा पाई। शिक्षा पूरी कर दोनो भ्राता पहले कलकत्ता आए, ई १८२८ मे जब राजा राममोहन राय ने ब्राह्मसमाज या ब्रह्मसभा की स्थापना की तब वे इस सभा मे उपासना के प्रयोजनीय गान गाने के लिए नियुक्त हुए। राजा राममोहन राय और विष्णु चक्रवर्ती के अग्रज की मृत्यु के बाद गुरुदेव के पितृदेव महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने द्वारा प्रतिष्ठित आदि ब्राह्मसमाज के गायक और अपने घर पर बालक-बालिकाओ के शिक्षक के रूप मे विष्णु को नियुक्त किया। गुरुदेव अपने शैशवकाल मे विष्णु के सस्पर्श मे आए, एव किस प्रकार उनसे सगीत सीखते थे, उसका वर्णन हमे मिलता है। किन्तु ध्रुपद गान के गायक के रूप मे विष्णु ने उनके अन्तर को कितना आकृष्ट किया था, उसका वर्णन करते हुए उन्होने कहा है—"बगालियो की स्वाभाविक गीतमुग्धता और गीतमुखरता हमारे घर मे जैसे निर्बाध स्रोत के समान प्रवाहित हुई थी। विष्णु ध्रुपद गान के विख्यात गायक थे। प्रतिदिन सुबह-शाम उत्सव मे, आमोद-प्रमोद मे, उपासना-मदिर मे उनका गायन सुना है, हमारे आत्मीय घर-घर मे तानपुरे के साथ सगीत-साधना कर रहे है।"

गुरुदेव के अग्रज ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर ने विष्णु के सम्बन्ध मे कहा है—"अन्यान्य उस्तादो के गान की अपेक्षा विष्णु के गान ही सभी लोग अधिक पसन्द करते थे। उस्ताद जिस प्रकार तान-अलकार को प्राधान्य देते है, विष्णु ऐसा नहीं करते थे। वे थोडी तानो का व्यवहार अवश्य करते थे, किन्तु उनसे रागिनी का रूप सुन्दर ढग से प्रस्फुटित हो उठता था, उनसे गान आच्छन्न, आवृत्त नहीं रहता था। इसके अलावा शब्दो का जो मूल्य है, वह भी विष्णु के गान मे पूर्ण रूप से कायम रहता था। गान का 'सुर' (रागिनी) और गत सभी सहज ही समझ सकते थे। विष्णु ध्रुपद, खयाल ही अधिक गाते थे।"

गुरुदेव ने अपने निवास के सागीतिक परिवेश के सम्बन्ध मे अन्य एक उल्लेखयोग्य विवरण मे कहा है—"बाल्यकाल मे स्वभावगत दोष के कारण मैंने यथारीति गान जरूर नहीं सीखा, किन्तु सौभाग्य से मेरा मन गान के रस मे आर्द्र, रसयुक्त हो गया था। उस समय हमारे निवास पर सगीत-अनुशीलन निरन्तर, अविराम चलता था। विष्णु चक्रवर्ती सगीत के आचार्य थे, हिन्दुस्थानी सगीतकला मे वे उस्ताद थे। अतएव बाल्यकाल में जिन सब गानों को सर्वदा सुनते रहने का मेरा जो अभ्यास था, वे शौकिया वर्ग के गान नहीं थे, इसीलिए मेरे मन पर उस्तादी (ध्रुपद, खयाल में पारदर्शी शैली के) गान का थाट स्वत प्रतिष्ठित हो गया था। उस्तादी सगीत के रूप एव रस के सम्बन्ध मे एक प्रकार का साधारण सस्कार मेरे मन मे अन्दर-ही-अन्दर पक्का हो गया था।"

विष्णु की मृत्यु के बाद गुरुदेव के निवास पर विष्णुपुर के प्रख्यात ध्रुपदिया यदुभट्ट कुछ समय के लिए सगीत-शिक्षक के रूप में नियुक्त हुए। उस समय गुरुदेव ने किशोरावस्था

मे प्रवेश ही किया था। इनके प्रति गुरुदेव की गभीर श्रद्धा थी। प्रतिभादीप्त गुणी गायक के रूप मे उनकी प्रतिभा की प्रशसा करते हुए गुरुदेव ने कहा है—"बाल्यकाल मे मैने एक बगाली गुणी को देखा था, गान उनके अन्तर के सिहासन पर राजमर्यादा प्राप्त था, कठ की ड्योढी पर भोजपुरी दरबान की तरह ताल नहीं ठोकता था। उनका नाम तुम लोगो ने निश्चय ही सुना है। वे ही थे विख्यात यदुभट्ट। जब वे हमारे जोडासॉको-निवास पर रहते थे, तब विभिन्न प्रकार के लोग उनसे शिक्षा ग्रहण करने आते थे, कोई मृदग वादन सीखता, कोई राग-रागिनी का आलाप। बगाल मे इस प्रकार का उस्ताद और कोई जन्मा नहीं। उनके प्रत्येक गान मे Originality (मौलिकता) थी, जिसे हम स्वकीयता कहते हैं।" यदुभट्ट हिन्दी भाषा मे विषमछन्द के ध्रुपद की रचना के विशेष पक्षपाती थे। उनकी रचनाओ मे हमे इस प्रकार के गान ही मिले है। जोडासॉको की ठाकुरबाडी में शिक्षक के रूप मे वे अनुमानत. पॉच-छह वर्षों तक थे।

यदुभट्ट के जोडासॉको का काम छोडकर त्रिपुरा महाराज के दरबार मे चले जाने के बाद जोडासॉको की ठाकुरबाडी मे विष्णुपुर के प्रख्यात ध्रुपदिया राधिकाप्रसाद गोस्वामी नियुक्त हुए। वे आदि ब्राह्मसमाज के गायक एव ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रतिष्ठित भारतीय सगीत समाज मे दीर्घकाल से सगीताचार्य के पद पर नियुक्त थे। राधिका गोस्वामी गुरुदेव के समवयसी थे। राधिकाबाबू जब जोडासॉको की ठाकुरबाडी में नियुक्त हुए, उस समय गुरुदेव की नियमित रूप से गान सीखने की आयु नहीं थी और उनके पास समय भी नहीं था, क्योकि पारिवारिक तथा अपने खुद के विविध प्रकार के कई काम थे। किन्तु हम जानते हैं कि राधिका गोस्वामी के कंठ से कई प्रकार के हिन्दी ध्रुपद, धमार और खयाल सुनकर गुरुदेव ने उनके अनुसरण से घर की उपासना के लिए कई गानो की रचना की थी। रथीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने 'पितृस्मृति' ग्रन्थ मे बाल्यजीवन के घर के सागीतिक परिवेश के सम्बन्ध मे लिखा है—"हमारे निवास पर उस समय गायन-वादन हर समय चलता रहता था। बैठकखाने मे दादा द्विपेन्द्रनाथ (दिनेन्द्रनाथ के पिता) उस्ताद के साथ मजलिस जमाते थे। उस समय उस्ताद सर्वदा उनकी बैठक मे गाने के लिए आते थे। राधिका गोस्वामी ध्रुपद गाने के लिए अनुबन्धित गायक थे।"

इसके बाद विष्णुपुर के प्रख्यात ध्रुपदिया गोपेश्वर बन्द्योपाध्याय के कनिष्ठ भ्राता ध्रुपद गायक सुरेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय आदि ब्राह्मसमाज के गायक के रूप मे नियुक्त हुए। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक तक जोडासॉको ठाकुरबाडी ध्रुपद गान से मुखर थी। हिन्दी भाषा के ध्रुपद गान की रचना-रीति एव उसकी गीत पद्धति के विषय मे सम्यक् ज्ञान न होने तक यह समझ मे नहीं आएगा कि गान-रचना में गुरुदेव किस प्रकार उससे प्रभावित हुए थे। इस कारण हिन्दी ध्रुपद गान की गठन-रीति और उसकी गीत पद्धति के बारे मे विवेचन कर, उसके परिप्रेक्ष्य मे गुरुदेव के गान प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करूँगा।

१९वीं शताब्दी के शेषार्ध मे कृष्णधन बन्द्योपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'गीतसूत्रसार' मे उस युग के प्रचलित ध्रुपद और खयाल गान के सम्बन्ध में आलोचना करते हुए लिखा है—"ध्रुपद की रचना विस्तृत, एव चार अंशो अर्थात् कलियों मे विभक्त है। इस कलि को

हिन्दुस्थानी गायक 'तुक' नाम से पुकारते है। चार तुको के चार भिन्न नाम है, यथा—स्थायी, अन्तरा, सचारी और आभोग । कई ध्रुपद के केवल दो तुक ही गाए जाते हैं, वह विस्मृति अथवा शिक्षा की त्रुटि का फल है।

"गान के प्रथम भाग का नाम है स्थायी, जिसे मुखडा किवा ध्रुवा (ध्रुव) कहा जाता है, इसके आरम्भ होने का कोई 'सुर' (स्वरसज्जा) निर्दिष्ट नहीं है।

"गान की द्वितीय कलि का नाम है अन्तरा, इसमे 'सुर' का एक नियम निर्दिष्ट है, यह प्राय मध्य सप्तक के मध्य स्थान से आरम्भ कर तार सप्तक के सा तक आरोहरण कर, वहाँ कुछ विश्राम कर, बाद मे राग विशेष मे कुछ और ऊपर जाकर अवरोहण करता है, कोई गुणी सा से अवरोहण कर स्थायी के सुर के साथ मिलकर गान समाप्त करते है।

"गान की तृतीय कलि का नाम है सचारी, इसका नियम यह है कि गान के स्थायी भाग के, जो मध्य सप्तक मे सम्पादित होता है, एकाश से अवरोहण कर गायक के सामर्थ्य के अनुसार मन्द्र सप्तक के कुछ दूर अवरोहण कर पुन आरोहण किया जाता है और 'सा' पर गान समाप्त होता है। उसके बाद गान पुन आरोहण गति का अवलम्बन करता है, तार सप्तक के कुछ स्वरो तक विचरण करता है, पुन अवरोहण कर मध्य सप्तक के किसी स्थान पर समाप्त होता है—इस प्रकार अवस्थापन्न कलि को आभोग कहा जाता है, यह गान की अन्तिम कलि है।

"रचना-कौशल के अभाव के कारण आभोग का 'सुर' (स्वर-सज्जा) प्राय अन्तरे के समान लगता है। इन चार कलियो को गाने का नियम यह है—स्थायी बारम्बार गाई जाती है, उसके बाद अन्तरा गाकर पुन स्थायी गाई जाती है, सचारी गाने के बाद स्थायी गाने की रीति नही है, सचारी के बाद ही आभोग गाया जाता है।

"खयाल की रचना ध्रुपद की अपेक्षा सक्षिप्त है, इसमे प्राय दो से अधिक तुक नही है, अर्थात् इसमे केवल स्थायी और अन्तरा हैं। कभी-कभी इसमे तीन-चार कलियाँ भी रहती है किन्तु उन सबका 'सुर' (स्वर-सज्जा) अन्तरे के समान रहता है।

"पखावज पर जो ताल बजते हैं; यथा—चौताल, धमार, शूलफॉक्ता (१० मात्रा), झपताल, तेवट (त्रिवट=झूमरा=१४ मात्रा), आड़ाचौताल, रूपक, धीमातेताला, सवारी, इन तालो मे ही ध्रुपद गाए जाते हैं। झपताल, शूलफॉक्ता और तेवडा (७ मात्रा) तालो मे निबद्ध ध्रुपद केवल द्रुत लय मे ही गाए जाते हैं।"

१९वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में रचित 'सचित्र विश्वसगीत' नामक अन्य एक ग्रन्थ मे ध्रुपद के सम्बन्ध मे कहा गया है

"जो सभी गीत कुछ निर्दिष्ट नियमो मे बँधे हुए हैं एव जो खयाल और टप्पा के समान इच्छानुसार नियमच्युत नहीं होते, वही ध्रुपद है। इसके अलावा ध्रुपद के पद टप्पा और खयाल की अपेक्षा विलम्बित हैं। इसके चार चरण होते है। यथा—स्थायी, अन्तरा, सचारी-आभोग। ध्रुपद अत्यन्त गम्भीर गान है। जो ताल ध्रुपद के ताल रूप मे विख्यात है, उनके अलावा अन्य किसी ताल मे ध्रुपद नहीं गाए जाते।

"ध्रुपद के चार पदो से हटने का कोई उपाय नहीं है। ध्रुपद के ताल साधारणतया अतिविलम्बित होते हैं। ध्रुपद का 'सुर' खयाल, टप्पा के समान विविध प्रकार का नहीं किया जा सकता।"

बगाली उस्ताद बगला भाषा मे ध्रुपद गान की रचना कर, उन्हे गाने मे कुठा बोध करते है इसीलिए उनके इस मनोभाव का प्रतिवाद कर आदि ब्राह्मसमाज की उपासना के लिए रचित बगला भाषा के ध्रुपद गान के सम्बन्ध मे लेखक ने कहा है—"ब्राह्मसमाज से बगला भाषा के जो ध्रुपद रचित हुए हैं, क्या वे किसी मायने मे हिन्दी भाषा मे रचित ध्रुपद से मन्द हैं ?"

विष्णुपुर घराने के प्रख्यात ध्रुपद गायक गोपेश्वर बन्द्योपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'सगीत चन्द्रिका' के प्रथम भाग मे ध्रुपद गान के सम्बन्ध मे लिखा है—"हिन्दुस्थानी सगीत मे तीन प्रकार के गान प्रधान हैं, यथा—ध्रुपद (ध्रुवपद), खयाल और टप्पा। इनमे ध्रुपद ही आदि गान है। इसमे 'सुर' रचना का गाम्भीर्य विशेष रूप से कायम रखा जाता है। मृदग पर जिन तालो का व्यवहार होता है, अर्थात् चौताल, धमार, आडाचौताल, तेवडा, रूपक, शूलफॉक्ता, झपताल, सवारी, ब्रह्मताल, धीमातेताला, इन सब तालो मे ही ध्रुपद गाए जाते है। ध्रुपद की गति प्राय धीर है एवं गति की प्रकृति के अनुसार यह ईश्वर-उपासना के लिए विशेष उपयोगी है। ध्रुपद मे चार तुक (कलियॉ) रहते है, यथा—स्थायी, अन्तरा, सचारी और आभोग। प्रथम तुक का नाम है 'स्थायी', जिसे 'महडा' (मुखडा) या 'धुआ' (ध्रुव) कहते हैं। द्वितीय तुक का नाम है 'अन्तरा', तृतीय तुक का नाम है 'सचारी' और चतुर्थ तुक का नाम है 'आभोग', किसी-किसी ध्रुपद मे स्थायी और अन्तरा ये दो तुक ही मिलते हैं।

"जिस ध्रुपद मे 'छन्द' शब्द का उल्लेख रहता है एव जो पद्य मे रचित है उसे 'छन्द' कहा ज़ाता है, एव जिस ध्रुपद मे 'धारु' शब्द का उल्लेख रहता है, उसे 'धारु-ध्रुपद' कहा जाता है। 'धारु-ध्रुपद' नायक गोपाल की सृष्टि है।

"खयाल। खयाल का 'सुर' और रचना ध्रुपद की अपेक्षा बहुत सक्षिप्त है। ध्रुपद मे 'सुर' की गति अलग है और खयाल मे अलग प्रकार की है। इसमे (खयाल मे) जिन द्रुत तानो और गिटकरी का व्यवहार होता है, ध्रुपद मे उनका व्यवहार नहीं है, एवं ध्रुपद मे गमक का जैसा व्यवहार होता है, वैसा गमक-व्यवहार खयाल मे नहीं है। खयाल मे स्थायी और अन्तरा दो ही तुक हैं। किसी-किसी खयाल मे चार तुक भी देखे जाते हैं, उन सबको हिन्दुस्थान मे 'ओलाव' कहा जाता है। खयाल गायन मे मध्यमान, आडाठेका, त्रिताल, एकताल, तेवट आदि तालो का व्यवहार होता है।" गत चार सौ वर्षो से समग्र उत्तर भारत के सगीत की श्रेष्ठ सम्पद ध्रुपद गान के जो विशेष गुण हैं, वे गुरुदेव की भाषा में हैं— "विपुलता, गभीरता, एक ओर उसका आत्मदमन, सुसगति मे अपना वजन कायम रखना।" इस आदर्श को कायम रखने के लिए ध्रुपद को कुछ कठोर नियमो का पालन करना पडता है। जैसे, ध्रुपद के राग-विस्तार का दायित्व एक ही राग या रागिनी के आलाप पर है। इसी कारण ध्रुपदिये ध्रुपद गान गाने के पूर्व उस राग या रागिनी के आलाप की भूमिका

के साथ गान शुरू करते थे।

आलाप न जानने वाले ध्रुपदियो के लिए उस युग के गायक-महल मे कोई स्थान नही था। आलाप राग-रागिनी का अलकृत गतिशील विकास है। ध्रुपदिये गानो का 'सुर' (स्वरसज्जा) हूबहू कायम रखने हेतु पूर्ण प्रशिक्षण प्राप्त करने का प्राणपण से प्रयास करते थे। ध्रुपद मे विशुद्ध गमक के अलावा अन्य किसी प्रकार के अलकार का व्यवहार निषिद्ध था। यहॉ तक सुना जाता है कि ध्रुपद के आरम्भिक युग मे दून, चौदून और बोलतान के प्रयोग की रीति नहीं थी, केवल धमार ताल मे रचित ध्रुपद मे ही इस प्रकार का प्रयोग हो सकता था। ध्रुपद-गान के गुणी स्वीकार करते थे कि ध्रुपद की मर्यादा केवल शब्द (काव्य) को प्राप्य नही, रागिनी को भी नहीं, 'सुर' (रागिनी), शब्द (काव्य) और छन्द के मिलन से जिस रस की निष्पत्ति होती है, उसमे ही उसका वास्तविक परिचय निहित है। ये थे ध्रुपद गान के कुछ मूल लक्षण। चौताल, धमार, आडाचौताल मे रचित हिन्दी ध्रुपद गान की गति धीर और प्रकृति गम्भीर है, 'सुर'-योजना की पद्धति सहज, सरल और निराभरण है। इस गान मे चाचल्य नहीं है। गान शान्त, उदात्त और धर्मसाधना के अनुकूल है। इस गान मे अकम्पित स्वर ही अधिक हैं, किन्तु गमक और मीड प्रधान हैं। गाते समय गायक रागिनी की शुद्धता को कठोरता से कायम रखते रहे हैं। 'सुर' के परिवर्तन की स्वाधीनता नही थी। 'सुर' को शब्द के साथ स्पष्ट रूप से प्रकाश करना ही इस गान की रीति थी। धीमा तेताला का गान पहले ध्रुपद का ही सगोत्रीय था।

गुरुदेव के जन्म के पूर्व ही उनके अग्रजो और आत्मीयजनो ने आदि ब्राह्मसमाज की उपासना के लिए हिन्दी ध्रुपद, खयाल और टप्पा के अनुसरण से प्राय पचास से अधिक गानो की रचना की थी। अनुकरण से इस प्रकार के गानो की रचना के समय उन्होने जिन बडे-बडे ध्रुपदियों की सहायता ली थी, उनमें विष्णु चक्रवर्ती, रमापति बन्द्योपाध्याय, शान्तिपुर के रामचन्द्र राय और यदुभट्ट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गुरुदेव ने शैशवावस्था से ही नियमित रूप मे ध्रुपद और खयाल सुने हैं एव गाए हैं, घर पर भी ध्रुपद के प्राणवान् सागीतिक परिवेश मे बडे हुए हैं। आरम्भ मे मैंने ध्रुपद गान के सम्बन्ध में गुरुदेव की जो दो उक्तियाँ उद्धृत की हैं, उनमे उनके निवास के ध्रुपद गान के प्राणवान् परिवेश एवं प्रभाव में उनके जीवन का वर्णन है। उनकी इन उक्तियों के आधार पर ही उनके गान को समझना होगा। जिस प्रकार उन्होंने हिन्दी ध्रुपद गान मे जिस विपुलता, गभीरता, आत्मदमन, सुसंगति में अपना वजन कायम रखने जैसे गुण देखे हैं, उनके अपने गानों में ये ही गुण ओतप्रोत हैं। ध्रुपद गान जिस प्रकार चार कलियो मे विभक्त है, गुरुदेव के अधिक गानों में चार कलियाँ ही हैं एवं उनकी गायन-पद्धति भी उसी प्रकार है। गम्भीर प्रकृति के हिन्दी ध्रुपद गान जिस प्रकार चौताल, धमार, आडाचौताल प्रभृति धीमी लय के छन्दों में रचित होते थे, गुरुदेव ने भी ऐसी प्रकृति के अपने गानो में चौताल आदि तालों के समान धीमी लय के छन्द को ही ग्रहण किया है। द्रुत लय के छन्द-प्रधान या सशक्त गानों में ध्रुपद के झपताल, शूलफाँक्ता, और तेवडा ताल का व्यवहार किया गया है। ध्रुपद गान में द्रुत खयाल व टप्पा के समान 'सुरालंकार' जिस प्रकार निषिद्ध

थे, गुरुदेव के चार कलियोवाले सभी गान इसी प्रकार 'सुरालकारहीन' है। ध्रुपद गान मे द्रुत खयाल के समान रागिनी के विस्तार को गायक कभी प्रधान्य नही देते, रागिनी, गान के भाव और ताल के सुन्दर मिलन को प्राधान्य देते थे। गुरुदेव रचित पूजा-श्रेणी के ऐसे कुछ गान मिलते हैं, जिनके ताल गुरुदेव कर्तृक सृष्ट है या हिन्दी ध्रुपद गान मे अप्रचलित हैं। जैसे 'रूपकडा', 'नवताल', 'नवपचताल', 'एकादशी' और 'झम्पक'। इन तालो मे जिन गानो की रचना गुरुदेव ने की है, उनकी गठन-पद्धति और गीतपद्धति हूबहू चार कलि के हिन्दी ध्रुपद के समान है। शूलफॉक्ता ताल और तेवडा ताल के समान केवल प्रस्वन इसमे है, खाली के व्यवहार का स्थान इसमे नही है।

ध्रुपद गान के समान खयाल, टप्पा, ठुमरी, बगला कीर्तन और लोकसगीत मे चार कलियो के भाग मे 'सुर'-योजना (स्वर-सयोजन) की रीति नही है। 'सुर' (रागिनी) की दृष्टि से ये सभी दो कलियो के गान हैं। स्थायी के बाद अन्तरे का स्वर-सयोजन होता है। परवर्ती कलियॉं रहने पर अन्तरे के समान ही उनमे 'सुर' की पुनरावृत्ति होती है, यानी स्वर-सज्जा अन्तरे के समान ही रहती है। किन्तु गुरुदेव ने खयाल, ठुमरी, कीर्तन और अन्यान्य लोकसगीत के ढंग से स्वाधीन रूप से जब गानो की रचना की है, तब वहॉं ध्रुपद के समान चार कलियॉं है एव ध्रुपद के अनुसरण से ही उसकी राग-रागिनी या 'सुर' ग्रथित है। इन सब गानो का उल्लेखयोग्य पक्ष है सचारी कलि का 'सुर'। मध्य एव द्रुत लय के खयाल के अनुसरण से रचित गान के ताल मे ऐसे कुछ गानो की रचना उन्होने की है जिनके सचारी अश का 'सुर' उनकी अपनी सृष्टि है। कव्वाली या त्रिताल, एकताल, दादरा, खेमटा और कहरवा तालो मे कई गान उन्होने इस प्रकार चार कलियो मे बनाए हैं। ध्रुपद-बाह्य इस प्रकार के तालो के गुरुदेव के गानो मे गम्भीर, करुण, वचल, उद्दीपक प्रभृति विविध हृदयावेग का परिचय स्पष्ट है। मूलत इस प्रकार ध्रुपद के आधार से ही गुरुदेव की सगीत-रचना की प्रतिभा विकसित हुई है। हिन्दी ध्रुपद के गान को उन्होने उसके बॅंधे नियम के बन्धन से इस प्रकार मुक्ति का मार्ग दिखा दिया है। गुरुदेव ने अपनी गान-रचना के लिए अपने अग्रजो के हिन्दी गान के अनुकरण के बगला गान से जिस पथ का निर्देश पाया था, उसे उसी पथ पर विविध ढंग से विकसित और अधिक वैचित्र्यपूर्ण व समृद्ध किस प्रकार किया, इसे कुछ गानो के उदाहरण देकर स्पष्ट करने का प्रयास करूँगा।

गुरुदेव ने ध्रुपद के हूबहू अनुसरण से चौताल में इन गानो की रचना की - "स्वामी तुमि एसो आज", "केमने फिरिया याओ ना देखि ताँहारे", "प्रभाते विमल आनन्दे" एव "तॉहारे आरति करे चन्द्र तपन"। इन सब गानो की चार कलियो को जिस प्रकार स्वरबद्ध किया गया है एव गानो की गति या लय जिस प्रकार श्लथ अर्थात् धीमी है, वह हूबहू हिन्दी ध्रुपद के चौताल के गान के समान है। गीतपद्धति भी उसी प्रकार है। इसी प्रकार बगला गान हिन्दी ध्रुपद के समान बोलतान और दुगुण-चौगुण छन्द मे गाए नहीं जाते। इन गानो मे 'सुर', शब्द और छन्द अगागी भाव से एकरूप जुडे हुए है। कोई भी किसी के अतिक्रमण की चेष्टा नही करता। इन गानो मे किसी प्रकार का 'सुरालकार' नहीं है, क्योकि इनमे

उनके प्रयोग का कोई सुयोग नही है। ये कुछ गान उपासना के लिए रचित हैं। इनके साथ मैं ऐसे दो उपासना-गानो का उल्लेख करता हूँ, जो सुनने मे ध्रुपद के समान है, किन्तु ध्रुपद के ताल मे रचित नहीं है। जैसे, "निशा अवसाने के दिल गोपने आनि" एव "प्रथम आलोर चरणध्वनि उठल बेजे येइ"। ये दो धीमी लय के छह मात्रा के दादरा ताल के गान है। किन्तु शब्दो के साथ मिलाकर 'सुर' योजना हूबहू चौताल की ध्रुपदीय रीति मे की गई है। इसकी गीत-पद्धति भी इसी प्रकार है। शब्द के साथ 'सुर' और लय के मिलन से ये दोनो गान एकात्म हो गए है। किसी प्रकार के 'सुरालकार' का प्रयोग कही भी नही किया गया है। १९वीं शताब्दी मे तीन मात्रिक छन्द के किसी प्रकार के ताल मे ध्रुपद गाना कभी सम्भव नहीं था। किन्तु सुना जाता है कि वर्तमान युग मे तीन मात्रा भाग के कुछ बारह मात्रा के विलम्बित एकताल मे एक नए प्रकार के ध्रुपद गाने का चलन शुरू हुआ है।

किसी भी प्रकृति का दादरा ताल का गान कुल दो कलियो के 'सुर' का होता है। दो कलियो—स्थायी और अन्तरा—के लिए 'सुर' (स्वर-सज्जा) की रचना होती है, बाद मे जितनी भी कलियाँ रहे उन्हे अन्तरे के 'सुर' मे ही गाया जाता है। उपरोक्त दो गानो का स्वर-सयोजन ध्रुपद के आदर्श से सचारी एव आभोग के स्वर-सयोजन के अनुरूप ही किया गया है। गुरुदेव ने ऐसे कुछ गानो की रचना की है जिनके ताल उनके द्वारा ही स्रष्ट नए ताल है, यथा—रूपकडा=३-२-३ भाग से कुल आठ मात्रा का ताल। इस ताल मे रचित गान हैं—"गभीर रजनी नामिल हृदये", "ऐ रे तरी दिल खुले", "जीवने यत पूजा हल ना सारा" एव "कत अजाना रे जानाइले तुमि"।

नवताल=३-२-२-२ भागो मे विभक्त कुल नौ मात्रा का ताल है, इस ताल के गान है - "निबिड घन आँधारे ज्वलिछे ध्रुवतारा" एव "प्रेमे प्राणे गाने गन्धे आलोके पुलके"।

एकादशी=३-२-२-४ भागो मे विभक्त कुल ग्यारह मात्रा का ताल है, इसका गान है "दुयारे दाओ मोरे राखिया"। "जननी, तोमार करुण चरणखानि" गान कुल अठारह मात्रा के नवपचताल में रचित है। इस ताल को गुरुदेव-स्रष्ट नवीन ताल नही भी कहा जा सकता है, फिर भी उच्चाग हिन्दी गान में इसका प्रयोग अप्रचलित है। हिन्दी गान मे इस ताल के प्रयोग का अब तक कोई प्रमाण नही मिला है। हिन्दी गान मे अप्रचलित और भी कुछ तालो में गुरुदेव ने कुछ गानों की रचना की है, जैसे=३-२ भागो मे विभक्त कुल पॉच मात्राओ के झम्पक ताल का गान और ४-२ मात्रा का गान। नवीन और अप्रचलित तालो मे रचित गुरुदेव के गानो की सख्या कम नहीं है। इस प्रकार के सभी गान चार कलियों मे विभक्त है। इनकी 'सुर' योजना (राग-रागिनी में बिठाना), गीतपद्धति, ताल की गति या लय, एव इसके 'सुर' और शब्द के मिलन के प्रति ध्यान देने पर पता चलेगा कि ये गान विभिन्न प्रकृति के ध्रुपद गान के आदर्श से ही रचित हैं। इन सब गानों का यह वैशिष्ट्य है कि इनके ताल मे ध्रुपद के तेवडा, आडाचौताल और शूलफॉक्ता ताल के समान केवल सम-प्रस्वन या आघात दिखाया गया है। प्रत्येक भाग के मुँह पर (प्रथम मात्रा पर) आघात है। चौताल, त्रिताल, एकताल या दादरा आदि के समान खाली का कोई स्थान गुरुदेव ने नहीं रखा है।

धीमा तेताला के हिन्दी गान को प्राचीन युग मे ध्रुपद गान की श्रेणी मे स्थान दिया जाता था, इसका उल्लेख मैंने पहले किया है। गुरुदेव ने भी इसी प्रकार धीमा तेताला मे कुछ गानों की रचना की थी, "बेधेछ प्रेमेर पाशे ओहे प्रेममय" गान इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। यह कुल चार कलियो का गान हैं। इसे हूबहू चौताल के ध्रुपद गान के आदर्श से गाया जाता है। मध्य लय या द्रुत लय के त्रिताल के छन्द मे जब उन्होंने "राजपुरीते बाजाय बाँशि" और "ओइ पोहाइल तिमिरराति" की रचना की, तब देखा गया कि उनकी चार कलियों का गठन ध्रुपद के समान है, किन्तु उनका भाव और रस पूर्णतया भिन्न है।

ध्रुपद के 'शूलफॉक्ता ताल', 'झपताल' और 'तेवडा' ताल को द्रुत लय के ताल कहा गया है। गुरुदेव द्वारा रचित शूलफॉक्ता ताल मे जो दो गान मिले है, वे द्रुत लय के है, जैसे - "प्रचण्ड गर्जने आसिल एक दुर्दिन" एव "आनन्द तुमि स्वामी मगल तुमि"। ये दोनो प्रबल आवेग के गान हैं। किन्तु मध्य लय मे शान्त प्रकृति के कुछ गानो की रचना भी उन्होंने इस ताल में की है। झपताल और तेवडा ताल की द्रुत लय के काफी कुछ चार कलियुक्त गान होते हुए भी मध्य लय के गान भी काफी हैं। इन कुछ तालो मे ध्रुपद के चौताल या आडाचौताल के समान श्लथ लय का एक गान भी नहीं मिलता। विष्णुपुर के गुणी ध्रुपदियों से मध्य लय के 'शूलफॉक्ता', 'झपताल' और 'तेवडा ताल' के गान सुनकर गुरुदेव मध्य लय में इस प्रकार के गानों की रचना के लिए प्रोत्साहित हुए थे।

कीर्तन, बाउल, सारिगान और हिन्दी ठुमरी गान प्रचलित नियम के अनुसार दो कलियो के गान हैं। शेष कलियों में अन्तरे का 'सुर' (स्वर-सज्जा) ही प्रयुक्त होता है। गुरुदेव ने जब इन गानों के 'सुर' (रागिनी, धुन) और शब्द की सहायता से अपनी इच्छानुसार गानों की रचना की तब उन्होंने ध्रुपद के समान उन्हें भी चार कलियों के 'सुर' में सजाया है। इनमें मध्य लय के गान है, किन्तु द्रुत लय के गान ही अधिक हैं। इन सब गानो मे भी 'सुर' का विशेष अलंकृत रूप नाही है। शब्द, स्वर और छन्द के स्वच्छन्द मिलन से गान भावरस से समुज्ज्वल है। नमूने के तौर पर प्रत्येक ढग के एक-एक गान का उल्लेख करता हूँ .

कीर्तन का 'सुर' - "ओइ आसनतलेर माटिर' परे"।
बाउल का 'सुर' — "ओरे आगुन आमार भाइ आमि तोमारि जय गाइ"।
सारिगान का 'सुर' — "आजा धानेर क्षेते रौद्रछायाय लुकोचुरि खेला"।
हिन्दी ठुमरी गान का 'सुर' — "तुमि किछु दिये जाओ"।

१३९१ बंगाब्द (ई १९८४)।